'वेदान्त दर्शन के प्रमुख सम्प्रदायों में ज्ञान की अवधारणा : एक समीक्षात्मक अध्ययन'

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी०फिल० उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध

पर्यवेक्षक

डा0 राजलक्ष्मी वर्मा

प्रोफेसर

संस्कृत विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

शोधार्थी

पूनम श्रीवास्तव

संस्कृत विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

संस्कृत विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

2003

आभार

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध "वेदान्त दर्शन के प्रमुख सम्प्रदायो में ज्ञान की अवधारणा : एक समीक्षात्मक अध्ययन" वेदान्त दर्शन के प्रमुख छह सम्प्रदायो के आचार्यो यथा शकराचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य एव चैतन्य महाप्रभु तथा उनके प्रतिनिधि आचार्यो, अनुयायियो के मतानुसार ज्ञान के स्वरूप एव साधनो के विश्लेषणात्मक अध्ययन का यथामति प्रयास है।

इस शोध को प्रबन्ध रूप मे प्रस्तुत करने की मेरी अभिरूचि का मुख्य कारण 'दर्शनशास्त्र' के प्रति रूचि एव इस विषय की विलक्षणता है।

मै सर्वप्रथम परमपिता परमेश्वर को नमन करती हूँ जिनकी अनुकम्पा से यह कार्य पूर्ण करने मे सक्षम हुई।

अपने अनुसधान कार्य के सम्बन्ध मे मै सर्वप्रथम इलाहाबाद विश्वविद्यालय की अत्यन्त आभारी हूँ, जिसने मुझे यह शोध कार्य करने की अनुमति प्रदान की। मै अपनी गुरू एव निर्देशिका पूज्यनीया डा० राजलक्ष्मी वर्मा, प्रोफेसर सस्कृत विभाग के प्रति हृदय से आभारी हूँ जिन्होने अपना अमूल्य समय एव स्नेहमयी प्रोत्साहन दिया। यद्यपि उनके प्रति शब्दों में आभार प्रकट करना उनके महत्त्व को कम करना होगा, तथापि उनका विद्वतापूर्ण मार्गदर्शन मेरे कार्यो को प्रतिक्षण नियन्त्रित करता रहा। उनके बहुमूल्य निर्देशन के बिना विषय की प्रबन्ध रूप मे प्रस्तुति एव त्रुटियो का परिष्कार सभव न था।

मै अपने सस्कृत विभाग की विभागाध्यक्षा डा० मृदुला तिवारी जी एव समस्त गुरूजनो के प्रति कृतज्ञ हूँ, जिनके आशीर्वचनों से सतत् लाभान्वित होती रही। साथ ही विभाग के कार्यालय एव पुस्तकालय के कर्मचारी गणो का भी अभार प्रकट करती हूँ।

आभार ज्ञापन के इस क्रम मे 'निम्बार्काचार्यमठ,' महाजनी टोला, इलाहाबाद के मठाधीश 'श्री विष्णुकान्त गोस्वामी जी महाराज' एवं 'श्री रूप गौडीय मठ' प्रयागधाम, के मठाधीश 'श्री भक्तिजीवनहरिजन महाराज जी' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिन्होने शोध सम्बन्धी पर्याप्त सामग्री मुझे उपलब्ध कराई।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के अधिकारियो (विशेष रूप से श्री रामनरेश कुशवाहा जी) तथा 'डा० गगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ' इलाहाबाद के प्राचार्य 'डा० गोपाराजू रामा' सहित पुस्तकालय के

अन्य अधिकारियो एवं 'चौ० महादेव प्रसाद महाविद्यालय' के पुस्तकालय कर्मियो का धन्यवाद करती हूँ, जिनके सहयोग से पुस्तकालय सम्बन्धी समस्त सुविधाएँ मुझे उपलब्ध हो सकी।

मै अपने परिवार जन, अपने प्रिय माता–पिता, बहनें शालिनी एव निधि, विवाहोपरान्त अपने पूज्यनीय श्वसुर एवं सास जी, पति, एवं अत्यन्त प्रिय पुत्रियो सोनाक्षी–शिवाक्षी की भी हृदय से अभारी हूँ, जिनके सहृदय सहयोग एव प्रोत्साहन ने मुझे उद्विग्नता एवं हताशा के क्षणो मे सबल प्रदान किया। मैं अपने पति श्री सत्यशील श्रीवास्तव एव देवर श्री दिवाकर श्रीवास्तव का सहृदय धन्यवाद करती हूँ, जिनके अकथनीय सहयोग ने इस शोध प्रबन्ध को यह स्वरूप प्रदान किया।

धन्यवाद के इस क्रम में श्री लक्ष्य का नामोल्लेख आवश्यक है, जिन्होने बहुत ही अल्पावधि में इसके टंकण कार्य को पूर्ण किया। इसके अतिरिक्त उन सभी की सहृदय आभारी हूँ जिन्होने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से इस प्रबन्ध कार्य को पूर्ण करने मे मुझे सहयोग प्रदान किया।

समस्त प्रयत्नो के उपरान्त भी इस कृति में कुछ त्रुटियॉ संभव हैं जिसके लिए मै स्वयं उत्तरदायी हूँ , अतएव क्षमा प्रार्थिनी हूँ। साथ ही यह अपेक्षा करती हूँ कि सुधी पाठकगण त्रुटियों को सुधारने हेतु अपने अमूलय सुझाव देगे जिससे भविष्य में मै इसके संशोधन मे समर्थ हो सकू।

सधन्यवाद

पूनम श्रीवास्तव

संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
दिनांकः 25-07-03

पूनम श्रीवास्तव
(शोधकर्ता)

विषय सूची

प्राक्कथन

प्राचीन एव अर्वाचीन समस्त दार्शनिको का इस विषय मे मतैक्य है कि मानव मात्र का चरम लक्ष्य आत्म साक्षात्कार है, जो "ज्ञान" के अभाव मे संभव नही है। चूँकि भारतीय दार्शनिक विचार धारा परब्रह्म की प्राप्ति को ही परम मोक्ष मानती है अतएव मोक्ष का स्वरूप वर्णन एव उसकी साधन–पद्धति ही भारतीय दर्शन का मुख्य एव प्रिय विषय रहा है। ज्ञान–मीमासा तत्व–मीमासा की ही सहचरी है, अपितु एक अर्थ मे ज्ञान–मीमासा तत्व–मीमासा का सार तत्त्व ही है। वास्तव मे ज्ञान की अवधारणा ही भारतीय दर्शन शास्त्र के अन्वेषण का केन्द्र बिन्दु है। भारतीय दर्शन शास्त्र, विशेषत वेदान्त दर्शन मे युक्ति एव तर्क को अर्न्तदृष्टि के अन्तर्गत ही स्थान दिया गया है उसका पृथक् रूप से विवेचन नही किया गया है। वेदान्त दार्शनिको की ज्ञान मीमासा का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है।

प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय के लिए 'ज्ञान' की समस्या कुछ मूलभूत शकाओ के साथ उपस्थित होती है, जिसका समाधान करने हेतु प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय मे ज्ञान के स्वरूप, का विवेचन करने के साथ ही, ज्ञान के वर्गीकरण अथवा विभेद, अज्ञान के स्वरूप तथा ज्ञान से इसकी विलक्षणता, भ्रम सिद्धान्त (ख्यातिवाद), ज्ञान के साधन स्वरूप प्रमुख प्रमाणो एव ज्ञान प्रकिया का विवेचन किया जाता है।

वेदान्त दर्शन के प्रमुख सम्प्रदायो मे 'ज्ञान' का एक स्थान पर विधिवत् विवेचन प्राप्त नहीं होता है। यद्यपि शकराचार्य, रामानुजाचार्य प्रभृति विद्वानो ने ज्ञान–मीमासा पर पर्याप्त विचार किया है, तथापि अन्य प्रमुख वैष्णवाचार्य (वेदान्ताचार्य) अधिकाशत· इस विषय मे मौन ही रहे है। उनके अनुयायियो ने यत्र–तत्र ज्ञान के साधनो तथा ख्यातिवाद आदि का विवेचन करने का प्रयास किया है। किन्तु विषय की नवीनता को देखते हुए वेदान्त

दर्शन के छ प्रमुख सम्प्रदायो (केवलाद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, एव अचिन्त्यभेदाभेदवाद) के प्रतिष्ठापक आचार्यो एव परवर्ती अनुयायियो द्वारा प्रस्तुत ज्ञान–मीमासा के प्रश्नो का एक साथ समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुति का प्रयास यह शोध प्रबन्ध है।

यद्यपि वेदान्त सम्प्रदायों विशेषकर वैष्णव सम्प्रदायो के भक्ति परक दार्शनिक आचार्यों ने स्वय ज्ञान–मीमांसा के प्रश्नों का समाधान स्पष्ट रूप से नही किया है, तथापि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध किसी सम्प्रदाय विशेष के एक ही आचार्य के सिद्धान्तो का विवेचन न करते हुए उनके अनुयायियो तथा विभिन्न आचार्यो की दार्शनिक मीमासा का प्रस्तुतीकरण है।

यह सम्पूर्ण शोध प्रबन्ध 'प्रस्तावना' एव 'उपसहार' सहित आठ अध्यायो मे विभक्त किया गया है।

प्रथम अध्याय "प्रस्तावना" मे 'दर्शन' की उत्पत्ति एवं विकास के साथ वेदान्त के तीन प्रस्थानों उपनिषद्, श्री मद्भगवत् गीता, एव 'ब्रह्मसूत्र' के प्रतिपाद्य विषयो का वर्णन करते हुए प्रमुख वेदान्त सम्प्रदायो –केवलाद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, द्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, तथा अचिन्त्यभेदाभेदवाद के प्रमुख तात्विक सिद्धान्तो तथा प्रतिनिधि आचार्यों के जीवनवृत एव कृतित्त्व का सक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया है।

द्वितीय अध्याय "केवलाद्वैतवाद" है। यह वाद प्रमुख रूप मे शकराचार्य वेदान्त का मत कहा जाता है। इस अध्याय मे सर्वप्रथम पूर्वाचार्यों यथा गौडपाद, भर्तृहरि, भर्तृप्रपंच के ज्ञान मीमांसा परक सिद्धान्तो का वर्णन करते हुए आचार्य शंकर के प्रमुख सिद्धान्तो के परिपेक्ष्य में उनकी ज्ञान–मीमासा का विवेचन है। अद्वैत वेदान्त मे तात्त्विक दृष्टि से ज्ञान परम तत्व का स्वरूप है, पर व्यावहारिक दृष्टि से हम ज्ञान को एक प्रकिया के रूप मे ले सकते है, जिसे जीव सम्पन्न करता है। यह ज्ञान–प्रकिया न केवल अन्त करण की वृत्ति से तात्पर्य रखती है, वरन् साक्षी से प्रेरित वृत्ति से भी इसका तात्पर्य है। इस अध्याय मे शंकराचार्य के 'अध्यास भाष्य' का भी यथास्थान विवेचन

है। जिसमे आचार्य अध्यास एव अविद्या के विश्लेषण द्वारा सत्य के स्वरूप पर पहुचते है। आचार्य शकर भ्रम सिद्धान्त मे 'अनिर्वचनीयख्यातिवाद" का मण्डन करते है। ज्ञान के प्रमाण रूप मे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि–ये छ प्रमाण स्वीकार किये गए है। ज्ञान के याथार्थ्य तथा उसके द्वारा प्रमाण के सत्यत्व के निश्चय को 'प्रामाण्य' माना गया है। किन्तु अन्ततः अद्वैत वेदान्तानुयायी अपरोक्षानुभूति को ही ब्रह्म के साक्षात्कार का परम साधन स्वीकार करते है, जिसे 'तत्त्वज्ञान' भी कहा गया है।

तृतीय अध्याय मे "विशिष्टाद्वैतवाद" का विवेचन है। विशिष्टाद्वैतवाद प्रमुख रूप से आचार्य रामानुज के सिद्धान्तो की सज्ञा है। अध्याय के आरम्भ मे रामानुजाचार्य के सिद्धान्तो पर प्रभाव डालने वाले अळवार–सन्तो की शिक्षाओ तथा यामुनाचार्य की ज्ञान मीमासा के परिपेक्ष्य मे रामानुजाचार्य अभिमत ज्ञान के स्वरूप, 'सत्ख्यातिवाद' तथा आचार्य द्वारा मान्य तीन प्रमुख प्रमाणो–प्रत्यक्ष, अनुमान एव शब्द का उल्लेख है। तत्पश्चात् रामानुज सम्प्रदाय मे हुए दो विभागो तेगलाई मत तथा वडगलाई मत के प्रमुखो लोकाचार्य तथा वेकटनाथ के ज्ञान सम्बन्धी मतो का सक्षिप्त विवेचन किया है।

चतुर्थ अध्याय मे 'द्वैताद्वैतवाद' का विवेचन है। 'द्वैताद्वैतवाद' वेदान्त सम्मत अति प्राचीन मत है। इस सम्प्रदाय के सस्थापक आचार्य श्री निम्बार्क है। इनका प्रतिपादित सिद्धान्त 'द्वैताद्वैतवाद' अथवा 'भेदाभेदवाद' ईश्वरवादी मत है। रामानुजाचार्य की भॉति ये भी तीन ही तत्व मानते है– ईश्वर , चित् एव अचित् । इसमें चित् एवं अचित् सत् होते हुए भी ईश्वराधीन हैं। इस मत में राधाकृष्ण की युगल प्रेमोपासना ही मोक्ष का परम साधन बनती है। 'अज्ञान' अचेतन, अकर्त्ता होने से भ्रमोत्पत्ति मे सहायक नही बन सकता। द्वैताद्वैतवादी सत् ज्ञान को आत्मा का धर्म मानते है एव ज्ञान की उत्पत्ति मे वृत्ति के माध्यम की आवश्यकता नही स्वीकार करते। इन्द्रिय व्यापार के

माध्यम से ज्ञाता आत्मा के ज्ञान विषयक कार्य होते है। ये भी तीन ही प्रमाण स्वीकार करते है–प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द।

पचम अध्याय– "द्वैतवाद" है। द्वैतवाद वैष्णव मत का तीसरा प्रमुख सम्प्रदाय है। इसके सस्थापक 'मध्वाचार्य' माने गए है। इन्होने अद्वैतमत का तीव्रतम खण्डन किया है। इनके मत मे भेद स्वाभाविक एव नित्य है तथा पाच प्रकार के है, जिनका वर्णन उनके सिद्धान्त मे किया गया है। इस पचविध भेद का ज्ञान 'मुक्ति' मे सहायक बनता है। माध्वमत मे दस पदार्थ स्वीकृत किये गए है। सत्यसकल्प ब्रह्म द्वारा निर्मित जगत् भी सत् ही है। परमानन्द की प्राप्ति ही मुक्ति है, तथा 'अहेतुकी भक्ति' ही मुक्ति का एकमात्र साधन। यथार्थ जगत् की ज्ञान–प्रकिया में साधन स्वरूप आचार्य मध्व भी तीन प्रमाण ही मानते है– प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द। उनके दर्शन को विस्तार उनके प्रमुख अनुयायी जयतीर्थ तथा व्यासतीर्थ देते हैं।

षष्ठ अध्याय "शुद्धाद्वैतवाद" है। इसके प्रतिनिधि आचार्य वल्लभ माने जाते है। भक्ति के मार्ग के रूप मे इन्होने 'पुष्टिमार्ग' का प्रतिपादन किया है। माया की मलिनता से रहित शुद्ध ब्रह्म को ही जगत् का उपादान कारण मानने से इनके मत का नाम 'शुद्धाद्वैत' पडा। वल्लभाचार्य अविकृत परिणामवाद को मानते है। इन्होने 'कृष्ण भक्ति' एव तत्व–मीमांसा पर ही अधिक बल दिया। परन्तु इनके अनुयायियो यथा पुरूषोत्तम तथा विट्ठलनाथ ने 'ज्ञान–मीमासा का किचित विवेचन किया है। श्री पुरूषोत्तम 'ज्ञान के अनेक प्रकार मानते है। प्रमाणो से सम्बन्धित ज्ञान 'सात्विक ज्ञान' है तथा 'नित्य ज्ञान' ईश्वर के स्वरूप का विवेचन है।

सप्तम् अध्याय "अचिन्तयभेदाभेदवाद" में गौडीय सम्प्रदाय के दर्शन का विवेचन है। इस वाद के प्रतिष्ठापक आचार्य श्री चैतन्य महाप्रभु माने गए है। इनका दर्शन यद्यपि स्पष्ट नही है क्योकि श्री चैतन्य ने किसी ग्रन्थ अथवा कृति का प्रणयन नही किया। तथापि इनकी शिक्षाओ एव उपदेशों के आधार पर उनके अनुयायियो यथा श्री रूप गोस्वामी, श्री सनातन, श्री जीव

गोस्वामी, श्री बलदेव विद्याभूषण आदि ने तत्त्व–मीमासा एव ज्ञान–मीमासा के आधार पर 'अचिन्तयभेदाभेदवाद' की प्रतिष्ठा की।

अष्टम् अध्याय 'उपसहार' है। इसमे समीक्षात्मक रूप मे समस्त वेदान्त दर्शन की ज्ञान–मीमांसा के अध्ययन का प्रयास किया है। ज्ञान की प्राप्ति के लिए बताए गए वेदान्त दर्शन के छ· प्रमाण–प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि मे से 'केवलाद्वैतवाद' को छोडकर अन्य समस्त वेदान्त सम्प्रदाय अधिकाश रूप मे तीन प्रमाण–प्रत्यक्ष, अनुमान एव शब्द ही स्वीकार करते है। वस्तुत भारतीय दार्शनिक, विशेषतः वेदान्त दार्शनिक 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ मे करते है, जो बह्म ज्ञान कहलाता है। यह सभी भेदो से रहित परम तत्व है, जिसकी प्राप्ति में ये प्रमाण सहायक न होकर परम सत्ता के प्रति ज्ञान को सहायक बनाती भक्ति ही परम साधन कही गयी है।

प्रथम अध्याय

प्रस्तावना

दर्शन की उत्पत्ति एवं विकास :
वेद, प्रस्थानत्रयी
उपनिषद
ब्रह्मसूत्र
गीता
शंकर पूर्व वेदान्त : गौडपादाचार्य
केवलाद्वैतवाद :
शंकर का जीवनवृत्त एवं कृतित्त्व
केवलाद्वैत सिद्धान्त :
ब्रह्म, ईश्वर तथा साक्षी
जीव की अवधारणा
माया की अवधारणा
मोक्ष का स्वरुप
मोक्ष के साधन
शंकराचार्योत्तर अद्वैत वेदान्त
वैष्णव वेदान्त दर्शन
नाथमुनि
यामुनाचार्य
प्रमुख सिद्धान्त : ईश्वर, जीव, जगत
यादव प्रकाश
विशिष्टाद्वैतवाद :
रामानुज का जीवनवृत्त एवं कृतित्त्व
प्रमुख सिद्धान्त : विशिष्टाद्वैत का तात्पर्य
ईश्वर अथवा परब्रह्म
माया की अवधारणा का खण्डन
जीव विचार
जीव का बंध एवं मोक्ष
मोक्ष के साधनः
कर्म योग, ज्ञान योग, भक्ति योग प्रपत्तिमार्ग
शाखाएं : तिंगलै एवं वड्गलै

आचार्य बादरायण
भास्कराचार्य

द्वैताद्वैतवाद :

निम्बार्काचार्य का जीवनवृत एवं कृतित्त्व
शिष्य परम्परा
प्रमुख सिद्धान्त : द्वैताद्वैत का तात्पर्य
ब्रह्म, पदार्थ, जीव, जगत
ब्रह्म– जीव सम्बन्ध
बंध का कारण एवं मोक्ष
मोक्ष के साधन : भक्तिमार्ग

द्वैतवाद :

माध्वाचार्य का जीवनवृत एवं कृतित्त्व
प्रमुख सिद्धान्त : द्वैतवाद
पंचविध भेद
ईश्वर अथवा ब्रह्म
जीव , जीव –ईश्वर में सम्बन्ध
जीव का बंध, जगत्
प्रमाण त्रय
मोक्ष का स्वरूप एवं साधन

शुद्धद्वैतवाद :

वल्लभाचार्य का जीवन वृत एवं कृतित्त्व
प्रमुखसिद्धान्त शुद्धाद्वैतवाद
ब्रह्म का स्वरूप,
जीव का स्वरूप, जगत्
मोक्ष का स्वरूप,
भक्ति, एवं पुष्टि मार्ग

अचिन्त्यभेदाभेदवाद (गौडीयसम्प्रदाय)

महाप्रभु चैतन्य का जीवन वृत्त एवं कृतित्त्व
प्रमुख दार्शनिक विचार

दर्शन की उत्पत्ति एवं विकास

ब्रह्माण्ड की इस अद्‌भुत सृष्टि का सर्वाधिक विचारशील प्राणी मनुष्य सदा–सर्वदा से अपने दृष्टि पक्ष मे आने वाले प्रत्येक पदार्थ के सन्दर्भ मे विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा रखता रहा है। किसी पदार्थ के स्वरूप, परिणाम, सम्बन्धित प्रयोग एवं नव निर्माण वैज्ञानिक अनुसंधान को जन्म देते हैं तथा अध्यात्मिक चेतन तत्त्व को जानने की निरन्तर उत्सुकता 'दर्शन' को जन्म देती है। 'दर्शन' का प्रयास इस जगत् के नियन्ता, मानव शरीर के अदृश्य सचालक के विषय मे जानने का रहता है। 'दर्शन' समग्र संसार एवं उसके समस्त अनुभवों का अनुशीलन कर इन प्रश्नो का युक्तियुक्त उत्तर देने का प्रयास करता है। दर्शनशास्त्र का मानव जीवन से अनिवार्य सम्बन्ध है। तथ्य ज्ञान के पश्चात् भी साधना द्वारा आत्मा का उत्थान ही दर्शन का लक्ष्य है। 'दर्शन' शब्द दर्शनात्मक दश् धातु से बना है। इसका तात्पर्य है–देखना अथवा अवलोकन करना।[1] वस्तु तत्त्व का यथार्थ निर्णय करने वाला विचार दर्शन कहलाता है। आत्मा, परमात्मा, सृष्टि प्रक्रिया, माया आदि का ज्ञान दर्शन द्वारा ही सभव है। अतएव दर्शन का मुख्य कार्य सत्य के स्वरूप का अनावरण होता है। दर्शनशास्त्र का प्रयोजन आत्मा अथवा परब्रह्म की उपलब्धि है तथा इसका एकमात्र फल अमृतत्व की प्राप्ति है।[2]

---

[1] दृश्यते वस्तु यथात्य अनेन इति दर्शनम्।

[2] अमृतत्त्व की प्राप्ति – विद्ययामृतमश्नुते – (ईश0उप0मन्त्र।।

इस अमृतमार्ग का दिग्दर्शन कराने के कारण ही स्मृति मे इसे 'सम्य दर्शन' कहा गया है। महात्मा मनु का कथन है – "सम्यक् दर्शन प्राप्त हो पर कर्म मनुष्य को बन्धन में नही डालते, जिनको यह सम्यक् दृष्टि नहीं ं वे ही संसार के जाल में फस जाते है।"[1]

भारतीय दर्शन शास्त्र की प्रमुख विशेषता आध्यात्मिक ज्ञान र्क प्रधानता एव व्यावहारिकता है। भारतीय दर्शन का आरम्भ ही आध्यात्मिक असन्तोष से होता है। जीवन के दु खों का अन्त ढूंढना एवं तात्त्विक विचारों का अनुशीलन ही दर्शन का आरम्भ है। भारतीय दर्शन मानता है कि मनुष्य के अन्तर एवं बाह्य जगत् में एक गहरा सम्बन्ध है, तथा इसका नियामक कोई एक अज्ञात, सर्वज्ञ परमसत्ता हो सकता है। व्यक्त जगत् एवं अव्यक्त जगत् के सम्बन्धों का अभिज्ञान ही भारतीय दर्शन की आधार शिला है। इस अभिज्ञान के लिए अपेक्षित है तत्त्व का साक्षात्कार करने मे सक्षम वह अन्तर्भेदिनी दृष्टि, जो अनृत एव अवास्तविकताओ के आवरण में छिपे सत्य को अनावृत्त करे। इस दृष्टि, की प्राप्ति मे सहायक बनते हैं श्रवण, मनन, निदिध्यासन।[2] दर्शन की विवेचना के अनुरूप होकर ही व्यक्त एवं अव्यक्त (असीम) सत्य का भेद जाना जा सकता है। किन्तु यह केवल आरम्भ मात्र है, अन्त नही। इसका लक्ष्य तो ऐसी स्थिति से अवगत कराना है जहाँ न

---

[1] सम्यक्दर्शन सम्पन्न कर्मभिर्न निबध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु ससार प्रतिपद्यते।। – मनुस्मृति 6/74

[2] श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य ?

दु:ख है, न मृत्यु न भय, न द्वैत, मात्र सच्चिदानन्द परब्रह्म है। यही मोक्ष है। भारतीय दर्शन 'मोक्ष शास्त्र' भी कहलाता है।

वेद

भारतीय दर्शन शास्त्र विविधताओ से परिपूर्ण है। इसका विकास भी इसी की भॉति रोचक है। यद्यपि मानव में दार्शनिक चेतना का प्रारम्भ सभ्यता के विकास के साथ ही हो गया था, तथापि मानव ज्ञान का प्रथम क्रमबद्ध (लिपिबद्ध) निदर्शन हमे 'वेदों' में प्राप्त होता है। 'वेद' भारत की ही नहीं अपितु विश्व–साहित्य की प्राचीनतम रचनाऍ हैं। इसमें मानव की प्राचीन सभ्यता के धार्मिक एव दार्शनिक विचार दृष्टिगत होते है। ऋग्वैदिक आर्यो का धार्मिक जीवन प्राकृतिक शक्ति की उपासना पर आधारित था। मनुष्य के कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य का निर्णय वेदो द्वारा ही होता है, अतएव वेद परम प्रमाण माने गए है। भगवान श्री कृष्ण स्वय कहते है 'कर्त्तव्य एव अकर्त्तव्य की व्यवस्था मे शास्त्र ही प्रमाण है।' वेदो को देववाणी माना गया है। भारतीय परम्परा वेदो को 'अपौरूषेय' मानती है, क्योंकि इसका ज्ञान सर्वप्रथम मन्त्र द्रष्टा ऋषियों को हुआ। फिर भी आधुनिक दर्शनशास्त्र में इसका रचनाकाल 1500 से 750 ई० पूर्व माना जाता है।

वेदों मे वैदिक ऋषियों की जगत् के निजी स्वरूप को जानने व समझाने की आकांक्षा की झलक मिलती है। इसमे मन्त्रद्रष्टा ऋषियों द्वारा प्राकृतिक शक्तियों का मानवीकरण करके 'देवता' स्थान देकर मन्त्रों से स्तुति

द्वारा आरोग्य, आयुसवर्धन बल, सन्तान, धन–धान्यादि, पुत्र आदि सुखो की याचना की गयी है। यद्यपि वैदिक सहिताएँ देवताओ के प्रति की गयी स्तुतियों के सकलन मात्र हैं, तथापि इनमें ज्ञान सम्बन्धी विषयो का भी समावेश है। इन स्तुतियों मे परम सत्ता, अभय ज्योति या परमेश्वर के देवतारूप मे प्रकट हुए विभिन्न स्वरूपों को भी वर्णन प्राप्त होता है।

वैदिक ऋषियों द्वारा अपने आराध्य देव से जगत् के विषय में अनेक शंकाए करते हुए ही दार्शनिक विचारों का प्रारम्भ होता है। वास्तव में वेदो के दर्शन का पूर्ण विकास उपनिषदों मे आकर ही हो पाता है।

डा० राधाकृष्णन 'ऋग्वेद के सूक्तो' को ही दार्शनिक प्रवृत्ति का परिचायक कहते हैं। उनके अनुसार 'ऋग्वेद के सूक्त इस अर्थ में दार्शनिक है कि वे संसार के रहस्य की व्याख्या किसी अतिमानवीय अन्तर्दृष्टि अथवा असाधारण दैवी प्रेरणा द्वारा नही, बल्कि स्वतन्त्र तर्क द्वारा करने का प्रयत्न करते हैं।'[1] ज्ञान एवं सुख की प्राप्ति ही वेदों का परम लक्ष्य है। वैदिक ऋषिगण परमसत्य के ज्ञान के भी इच्छुक हैं। वे इसे ही परम ध्येय मानते है तथा इसकी प्राप्ति जीवात्मा एव परमात्मा के एकीकरण से ही सम्भव है। कालान्तर में वेदों के 'बहुदेववाद' का रूपान्तर 'एकदेववाद' में हो गया।

प्रारम्भिक वैदिक चिन्तन का स्वरूप सरल था। उसमे मोक्ष, वैराग्य जैसी गूढ रहस्यमय बातो के लिए अवकाश न था। उनके कर्मकाण्ड एवं

---

[1] भारतीय दर्शन – भाग 1 , डा0 राधाकृष्णन

प्रयोजन दोनो ही सहज एव सरल थे। यज्ञादि का प्रयोजन मात्र भौतिक कामनाओ की पूर्ति था। कालान्तर में विभिन्न देवताओं मे विश्वास, जो प्राचीन वैदिक दर्शन का एक विशिष्ट लक्षण था, धीरे–धीरे अपना आकर्षण खोता गया। सरल व्याख्या की इच्छा से प्रेरित आर्यो ने आदि परम कारण ही खोज करनी आरम्भ कर दी। वैदिक ऋषि उस परम सत्ता की खोज में प्रयत्नशील हो गए जो सर्वनियामक थी।

एकेश्वरवाद की प्रवृत्ति के साथ ही दर्शन का विस्तार एवं जटिलता बढ गयी। सरल पूजा–अर्चन विधि समाप्त होकर जटिल कर्मकाण्डों ने उसका स्थान लेना आरम्भ कर दिया। जिससे कुछ काल तक मानव जीवन में यान्त्रिकता आ गयी। पशु–बली इत्यादि से यज्ञ कर्म सामान्य जन जीवन की सामर्थ्य से बाहर हो गए। फलतः इनकी प्रतिक्रिया प्रारम्भ होने लगी। जिससे अन्तर्मुखी तत्त्व के विश्लेषण के रूप में 'उपनिषदो' का रूप लिया।

उपनिषद अथवा वेदान्त

उपनिषदों ने वेदो में यत्र–तत्र बिखरे दार्शनिक विचारो को सुस्पष्ट एव सहज स्वरूप प्रदान किया। ये वेदो के चरमोत्कर्ष माने गए है, इनमे वेदो का सार तत्त्व निहित है। वेदो के अन्तिम भाग (सार भाग) कहे जाने से इन्हें 'वेदान्त' की सज्ञा दी गयी है। इनमें सत्य के इतने स्वरूप हैं, ईश्वर ही इतनी परिभाषाएँ हैं कि परवर्ती सभी दार्शनिक चाहे वह आस्तिक हो, अथवा

नास्तिक, उन्हे अपने सिद्धान्तो के लिए अवकाश मिल जाता है।[1] वेदान्त दर्शन के लगभग सभी प्रमुख आचार्यो ने उपनिषदों पर भाषा एवं टीकाएँ लिखी है। इन्हे 'ज्ञान काण्ड' भी कहा गया है। यह वह विद्या है जिसके अनुशीलन से मानव भ्रम रहित होकर सत्य ज्ञान की प्राप्ति करता है।

परन्तु उपनिषदों मे कोई क्रमबद्ध दार्शनिक विचारधारा नहीं प्राप्त होती। सभी प्रकार के वचन चाहे वह अद्धैत परक हो, अथवा द्वैत परक, समान रूप से मिलते है। किन्तु ये सभी वेदान्त सम्प्रदायो के उद्‌गम स्रोत है।

मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार उपनिषदों की संख्या 108 मानी गयी हैं किन्तु इनमें महत्वपूर्ण एवं प्रमाणिक उपनिषद् ग्यारह हैं, जिन पर शंकराचार्य का भाष्य उपलब्ध हैं– ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, वृहदारण्यक, श्वेताश्वतर। इनमे छान्दोग्य एव वृहदारण्यकोपनिषद् सर्वाधिक प्राचीन माने जाते है। उपनिषद मे ज्ञान का प्राधान्य है, कर्म एव उपासना गौण हो गए है। ये दो प्रकार विद्याएँ स्वीकार करते है– परा विद्या एव अपराविद्या। परा विधा वह है जिससे अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति होती है।[2] 'ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरणादि वेदाग अपरा विद्या के अन्तर्गत माने गए है।

---

[1] आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन – डा राजलक्ष्मी वर्मा
[2] मुण्डक – 1/1/4,5

उपनिषदों में कर्म एव उपासना चित्रशुद्धि एवं चित्त एकाग्रता के लिए आवश्यक है, किन्तु ये ब्रह्म प्राप्ति के साधन नहीं बनते।

उपनिषदों में आत्मा के स्वरूप का विशद विवेचन मिलता है। इसमें आत्म चैतन्य के उत्तरोत्तर उत्कृष्ट चार स्तर निर्दिष्ट हैं–जागृत चैतन्य, स्वप्न चैतन्य, सुषुप्ति चैतन्य, एवं तुरीय अथवा शुद्ध चैतन्य। ब्रह्म ही तुरीय अथवा शुद्ध चैतन्य है। उपनिषदें ब्रह्म को जगत्कारण बताती हैं तथा ब्रह्म का आत्मा से तादात्म्य बताया गया है। दोनों सर्वथा एक ही हैं। 'तत्त्वमसि' अहं ब्रह्मस्मि' अयमात्मा ब्रह्म, सोऽहम् इत्यादि महावाक्यों द्वारा यही सिद्ध होता है।

किन्तु उपनिषदें ब्रह्म का दो रूपों में वर्णन करती हैं कहीं उसे सविशेष, सगुण कहा गया है तो कहीं निर्विशेष निर्गुण। सगुण ब्रह्म 'अपर ब्रह्म' कहलाता है एवं निर्गुण ब्रह्म 'पर ब्रह्म'। इस ब्रह्म के स्वरूप वर्णन के लिए दो प्रकार के लक्षण माने गए हैं– तटस्थ लक्षण एवं स्वरूप लक्षण। तटस्थ लक्षण आगन्तुक एवं परिवर्तनशील गुणों का वर्णन करता है तथा स्वरूप लक्षण तात्विक स्वरूप का प्रकाशन करता है। जगत्कारणता, समस्तकल्याणगुणसम्पन्नता, विश्वव्यापकता, संप्रभुता इत्यादि तटस्थ लक्षण है,[1] एव 'सत्य ज्ञानमनन्तं, ब्रह्म', 'विज्ञानमानन्दं' ब्रह्म इत्यादि स्वरूप लक्षण है। निर्गुण ब्रह्म के निर्वचन में निषेधात्मक पदों का प्रयोग होता है। अतीन्द्रिय,

---

[1] जन्माद्यस्य यतः – ब्रह्मसूत्र 1/1/2

निर्विकल्प, निरूपाधि एवं अनिर्वचनीय इत्यादि पद निर्गण निराकार ब्रह्म को अभिहित करते है। यह ब्रह्म किसी चित्तवृत्ति का विषय नही बन सकता। नेति–नेति की परिणति अन्त मे 'मौन' मे होती है।

आचार्य शंकर उपनिषदों मे विद्यमान 'माया' अथवा अविद्या की विचार धारा को अपने अद्वैत दर्शन में उपवृहण करते है। इसे कही–कही 'प्रकृति' भी कहा गया है। यथार्थ मे यह वस्तुओं की एवं बुद्धि की भी उत्पादक है। सृष्टि की सत्वता का अवरोध मात्र है। माया यथार्थ की प्रतिच्छाया मात्र है। उपनिषदों में विदेह मुक्ति के साथ जीवन्मुत्ति भी सुस्पष्ट रूप में प्रतिपालित है। मोक्ष साधन केवल ज्ञान है। आत्मा नित्यमुक्त है तथापि जीव स्वयं को बद्ध मानता है। अपरोक्षानुभूति द्वारा आत्म ज्ञान से अविद्या निवृत्ति के फलस्वरूप आत्म तत्व अपने शुद्ध चौतन्य एव अखण्ड आनन्द स्वरूप मे प्रकाशित होता है।

ब्रह्मसूत्र

उपनिषदो के सिद्धान्तो को आचार्य बादरायमण ने अपने वेदान्त सूत्रो में एक क्रमबद्ध और सहृत रूप में प्रस्तुत किया। समस्त उपनिषदों का, सूत्रो द्वारा ब्रह्म मे तात्पर्य से समन्वय होने के कारण इस ग्रन्थ को 'ब्रह्मसूत्र' कहा गया। ब्रह्मसूत्र के बारे मे ड्यूसन का मत है कि' यह उपनिषदो की शिक्षाओं का अनुसधान करता है, जो ईश्वर, जगत् तथा आत्मा के ससार चक्र में भ्रमण के विषय में तथा मोक्ष की अवस्थाओ के विषय में है। यह

प्रत्यक्ष में दिखाई पडने वाली सिद्धान्त सम्बन्धी असंगतियों का निराकरण करता है, उन्हें परस्पर क्रमबद्ध रूप मे जोडता है, और विशेष करके इसका उद्देश्य विरोधियो को आक्षेपो से बचाना है।[1] पांच सौ पचपन सूत्रो मे, जिनमे से प्रत्येक दो या तीन शब्दो से बने हैं, समग्र दर्शन का परिष्कार किया गया है।[2] यद्यपि सूत्र स्वय में विश्व अर्थ नही देते, तथापि उनकी व्याख्या भाष्यकार पर निर्भर करती है। उनकी व्याख्या कभी तो साकार ईश्वर वाद के रूप में की गयी है, यथा रामानुजाचार्यादि, तो कभी निरपेक्षवाद के रूप मे, यथा शंकराचार्य। वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों में, जिनमें प्रमुख आचार्य हैं– शंकर, भास्कर, यादवप्रकाश, रामानुज, केशव, नीलकंठ, मध्व, बलदेव, वल्लभ, विज्ञानभिक्षु इत्यादि, एक समान विचारधारा नहीं मिलती, इसलिए इसके अर्थ को ठीक–ठीक समझना कष्ट साध्य है। इनमे से अधिकांश दार्शनिक आचार्यो ने अपने अर्थो को स्पष्ट करने के लिए वाद–विवाद (तर्क) का सहारा लेते हुए इनके (ब्रह्मसूत्र) शब्दों के साथ खींचातनी भी की है।

ब्रह्मसूत्रकार बादरायण अपने ग्रन्थ में वेदान्त के अन्य अनेक शिक्षको का उल्लेख करते है जिनके विभिन्न मतो से वे सहमत रहे होगे। यथा आश्मरथ्य, औडुलोमि, काश्कृत्स्न, जैमिनी, बादरि इत्यादि। ब्रह्मसूत्र पर शकराचार्य के पूर्व भी अनेक टीकाकारो ने रचनाएँ की थी, जिनका केवल

---

[1] ड्यूसन भाग 5 , पृ0 21

[2] भारतीय दर्शन भाग 2 – डा0 राधाकृष्णन , पृ0 369

नामोल्लेख प्राप्त होता है, यथा द्रामिड, टक, भर्तृप्रपंच, भारूचि, कापर्दि, ब्रह्मानन्द, गुहदेव इत्यादि।

'ब्रह्मसूत्र' मे साख्य, वैशेषिक, जैन, एव बौद्ध सम्प्रदायों के मतो की ओर भी परोक्ष रूप मे संकेत किया गया है इसके अतिरिक्त पाचरात्र मत, गीता के मत भी प्राप्त होते है।

वेदान्त सूत्र चार अध्यायो मे विभक्त है। प्रथम अध्याय मे ब्रह्म का आधारभूत यथार्थता के रूप मे प्रतिपादन किया गया है तथा विभिन्न मतो से उसका समन्वय स्थापित करना ही इसका प्रयोजन है। प्रथम अध्याय में, ब्रह्म के स्वरूप एवं इस दृश्यमान जगत् तथा जीवात्मा के साथ उसके सम्बन्ध का वर्णन मिलता है। द्वितीय अध्याय मे उक्त विचार के ऊपर जो आपत्तियॉ उठायी गयी है उनका समाधान किया गया है तथा विरोधी सिद्धान्तो की समालोचना की गयी है। ईश्वर के ऊपर जगत् की निर्भरता का भी दिग्दर्शन प्राप्त होता है। इसके अन्तिम भाग में आत्मा के स्वरूप, इसके गुण, ईश्वर, शरीर तथा अपने कर्मो के साथ सम्बन्ध का मनोवैज्ञानिक वर्णन किया गया है।

तृतीय अध्याय मे ब्रह्म विद्या की प्राप्ति के साधनो तथा उपायों पर विचार किया गया है। इसमें पुनर्जन्म एवं साधारण मनोवैज्ञानिक तथा ईश्वर ज्ञान सम्बन्धी विषयों पर भी विवचेन प्राप्त होता है। चतुर्थ अध्याय में ब्रह्म विद्या के पुरस्कारों का वर्णन है। मृत्यु के पश्चात् आत्मा का निष्क्रमण तथा

देवयान एंव पितृयान मार्गो द्वारा संचरण, तथा उस मुक्ति के स्वरूप का भी वर्णन है, जहॉ से लौटकर जीव फिर संसार चक्र में नहीं फंसता।

प्रत्येक अध्याय के चार पाद है एवं प्रत्येक पाद में जो सूत्र है, उन्हे वर्गो में बाटा जाता है, जिन्हें अधिकरण कहते है।

बादरायण वेद को नित्य मानते हैं तथा शास्त्र प्रमाण की दृष्टि से उनका अत्यधिक महत्त्व स्वीकार करते हैं। वे स्वीकार करते है कि ज्ञान के दो ही स्रोत है–श्रुति एवं स्मृति। स्मृति ही प्रत्यक्ष एवं अनुमान के नाम से पुकारा जाता है। शंकराचार्य का मानना है कि स्मृति को ज्ञान के आधार (प्रामाण्य) की आवश्यकता होती है, जबकि श्रुति को नहीं, वह तो स्वतः प्रमाण है। श्रुति का तात्पर्य बादरायण के अनुसार है, उपनिषदें तथा 'स्मृति' से तात्पर्य है – गीता, महाभारत एवं मनुस्मृति। जिस प्रकार सांसारिक ज्ञान मे अनुमान का आधार प्रत्यक्ष ज्ञान है, उसी प्रकार स्मृति का आधार श्रुति है। इसके अतिरिक्त बादरायण अन्य किसी प्रमाण को नही मानते। ऐसा तर्क है जो वेदानुकूल न हो, बादरायण की दृष्टि में निरर्थक है। तर्क का प्रारम्भ विशिष्ट लक्षणो से होता है, इसलिए तर्क अर्न्तदृष्टि सम्बन्धी ज्ञान के अधीन है।

श्रीमद्भगवत् गीता

भगवान श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को महाभारत युद्ध के दौरान कुरूक्षेत्र में दिया गया उपदेश गीता है। महाभारत के भीष्म पर्व के अन्तर्गत यह आता है। इसे मानव धर्म का ग्रन्थ कहा गया है।

गीता का मुख्य दार्शनिक सिद्धान्त है कि जो असत् है, उसका भाव नहीं हो सकता, एव जो सत् है, उसका कभी अभाव नही हो सकता।[1] सत् वही है जो त्रिकालाबाधित हो, अर्थात भूत, वर्तमान एव भविष्य तीनों कालों मे सदा सर्वदा नित्य, एकरस एव अपरिवर्तनशील हो। इस लक्षण के अनुसार शुद्ध आत्मतत्त्व 'ब्रह्म' ही सत् है। इसके लिए गीता में नित्य, अविनाशी, अज, अव्यय, सर्वमत, अचल, सनातन, अव्यक्त, अचिन्तय, अविकार्य आदि पद प्रयुक्त हुए हैं। गीता ब्रह्म के सगुण एवं निर्गुण दोनों रूपों को मानती है। ये दोनो एक ही अभिन्न तत्त्व के स्वरूप है। ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। वह शुद्ध चैतन्य एवं अखण्ड आनन्द स्वरूप, अन्तर्यामी रूप मे समस्त प्रकृति एव प्राणियों मे वास करता है। विश्वात्मा होते हुए भी विश्वातीत है। गीता परमेश्वर की दो प्रकृतियो का वर्णन करती है। इनमे अपरा प्रकृति को क्षेत्र एवं क्षरपुरूष कहा गया है जो जड प्रकृति रूप है। पराप्रकृति में चेतन जीव आते हैं, जिसे अक्षर पुरूष भी

---

[1] नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत – गीता 2/16

कहा गया है। क्षर पुरूष एवं अक्षर पुरूष इन दोनों के नियन्ता पुरूषोत्तम हैं। गीता में निर्गुण ब्रह्म एवं सगुण ईश्वर का सुन्दर समन्वय हुआ है।

गीता मे ज्ञान, कर्म एव भक्ति का विलक्षण समन्वय प्राप्त होता है। ध्यानमार्ग साधना का मार्ग है जो ज्ञान, कर्म एव भक्ति तीनो मे उपादेय है। चित्त की एकाग्रता द्वारा वृत्तियो के समाधि मे विलीन होने पर निर्विकल्प ज्ञान का प्रकाशित होना ध्याय का लक्ष्य है।

गीता मे 'योग' पद का व्यापक अर्थ में प्रयोग हुआ है तथा इसमें ध्यान, ज्ञान, कर्म एवं भक्ति का समन्वय है। योग मे दुःख के आत्यन्तिक वियोग एव अखण्ड आनन्द से आत्यन्तिक सयोग होता है। योग निष्काम कर्म है। योग भक्ति द्वारा भगवत् तत्त्व का सम्यग् ज्ञान एवं भगवत् प्रवेश है।[1] योग स्थितप्रज्ञ की द्वान्द्वातीत ब्राह्मी स्थिति है।[2] ज्ञान–विज्ञानतृप्तात्मा है, समदृष्टि एंव सम्बुद्धि है। दुःखों के संयोग से सर्वथा सहित योग कहलाता है।[3]

गीता में योग का तात्पर्य वस्तुतः ज्ञान योग है। योगी का लक्ष्य आत्मानुभूति द्वारा आत्मसाक्षात्कार है, जो ज्ञान के बिना असम्भव है। कर्म की परिसमाप्ति ज्ञान मे होती है। ज्ञान द्वारा ही परम शान्ति एव आनन्द मिलता है। भक्तो मे ज्ञानी श्रेष्ठ माना गया है।[4]

---

[1] भक्तियोग, गीता 11/54 , 18/55, 8/22
[2] ज्ञान योग ' गीता 6/7,8 – समत्व योग उच्यते।
[3] गीता , 6/21, 22, 23
[4] गीता 7/16, 17

गीता मे निष्काम कर्म ज्ञानी द्वारा ही सम्पन्न होता है, अतएव कर्म योग का ज्ञानयोग से कोई विरोध नही है। गीता ने कर्मयोग मे प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का अद्भुत समन्वय किया है। गीता कर्म का निषेध नही करती, अपितु फलासक्ति का निषेध करती है।[1] 'सन्यास' का तात्पर्य कर्म त्याग नहीं बल्कि कामना का त्याग है। गीता का निष्काम कर्म ज्ञान एवं भक्ति दोनों से अनुप्राणित है।

गीताज्ञान का सार भक्ति है। गीतोपदेश का प्रारम्भ ही प्रपत्ति या शरणागति से होता है[2] तथा पर्यवसान भी शरणगति में हुआ है।[3] गीता का भक्तियोग ज्ञान एवं कर्म से अनुप्राणित है। भक्ति, ज्ञान एवं कर्म का भेद लौकिक व्यवहार में ही है, अपनी चरमावस्था में ये सभी अपरोक्षानुभूति में परिणत हो जाते हैं। लौकिक ज्ञान बुद्धिविकल्प जन्य है तथा ज्ञातृज्ञेय के द्वैत पर निर्भर है, परमज्ञान अद्वैत निर्विकल्प अनुभूति है। अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु एवं ज्ञानी भक्तों मे ज्ञानी भक्त ही भगवान को प्रिय होते है। इस प्रकार पराभक्ति एवं परज्ञान में कोई भेद नही है गीता बार–बार यह सिद्धान्त प्रतिपादित करती है।

अनन्य भक्ति से ही भगवत्रूप का ज्ञान एवं भगवत्प्राप्ति तथा भगवान से तादात्म्य संभव है। उपनिषद, ब्रह्मसूत्र एवं भगवत् गीता को वेदान्त की

[1] कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन् – गीता 2/47
[2] शिष्यस्तेऽह शाधि मां त्वा प्रपन्नम् – गीता 2/7
[3] मामेक शरणं व्रज – गीता 18/64, 66

'प्रस्थान त्रयी' कहा जाता है, क्योंकि ये वेदान्त के सर्वमान्य प्रमुख ग्रन्थ है। उनमें भी उपनिषद् मूल प्रस्थान है तथा शेष उन पर आधारित है।

इनके पश्चात् आध्यात्मिक क्षेत्र में कुछ असाधारण गतिविधियॉ होनी प्रारम्भ हो गयीं। जटिल ब्राह्मण धर्मो की प्रतिक्रिया एव प्रस्थान त्रयी की आध्यात्मिक परम्परा मे अनेक धर्मो की उत्पत्ति हुई जिनमें बौद्ध एवं भागवत् धर्म मुख्य है। जटिल एव कृत्रिम हो गए ब्राह्मण धर्म मात्र पुरोहित वर्ग तक ही सीमित रह गया था। इसमें साधारण जनो, स्त्रियों, शूद्रों के लिए कोई स्थान नहीं था। ऐसे समय मे बौद्ध धर्म ने प्रेम एवं अहिंसा का मार्ग प्रशस्त किया। इनमें जाति एव सम्पत्ति इत्यादि का कोई बंधन नहीं था। नैतिकता एवं आचरण की पवित्रता को सर्वाधिक महत्व दिया जाता था। दुःख के, उपाय के रूप में आष्टांगिक मार्ग प्रशस्त हुआ 1. सम्यक् दृष्टि, 2. सम्यक् संकल्प, 3. सम्यक् वाक्, 4. सम्यक् कर्मान्त, 5. सम्यक् आजीव, 6. सम्यक्, व्यायाम, 7. सम्यक् स्मृति, 8. सम्यक् समाधि।

इस प्रकार साधारण जनमानस का धर्म के साथ सामान्यीकरण होने से बौद्ध धर्म की प्रशस्ति होती गयी। बुद्ध के उपदेश भी तत्कालीन जन साधारण की भाषा 'पालि' में होते थे। इस प्रकार बौद्ध धर्म सिद्धान्तपरक न होकर व्यवहार परक था।

किन्तु शनैः शनैः जोर पकडती हुई हिन्दु विचार धारा के प्रभाव के बौद्ध धर्म का ह्रास आरम्भ हो गया। ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया के आवेग में

धर्म के दार्शनिक एव भावात्मक पक्ष पर ध्यान नहीं दिया जाता था। किन्तु जनमानस की आध्यात्मिक भावनाओ की पूर्ति में असमर्थ रहने के कारण कालान्तर में इनकी भी प्रतिक्रियाएँ शुरू हो गयीं।

शांकर पूर्व वेदान्त

ब्राह्मण धर्म के लुप्तप्राय अस्तित्व की मीमांसकों ने, जिसमें कुमारिल प्रमुख हैं, पुनः वैदिक धर्म के रूप में प्रतिष्ठा की। किन्तु उपनिषदों के तात्त्विक चिन्तन की अपेक्षा शुष्क कर्मकाण्ड पर जोर था।

वैदिक धर्म को सही अर्थो मे प्रतिष्ठा दिलाई आचार्य शकर ने। शंकराचार्य भारतीय दर्शन जगत् के सर्वाधिक चर्चित दार्शनिको है। केवल आचार्य शंकर ही ऐसे दार्शनिक आचार्य हैं जिन्होंने समस्त प्रामणिक ग्यारह उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र एव भगवत् गीता पर भाष्य लिखा साथ ही अनेक स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थों की भी रचना की। सम्पूर्ण वेदान्त शास्त्र इनका ऋणी है। अन्य समस्त वेदान्त सम्प्रदाय शंकर के दर्शन की प्रतिक्रिया मात्र है।

आचार्य शंकर के पूर्व वेदान्त दर्शन के यद्यपि अनेक आचार्य हुए हैं, जिनका नामोल्लेख है तो मिलता है किन्तु उनकी कृतियां अद्यतन लुप्तप्राय हैं। आचार्य शंकर स्वय भतृप्रपञ्च को ज्ञान कर्म सम्मुचयवादी के रुप में, द्रविडाचार्य का उल्लेख आगमवित् के रूप में करते है। रामानुजाचार्य ने अपने भाष्य में विशिष्टाद्वैत के पूर्वाचार्य के रूप मे 'बोधायन' का उल्लेख किया है। ब्रह्मत्त, सुन्दरपाण्ड्य एवं आचार्य भर्तृहरि का उल्लेख भी प्राप्त

होता है। 'योगवशिष्ठ' नामक ग्रन्थ महर्षि वशिष्ठ की कृति मानी गयी है तथा 'आदिशेष' के 'परमार्थ सार' प्रत्यभिज्ञा दर्शन का ग्रन्थ है। विद्वानो के मतानुसार ये दोनों ग्रन्थ, गौडपाद कारिका से पूर्व की रचनाएँ है।

गौडपादाचार्य

अद्वैत वेदान्त पर क्रमबद्ध भाष्य लिखने वालों में आचार्य गौडवाद सर्वप्रथम माने जाते हैं। शंकराचार्य उन्हें अपना परम गुरू स्वीकार करते हैं। गौडपाद का एक भाष्य उत्तरगीता पर भी माना जाता है। गौडपादाचार्य ने माण्डूक्योपनिषद् पर कारिका लिखी, जिसे माण्डूक्य कारिका कहते है, जो सभवत· अद्वैत दर्शन का प्रथम उपलब्ध दार्शनिक ग्रन्थ है। माण्डूक्यकारिका में अद्वैत दर्शन के मुख्य–मुख्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। यथा यथार्थ सत्ता के अनुक्रम, ब्रह्म एवं आत्मा का एकत्व, माया, परमनिरपेक्ष सत्ता पर कारण कार्य भाव सभव नही, ज्ञान अथवा विद्या को मोक्ष का प्रत्यक्ष साधन मानना, निरपेक्ष शून्य अचिन्त्य होना।

इस ग्रन्थ में चार प्रकरण हैं, जिन्हे क्रमशः आगम, वैतथ्य, अद्वैत तथा अलातशान्ति प्रकरण के नाम से जाना जाता है। इसमें ओकार को ब्रह्म अथवा परमतत्त्व बताया गया है। ओकार का अ, उ, म्, द्वारा प्रतिपाद्य आत्मतत्त्व जाग्रत में बहिष्प्रज्ञ, स्वप्न मे अन्त· प्रज्ञ तथा सुसुप्ति में घनप्रज्ञ होता है जो क्रमशः व्याष्टि में विश्व, तैजस, एव प्राज्ञ तथा समष्टि में वैश्वानर हिरण्यगर्भ और ईश्वर कहलाता है। परमात्मतत्व इन तीनों मे

अन्तर्यामी है तथा तीनो के परगामी भी है। परगामी रूप मे यह ओंकार के चतुर्थ पादस्वरूप अमात्र अथवा तुरीय' नाम से निरूपित है। यही प्रपञ्चोपशम शिव अद्वैत तत्व है। द्वितीय, वैतथ्य प्रकरण की 39 कारिकाओं में मायाकाल्पित समस्त जगत प्रपञ्च का मिथ्यात्व (वैतथ्य) प्रबलयुक्तियों द्वारा सिद्ध किया गया है। स्वप्न पदार्थ एवं रज्जु सर्प की भॉति ही जागरिक पदार्थ मिथ्या कहे जाते है। मात्र अधिष्ठान परमात्मतत्त्व ही सत्य है।

तृतीय अद्वैत प्रकरण में आचार्य गौडपाद 48 कारिकाओ में अद्वैत आत्मतत्त्व का श्रुतियों एवं सबल युक्तियों के आधार पर प्रतिपादन करते है। इस प्रकरण मे आचार्य अपने प्रसिद्ध 'अजातिवाद' एव 'अस्पर्शयोग' का निरूपण भी करते हैं। अजाति का अर्थ है अनुत्पत्ति। परमात्मतत्त्व नित्य निरपेक्ष है, अतः उसकी उत्पत्ति संभव ही नही है। त्रिकाल में सदा सर्वदा एक सा रहने वाला अर्थात् अपरिणामी, उत्पत्ति विनाश–विक्रिया रहित कूटस्थानित्य।

यह निर्विकल्प शुद्ध चैतन्य स्वरूप है तथा समस्त ज्ञान एवं अनुभव का अधिष्ठान होने से स्वतः सिद्ध एवं स्वप्रकाश है। यह स्वभाव से अज या अजात है। किन्तु अपनी माया शक्ति के कारण जड जगत् एवं बद्ध जीवों के रूप मे भासित होता है। इसकी उत्पत्ति वास्तविक नही है। यह न सत् है, न असत् न सदसत् अतः सदसदनिर्वचनीय होने से, मिथ्या या वितथ है। यही अभय उत्पत्ति विनाश रहित अजाति है जिसके अनुसार उत्पन्न होने की

प्रतीति होते हुए भी वस्तुतः कुछ उत्पन्न नही होता। यही वेदान्त का निश्चय है।

गौडपादाचार्य के अनुसार यह अजातिवाद का सिद्धान्त श्रुति सम्मत है। आचार्य इसे युक्ति से भी सिद्ध मानते है। वे वास्तविक कारण कार्यवाद का खण्डन करते है।

आचार्य गौडपाद के अनुसार परमात्म तत्त्व ब्रह्म अथवा आत्मा है। वह विशुद्ध चैतन्य स्वरूप, नित्य विज्ञान स्वरूप, नित्य एवं अखण्ड आनन्द स्वरूप है। वह अविकारी, अपरिणामी एव कूटस्थनित्य है। जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति इसी आत्मा से प्रकाशित हैं। जगत् एव जीव दोनो आत्मा के आभास है किन्तु व्यवहार मे भिन्न है। जगत् ज्ञेय है तथा जीव ज्ञाता है। आचार्य का विज्ञानवाद नित्य आत्मतत्त्ववाद है। यह पारमार्थिक है। बुद्धि ग्राह्य न होने से इसका 'नेति–नेति' द्वारा वर्णन किया गया है। अतः यह नेति–नेति वर्णन आत्मविषयक का निषेध करके बुद्धि द्वारा अग्राह्य रूप मे अज आत्म तत्त्व का प्रकाशन करता है।

आत्म साक्षात्कार या ब्रह्मीभाव मोक्ष है जो अनन्त ज्ञान एव अखण्ड आनन्द है। ओऽकारोपासना द्वारा, जो प्रणव जप से आरम्भ होती है, चित्त की शुद्धि एव एकाग्र समाधि द्वारा चित्त को स्थिर किया जाता है। योग दर्शन मे बुद्धि, अहकार एव मन चित्त की सत्ता है। आचार्य मन अर्थ में चित् का प्रयोग करते है। मन के लय एव विक्षेप को सर्वथा विरूद्ध कर देना 'अमनीभाव' है। यही अविद्या निवृत्ति है, जो अस्पर्श योग मे होती है। अस्पर्श योग समाधि है, योग दर्शन में इसे ही असम्प्रज्ञात समाधि अथवा निर्विकल्पक या निर्बीज समाधि कहते है। 'स्पर्श' का अर्थ है आत्मा एवं मन का, मन एव इन्द्रिय का तथा इन्द्रिय एव विषय का सन्निकर्ष। इस त्रिविध लौकिक

सन्निकर्ष को रोकना तथा मन को ध्येय वस्तु मे स्थिर करना तथा समाधि द्वारा मन का सर्वथा निरोध 'अस्पर्श योग' है। तदुपरान्त केवल अद्वैत आत्मतत्त्व से समस्त लोक प्रकाशित हो जाते है। यही ब्रह्म भाव है। निर्विकल्प अनुभूति में ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान की त्रिपुटी ब्रह्म में विलीन हो जाती है। तथा जो निर्विकल्पक ज्ञान है, वही ज्ञेय एव ज्ञाता होता है। यही अद्वैत एव अमृत है। चतुर्थ 'अलात् शान्ति प्रकरण' की 100 कारिकाओ मे आचार्य विस्तारपूर्वक अद्वैत वेदान्त की, महायान बौद्ध दर्शन के माध्यमिक एव विज्ञानवाद सम्प्रदायों से तुलना करते है, एवं कुछ साम्य का अनुमोदन करते हुए वैषम्य का खण्डन करते हैं। अन्त मे आचार्य गौडपाद ने अपने औपनिषद अद्वैत आत्म तत्त्व की महत्ता का वर्णन किया है। गौडपाद कृत माण्डूक्य कारिका अथवा आगम शास्त्र न केवल अद्वैत वेदान्त का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है, अपितु अद्वैत वेदान्त एवं महायान बौद्ध दर्शन के सम्बन्धों का सम्यक् दर्शन भी कराता है।

अद्वैत वेदान्त की इस प्रसिद्धकृति के चारो प्रकरणो पर आचार्य शकर ने भाष्य लिखा है। 'महायान' के श्रुति-सम्मत विचारों को ग्रहण करते हुए गौडपाद आचार्य अद्वैत वेदान्त की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हैं, जिसे शकराचार्य शीर्ष तक पहुँचाते हैं।

शंकराचार्य का केवलाद्वैतवाद

यद्यपि मीमांसा दर्शन के द्वारा हिन्दु विचारधारा ने बौद्धमत के ऊपर विजय प्राप्त कर ली थी, फिर भी वे बौद्धो के साधारण सिद्धान्तो को जनमानस के विचारो से हटाकर तर्क शक्ति द्वारा आध्यात्मिक सन्तोष प्रदान करने मे असमर्थ हो रहे थे। उस समय एक ऐसे धार्मिक प्रतिभा सम्पन्न पुरूष की आवश्यकता थी जो पुराने ढांचो को भंग किये बिना, नवीन मतों

के उत्तम प्रभावो का विस्तार कर सके। वह सत्य के आधार पर वह एक ऐसे सम्प्रदाय का समन्वय कर सके जिनमे बुद्धिमान एवं संस्कृत वर्गो के मनुष्यों को समान अधिकार एवं आध्यात्मिक सन्तोष हो। ऐसे ही समय शंकराचार्य का अवतरण हुआ, जिन्होंने अपने 'अद्वैत वेदान्त' की, धार्मिक एकता को सम्पन्न कराने वाले आधार के रूप मे घोषणा की। उनका कहना था कि वे जिस सिद्धान्त का प्रचार कर रहे हैं वे समस्त विचार वेदविहित है। उनके अनुसार पर ब्रह्म का ज्ञान, जो हमें उपनिषदों से मिलता है, बार–बार एक समान तथा निर्विरोध होना चाहिए।

शकराचार्य अपने वेदान्त दर्शन मे कतिपय बौद्ध धर्म के अंशों का समावेश करते है, जैसे माया का सिद्धान्त एव वैराग्यवाद। किन्तु आचार्य का सिद्धान्त मात्र बौद्धिक न होकर समर्पित जीवन भी है। वह अधिकतर ज्ञानपरक न होकर विवेक बुद्धिपरक एवं तार्किक विद्यापरक न होकर आध्यात्मिक स्वातन्त्रय से युक्त हैं। शंकराचार्य के दृष्टिकोण से दर्शनशास्त्र शाश्वत सत्य का गूढ निरीक्षण है जो मनुष्य के तुच्छ जीवन की क्षुद्र चिन्ताओ से उन्मुक्त होने के कारण दिव्य है।[1] वे प्रकट रूप में वैदिक विद्या तथा स्वतन्त्र प्रज्ञा से युक्त एक सामान्य प्रतिभा के तेजस्वी व्यक्ति थे।

शंकराचार्य का जीवन वृत्त

आचार्य शकर के सिद्धान्तो मे जितनी ही स्पष्टता है, विद्वानो मे उनके जन्मकाल को लेकर उतने ही मतभेद प्राप्त होते हैं। तेलंग के अनुसार शकराचार्य ईसा की छठी शती के मध्य अथवा अन्त में हुए। सर आर०जी० भण्डारकर का मानना है कि शकर का जन्म सन् 680 ई० में हुआ। मैक्समूलर एव प्रो० मैकडॉनल का मत है कि शंकराचार्य का जन्मकाल 788

---

[1] भारतीय दर्शन,भाग II डा0 एस राधाकृष्णन, पृ 383 ।

ईस्वी का है एवं 820 ई० मे उनका देहान्त मानते है आनन्द गिरि शकर का जन्म चिदम्बरम् मे 44 वर्ष ईसा पूर्व मे मानते हैं तथा 12 वर्ष ईसा पूर्व मे उनका देहान्त माना गया है। किन्तु इस मत को अधिक समर्थन नहीं प्राप्त है। अधिकांश विद्वान इनका जन्म 788 ई० (अथवा संवत् 845) तथा निर्वाण 820 ई० ही मानते हैं।

शंकराचार्य का जन्म केरल प्रान्त के कालडी ग्राम मे नम्बुदरी ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके पिता श्री शिवगुरू वेदज्ञ ब्राह्मण थे। कुछ विद्वानो के मतानुसार इनका जन्म मालाबार में हुआ था। इन्होने अपने बाल्यकाल मे गौडपाद के शिष्य गोविन्द से वेदों की प्रारम्भिक शिक्षा लेनी प्रारम्भ की तथा सात वर्ष की आयु तक समस्त वेदों को कण्ठस्थ कर लिया था। जीवन के गूढ रहस्य तथा महत्त्व ने इन्हे प्रभावित किया और आठ वर्ष की अवस्था में इन्होंने सन्यास ग्रहण कर लिया। एक आचार्य के रूप में उन्होने विभिन्न स्थानों का भ्रमण किया तथा विभिन्न मतानुयायियों को शास्त्रार्थ में पराजित करते गए।

परम्परागत वर्णनो के अनुसार अपनी यात्रा के दौरान वे कुमारिल एवं मण्डन मिश्र के सम्पर्क में आए, यही मण्डन मिश्र आगे चलकर, आचार्य का शिष्यत्व ग्रहण कर सुरेश्वराचार्य कहे गए। ज्ञान के प्राधान्य का साग्रह प्रतिपादन करने वाले एव कर्म को अविद्या जन्य मानने वाले सन्यासी आचार्य का समस्त जीवन लोकसंग्रहार्थ निष्काम कर्म को समर्पित था। बारह वर्ष की अवस्था मे वे सर्व शास्त्रों के ज्ञाता हो गए थे तथा मात्र सोलह वर्ष की अवस्था मे उन्होंने बदरिकाश्रम मे ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् एव गीता पर भाष्य रचना की। उन्होंने समस्त भारत वर्ष का भ्रमण करके हिन्दु समाज को एक सूत्र में पिरोने के लिए उत्तर में बदरीनाथ में, दक्षिण में श्रृंगेरी में, पूर्व में पुरी

मे तथा पश्चिम मे द्वारका मे चार पीठों की स्थापना की। बत्तीस वर्ष की अल्पायु मे हिमालय के केदारनाथ, में इनका निर्वाण माना जाता है। शकराचार्य का स्थान विश्व में सर्वोच्च दार्शनिकों मे है।

कृतित्व

अद्वैत दर्शन के प्रमुख ग्रन्थों में है ग्यारह उपनिषद, गीता तथा ब्रह्म सूत्र पर शकर भाष्य। स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप मे शंकराचार्य ने उपदेश साहस्त्री तथा विवेक चूडामणि' की रचना की। विष्णु सहस्त्र नाम, सौन्दर्य लहरी, आनन्द लहरी, दक्षिणामूर्तिस्त्रोत आदि स्तोत्र ग्रन्थ ईश्वर के विभिन्न स्वरूपों मे उनकी आस्था को प्रकट करते है। अन्य ग्रन्थों में अपरोक्षानुभूति, दशश्लोकी, आप्तवज्रसूची इत्यादि माने जाते हैं।

शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित दर्शनशास्त्र का इतिहास बहुत लम्बा एवं आज भी प्रगतिशील है। अन्य मतावलम्बी अपनी स्थिति को उनके समर्थन अथवा खण्डन द्वारा पुष्ट करते है।

केवलाद्वैत सिद्वान्त

शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य के प्रारम्भ-में अनुभव का विवेचन करते हुए दर्शन की मूलभूत समस्या 'भ्रम विचार' का मार्मिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इसे आचार्य 'अध्यास'[1] नाम देते है। आचार्य का मानना है कि समस्त लोकव्यवहार दो तत्त्वों के परस्पर तादात्म्य पर निर्भर है एक शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मतत्त्व जो विषयी, ज्ञाता, चेतन एव नित्य है, तथा दूसरा विषय अथवा ज्ञेय जड तत्व जो अनित्य है। चैतन्य तत्त्व 'अहं' प्रत्यय गोचर है तथा विषय 'इद' (अथवा युष्मत्) प्रत्यय गोचर। यद्यपि प्रकाश एवं

---

[1] 'स्मृतिरूप परत्र पूर्वदृष्टावभास:'।

अन्धकार की भॉति परस्पर विपरीत धर्मो के होने से इनका मिलन असम्भव है किन्तु उनके तादात्य के बिना कोई लोक व्यवहार नही होते। इस तादात्मय को सम्भव कराती है माया अथवा अविद्या। ये समस्त मिथ्या प्रतीति की जननी है तथा संसार चक्र का मूल है। शुद्ध आत्मचैतन्य प्रमातृप्रमेयप्रमाण व्यवहारातीत, स्वय प्रकाश एवं असग होने से अविषय है। इस शुद्ध चैतन्य पर अविद्या के कारण अनात्म जड विषय का अध्यास होने से शुद्ध चैतन्य जीव अथवा प्रमाता रूप मे प्रतीत होता है। तथा अपने आत्म स्वरूप को भूलकर अनात्म पदार्थो एव धर्मो को स्वय पर आरोपित करता है। अध्यास का विस्तृत विवेचना आगे के अध्याय में प्रस्तुत किया जाएगा।

ब्रह्मस्वरूप

अद्वैत वेदान्त सेम्मत् सत् वह है जो त्रिकालाबधित हो। इस प्रकार कूटस्थ, नित्य, अपरिणामी, अनिर्वचनीय ब्रह्म ही सत् है, परमार्थ है। उपनिषदो मे ब्रह्म के दो रूपों का वर्णन मिलता है अपर ब्रह्म को सगुण, सविशेष, सविकल्पक एव सोपाधिक कहा गया है। इसी को 'ईश्वर' कहते हैं। पर ब्रह्म निर्गुण, निर्विशेष, निर्विकल्पक, निरूपाधिक, निष्प्रपञ्च, अनिर्वचनीय एव अपरोक्षानुभूति गम्य है। सगुण ब्रह्म के दो लक्षण है 'तटस्थ' लक्षण एव स्वरूप लक्षण ब्रह्म इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का कारण है।[1] इसे तैत्तिरीय उपनिषद मे इस प्रकार व्यक्त किया गया है– "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसविशन्ति...........तद् ब्रह्म–" (तैत्ति० उप०3/1) इस प्रकार ब्रह्म जगत् का उपादान कारण एवं निमित्त कारण दोनो है।

---

[1] जन्माद्यस्य यत – ब्रह्म सूत्र (1/1/2)

शंकराचार्य जगत् को ब्रह्म का विवर्त मानते हैं, परिणाम नही। जगत् ब्रह्म की प्रतीति मात्र है। ब्रह्म कूटस्थ नित्य है, माया अथवा अविद्या के कारण यह जीव एवं जगत् के रूप में प्रतीत होता है। जगत्कारणता सगुण ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। वह सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक एवं सर्वनियन्ता है।[1] 'सच्चिदानन्द' ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। जो सत् है वही चित् है। एवं जो चित् है वही आनन्द है। यह ब्रह्म का गुण अथवा धर्म नहीं, ब्रह्म स्वरूप ही है। ब्रह्म वस्तुतः निर्गुण, निर्विशेष है। अतीद्रिय होने से अग्राह्य है, अतएव अनिर्वचनीय कहा गया है। इन्द्रिय सम्वेदन, बुद्धि विकल्प एवं वाणी के द्वारा अग्राह्य निर्विशेष चैतन्य अपरोक्षानुभूतिगम्य है। परमार्थ में ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय का भेद समाप्त हो जाता है, यही अद्वैत है।

ईश्वर, साक्षी एवं जीव

निर्गुण परब्रह्म का सगुण सविशेष रूप अपर ब्रह्म अथवा ईश्वर है। निरूपाधिक ब्रह्म ही मायोपाधित होकर सगुण ईश्वर के रूप मे भासता है। परब्रह्म बुद्धि द्वारा अग्राह्य है, उसके लिए प्रयुक्त शब्द वस्तुतः ईश्वर का ही बोध कराते हैं। सापेक्ष बुद्धि के लिए ईश्वर ही सर्वोच्च है। ईश्वर, जीव एवं जगत् ये तीनों ही सत्ताएं व्यावहारिक हैं। इनकी एक साथ निवृत्ति होती है।

ईश्वर ब्रह्म का सर्वोच्च आभास है। वह सर्वगुण सम्पन्न है। ईश्वर माया के स्वामी है, सृष्टि के कर्त्ता, हर्त्ता, धर्त्ता एवं नियन्ता है। वे सृष्टि मे है, सृष्टि उनमे है, तथापि वे सृष्टि में सीमित नही है।

शंकराचार्य के अनुयायी ईश्वर एवं जीव के सम्बन्ध मे प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद एव आभासवाद की अवधारणा करते है। प्रतिबिम्बवाद के अनुसार ब्रह्म का माया मे प्रतिबिम्ब ईश्वर है, एव अविद्या मे प्रतिबिम्ब जीव

---

[1] सर्वं खल्विद ब्रह्म

है। किन्तु ब्रह्म निराकार है, इसका प्रतिबिम्ब कैसे सम्भव होगा ? कुछ अद्वैत वेदान्ती ईश्वर को बिम्ब एवं जीवों को ईश्वर का प्रतिबिम्ब मानते हैं। अवच्छेदवाद के मतानुसार मायावच्छिन्न ब्रह्म ईश्वर है एवं अविद्या अथवा अन्तःकरणावच्छिन्न ब्रह्म जीव है। किन्तु पुनः प्रश्न होता है कि माया अथवा अविद्या नित्य, अनन्त ब्रह्म को सीमित कैसे कर सकती है? आभास वाद के अनुसार ब्रह्म का माया मे आभास ईश्वर एव अविघा अथवा अन्तःकरण में आभास जीव है। माया अथवा अविद्या के सदसदनिर्वचनीय होने से आभास भी अनिर्वचनीय है। शंकराचार्य आभासवाद को मानते हैं। आभास ब्रह्म के विवर्त है, परिणाम नहीं। ईश्वर माया के स्वामी हैं तथा उसकी विक्षेप शक्ति का वे प्रयोग करते हैं। माया उन्हें आवृत्त नहीं कर सकती। अतएव जीव जिन्हें ईश्वर मानता है, वे ही ईश्वर स्वयं को परमब्रह्म के रूप में अनुभव करते है।

शकराचार्य के अनुसार सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, जगत्कारण एवं नियन्ता ईश्वर की सिद्धि श्रुतिवाक्यों द्वारा ही होती है, अनुमान अथवा तर्क द्वारा नहीं।[1] सविकल्प बुद्धि अनी युक्तियों अथवा तर्को द्वारा ईश्वर को सिद्ध नही कर सकती।

जिस प्रकार ईश्वर वस्तुतः ब्रह्म ही है, उसी प्रकार जीव भी वस्तुतः ब्रह्म ही है। माया अथवा अविद्या के कारण ब्रह्म की प्रतीति ईश्वर एव जीवों के रूप मे होती है।[2] ईश्वर की प्रतीति भी जीव की दृष्टि से ही है। तत्त्वमसि इत्यादि श्रुति वाक्य जन्य ज्ञान द्वारा जीव अपने ब्रह्मस्वरूप को पुनः प्राप्त कर लेता है। ईश्वर में माया का शुद्ध सत्त्व मात्र है, जीव

---

[1] शाकर भाष्य (1/1/2)

[2] स ईशो यद्वशे माया स जीवो यस्तयार्दित ।

त्रिगुणात्मक है। ईश्वर अज्ञान, अन्तःकरण तथा भौतिक इन्द्रियादि से रहित है, आत्मस्वरूप है। जीव अज्ञानी है, अन्तःकरण से अविच्छन्न है, देहेन्द्रियॉ अपेक्षित हैं। ईश्वर जगत्कारण है, वह जगत् का विक्षेप, कराता है, किन्तु स्वयं मोहित नही होता। ईश्वर में भोक्तृत्व का सर्वथा अभाव है, जबकि जीव अभिमानी कर्त्ता भी है फलोपभोक्ता भी। ईश्वर ज्ञान स्वरूप है, जीव में सविकल्प बुद्धि का प्रमातृत्व है। जीव प्रमातृ प्रेमय प्रमाणान्तर्गत व्यवहार का प्रमाता है।[1] ईश्वर आराध्य, उपास्य भगवान है, जीव आराधक, उपासक है। शंकराचार्य के अनुसार जीव का अंशत्व[2] वास्तविक नहीं, प्रतीति मात्र हैं, क्योंकि ईश्वर वस्तुतः निरवयव ब्रह्म है।[3]

जीव एंव ईश्वर का यह भेद व्यावहारिक है। परमार्थतः जीव एव ब्रह्म में कोई भेद नहीं है।[4] वस्तु यह अद्वैत ही है। जीव के बन्ध एवं मोक्ष भी व्यवहारिक हैं, पारमार्थिक नहीं। जब तक देहेन्द्रिय मनोबुद्धि रूपी उपाधियॉ हैं, तभी तक जीव का जीवत्व है। अविद्या निवृत्ति होते ही जीव अपने शुद्ध सत्त्वात्मक स्वरूप में प्रकाशित होता है।

'साक्षी' के विषय में शंकराद्वैत अनुयायियो में मतभेद मिलता है। कुछ मतानुयायी प्रति शरीर में भिन्न साक्षी मानते हैं, कुछ सभी में एक ही साक्षी स्वीकार करते हैं। कुछ विद्वान साक्षी को जीव साक्षी एवं 'ईश्वरसाक्षी' इस द्विविध रूप मे मानते हैं। साक्षी का निरूपण आगे के अध्याय मे किया जाएगा।

---

[1] भारतीय दर्शन आलोचन एव अनुशीलन, डा० चन्द्रधर शर्मा, पृ० 254

[2] ममैवाशो जीवलोके जीवभूतः सनातन – गीता 15/7

[3] शाकर भाष्य 2/3/43, 47

[4] जीवो ब्रह्मैव नापर.।

माया की अवधारणा

शंकर मतानुसार ब्रह्म एवं आत्मा एक हैं, जगत् प्रपञ्च 'माया' की प्रतीति है। जिस प्रकार रज्जु भ्रम में सर्प के रूप में रज्जु की प्रतीति होती है, तथा रज्जु ज्ञान होने जाने पर सर्पभयादि का बाध हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी अविद्या अथवा 'माया' के कारण जीव–जगत् प्रपञ्च रूप में आभासित होता है तथा निर्विकल्प अपरोक्ष ज्ञान द्वारा ब्रह्मानुभव होने पर इसका बाध हो जाता है।

माया, अविद्या, अज्ञान, अध्यास, अध्यारोप, विवर्त, भ्रम, भ्रान्ति इत्यादि शब्दों का प्रयोग वेदान्त दर्शन में प्रायः पर्यायवाची के रूप में होता है। माया, को ब्रह्म की अभिन्न शक्ति माना गया है तथा इस प्रातीतिक सम्बन्ध को तादात्म्य कहा जाता है।

माया अनादि एवं भाव रूप है किन्तु अनन्त नहीं, अतएव सत् नही। माया भाव रूप है केवल अभाव रूप नही। इसका अभाव पक्ष तत्व को आवृत करता है एव भाव, पक्ष 'विपेक्ष' है जो तत्त्व पर अन्यथा प्रतीति कराता है। वस्तुत. माया न अभाव है, न भाव है।

माया सदसदनिर्वचनीय या भावाभाव विलक्षण कही गयी है। यह सत् नहीं है क्योंकि अधिष्ठान के ज्ञान से इसका बाध हो जाता है, यह असत् भी नहीं है, क्योंकि इसकी प्रतीति होती है। यह सत् एव असत् दोनों ही नहीं हो सकती। यह अध्यास है, भ्रान्ति अथवा भ्रम है। माया का आश्रय एव विषय दोनों ब्रह्म ही है। तथापि ब्रह्म माया से सर्वथा अलिप्त रहता है। अधिष्ठान कभी अपने अध्यस्त पदार्थ से कलुषित नहीं होता। निर्विकल्प अपरोक्ष ज्ञान द्वारा ब्रह्मानुभव होने पर जीव–जगत् प्रपञ्च का बोध हो जाता है। यही मोक्ष अथवा आत्मस्वरूप का ज्ञान है।

मोक्ष का स्वरूप

आत्मा अथवा ब्रह्म के स्वरूप की अनुभूति मोक्ष है। आत्मा अथवा ब्रह्म नित्य शुद्ध चैतन्य एवं अखण्ड आनन्द स्वरूप है। आत्मा ज्ञान स्वरूप है तथा मोक्ष आत्मा का स्वरूप ज्ञान।[1] शकराचार्य ब्रह्म एव मोक्ष को एक ही मानते है क्योकि जो ब्रह्म को जानता है, वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है।[2] जीव के बन्ध एव मोक्ष दोनों अविद्या जन्य है। जब बन्धन वास्तविक नहीं है, तो मोक्ष भी वास्तविक नही होता। जीव के जीवत्व का कारण अविद्या है। जब आत्मा ज्ञान द्वारा अविद्या निवृत्ति हो जाती है तो जीव नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, ब्रह्म भाव प्राप्त कर लेता है। मोक्ष नित्य, सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा या ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति है। शंकराचार्य मोक्ष के स्वरूप का व्याख्यान इस प्रकार करते है– "यह पारमार्थिक सत्य है, कूटस्थनित्य, आकाश की भांति सर्वव्यापी है, विकार रहित है, नित्य तृप्त एव निरवयव है, स्वयंज्योति स्वभाव है, यह धर्म एवं अधर्म नामक शुभाशुभ कर्मो से तथा सुख दुःखी रूपी उनके कार्यो से अस्पृष्ट है, यह कालत्रयातीत है, यह अशरीरत्व 'मोक्ष' कहलाता है।[3]

मोक्ष के साधन

शंकराचार्य के अनुसार मोक्ष का साधन केवल 'ज्ञान' है, जो मोक्ष प्रतिबन्ध भूत अविद्या को दूर करता है। निष्काम कर्म एव उपासना चित्त को शुद्ध एवं एकाग्र बनाते हैं, जिससे चित्त ज्ञान–ज्योति का ग्रहण करने में

---

[1] भारतीय दर्शन आलोचन एव अनुशीलन, डा० चन्द्रधर शर्मा, पृ० 257

[2] ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति– मुण्डकोपनिषद 3/2/4

[3] इद तु पारमार्थिक, कूटस्थनित्य, व्योमवत् सर्वव्यापि, सर्वविक्रियारहित, नित्यतृप्त, निरवयव, स्वयज्योति स्वभावतम्, यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण, कालत्रय च, नोपावर्तेते, तदेतत् अशरीरत्व मोक्षाख्यम् –शाकर भाष्य, 1/1/4

सक्षम हो जाता है। मात्र निष्काम कर्म लोकसग्रह के लिए होते है। कर्म एवं उपासना को आचार्य अविद्या के अन्तर्गत मानते है। ज्ञान द्वारा ही अविद्या की निवृत्ति होती है। ब्रह्मज्ञान सविकल्प बौद्धिक ज्ञान नहीं, अपितु निर्विकल्प अपरोक्षानुभूति है। ज्ञान प्रकाशक अथवा ज्ञापक है, कारक नहीं। ज्ञान अविद्या निवृत्ति रूप क्रिया का सम्पादन नही करता, अपितु ज्ञान की स्थितिमात्र अविद्या की निवृत्ति है। इस प्रकार से स्वप्रकाश आत्मतत्त्व का साक्षात् अनुभव होता है। मोक्ष को नित्य अशरीरत्व कहा गया है किन्तु आचार्य शंकर अशरीरत्व का अर्थ शरीर रहित नहीं, अपितु शरीर सम्बन्ध रहित मानते हैं, जो जीवन्मुक्ति की अवस्था है।

शंकराचार्योत्तर अद्वैत वेदान्त

शंकराचार्य के अनुयायियों ने अन्यमतों द्वारा किये गए प्रतिवादों इत्यादि का खण्डन करते हुए अद्वैत मत के सत्यापन एवं संवर्धन हेतु निरन्तर प्रयास किया है।

शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्तियों में शकराचार्य के दो शिष्य सुरेश्वराचार्य (कुछ विद्वान इन्हें मण्डन मिश्र मानते है) तथा पद्मपादाचार्य एवं वाचस्पति मिश्र, सर्वज्ञात्ममुनि, विमुक्तात्मा, प्रकाशत्मयति, श्री हर्ष, आनन्द बोध, चित्सुखाचार्य, अमलानन्द, विद्यारण्य स्वामी, प्रकाशानन्द यति, मधुसूदन सरस्वती, ब्रह्मानंद सरस्वती, नृसिंहाश्रम सरस्वती, अप्पयदीक्षित, धर्मराजाध्वरीन्द्र, सदानन्द इत्यादि अनेकों आचार्यो—विद्वानों का नाम आता है।

सुरेश्वराचार्य के 'वार्तिक' और 'नैष्कर्म्य सिद्धि' वाचस्पति की 'भामती', पद्मपादाचार्य की 'पंचपादिका, आनन्दगिरि का 'न्याय निर्णय', अद्वैत के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। अमलानन्द का 'कल्पतरू' (13 वी शती के मध्य) 'भामती' के ऊपर किया गया भाष्य है। अप्पय दीक्षित (16 वी शती) ने अपने

'कल्पतरूपरिमल' नामक ग्रन्थ का निर्माण 'कल्पतरू' के आधार पर किया है। सिद्धान्तलेश वेदान्त के भिन्न–भिन्न विकसित रूपो का एक महत्वपूर्ण सारसंग्रह है। विद्यारण्य ने (14 वीं शती) 'विवरण प्रमेय संग्रह' की रचना की। 'पञ्चदशी' विद्यारण्यस्वामी रचित अर्वाचीन अद्वैत का एक शास्त्रीय ग्रन्थ है। उनका 'जीवन्मुक्ति विवेक' भी अत्यन्त महत्त्व का ग्रन्थ है। सर्वज्ञात्म (900 ई०) ने 'सक्षेप शारीरक' में शंकरचार्य की स्थिति का सर्वेक्षण किया हैं, तथा रामतीर्थ ने इसके ऊपर टीका लिखी है।

श्री हर्ष का 'खण्डनखण्डखाद्य' (1190 ई०) अद्वैत दर्शन का सर्वप्रमुख महान ग्रन्थ माना जाता है। यह दर्शन शास्त्र की निस्सारता के ऊपर लिखा गया एक अत्यन्त विस्तृत विचार प्रबन्ध है जो मानवीय मस्तिष्क की उच्च श्रेणी को मापने की योग्यता रखता है। इसमें सार्वभौम चैतन्य के अतिरिक्त अन्य सब वस्तुएँ सन्दिग्ध मानी गई हैं। निरपेक्ष परमात्मा की यथार्थता में उनका जो विश्वास है, वह उसे बौद्ध धर्म के शून्यवाद से पृथक् करता है। अन्त में आचार्य न्याय के प्रमाणो तथा उनके कारणकार्यभाव की प्राक्कल्पना पर वाद–विवाद करते हैं तथा तर्क देते हैं कि न्याय केवल प्रतीयमान वस्तुओं तक ही सीमित हैं, यथार्थ सत्ता तक उसकी पहुंच नहीं है। निरपेक्ष ब्रह्म ही परम यथार्थ है।

चित्सुखाचार्य ने इसके आधार एक टीका लिखी है 'चित्सुखी'। इसके अतिरिक्त एक स्वतन्त्र ग्रन्थ 'तत्त्व दीपिका' भी उसी पद्धति पर लिखा है। 'न्यायमृतम्' में चित्सुखी' की समीक्षा की गयी है।

मधुसूदन सरस्वती (16 वीं शती) ने 'अद्वैत सिद्धि' ग्रन्थ में 'न्यायमृत' की समीक्षा की है। रामाचार्य 'तरंगिणी' में 'अद्वैत सिद्धि' की समीक्षा करते

है। धर्मराज का 'वेदान्त परिभाषा' सोलहवीं शताब्दी का न्याय शास्त्र की आध्यात्म विद्या के विषय में लिखा गया एक अत्युत्तम ग्रन्थ है।

विज्ञानभिक्षु के 'विज्ञानामृत' में सांख्य प्रतिपादित द्वैत को वेदान्त में ही अन्तर्भाव करने का प्रयास किया गया है। अद्वैतानन्द का 'ब्रह्मविद्याभरण' गोविन्दानन्द की 'रत्नप्रभा', 'सदानन्द का वेदान्त सार' 'सुबोधिनी' तथा 'विद्वन्मनोरजिनी आदि कतिपय ग्रन्थ अद्वैत दर्शन मे महत्त्व रखते हैं।

कई आधुनिक उपनिषदें, यथा महोपर्निषद्, योग वसिष्ठ एवं 'आध्यात्म रामायण' इत्यादि अद्वैतवाद का ही समर्थन करते है।

अद्वैत वेदान्त पर लिखे गए समस्त ग्रन्थ यद्यपि कुछ नवीन विषय पर प्रकाश डालते हैं, तथापि विचार पद्धति में शंकराचार्य के मतों का विस्तार मात्र है।

वैष्णव वेदान्त दर्शन

वैदिक धर्म एवं दर्शन को सही अर्थो में प्रतिष्ठा आचार्य शकर के अद्वैतवादी दर्शन द्वारा प्राप्त हुई। उन्होंने जैन धर्म एवं दर्शन तथा बौद्ध धर्म एव दर्शन का खण्डन करके पुनः वेदान्त दर्शन का विकास प्रारम्भ किया। अन्य सभी वेदान्त सम्प्रदायो का उद्भव शाकर–वेदान्त की प्रतिक्रिया मात्र ही है। यद्यपि शंकराचार्य का अद्वैतवाद अत्यन्त तार्किक एव उदार था, किन्तु कालान्तर मे शनैः–शनैः मानव सवेदना से दूर होता गया। आचार्य शंकर के निरपेक्ष–निराकार–अद्वैत ब्रह्म की अपने साधको के प्रति उदासीनता जनसाधारण को सहज ही स्वीकार्य नहीं थी। जीवन की विपरीत परिस्थितियो मे मनुष्य जिस अज्ञात शक्ति की करूणामय सहायता की अपेक्षा रखता है, शकराचार्य का अद्वैतवाद उसे प्रदान करने में असमर्थ रहा। निरपेक्ष ब्रह्म की शुष्कता एवं बौद्धिकता उसे पूजा एवं भक्ति का विषय नहीं

बना सकती थी। अतः इस अद्वैतपरक विचारधारा की प्रतिक्रिया में 'ईश्वरवादी' दर्शनों का उत्थान हुआ, जिन्होंने सगुण ईश्वर को मानकर उसकी 'भक्ति' पर बल दिया।

यद्यपि वैदिक काल से ही भक्ति का अस्तित्व हमें प्राप्त होता है, तथापि वैष्णव धर्म एवं शैव–शाक्त धर्मो ने ऐसे 'ईश्वर' की स्थापना की, जो प्रेमपूर्ण भक्ति को स्वीकार करके उसका उचित पुरस्कार दे सके। इन ईश्वरवादी दर्शनो की अपनी विशिष्ट आगम–संहिताएँ हैं। महाभारत में हमे 'भागवत् धर्म' का उल्लेख प्राप्त होता है। "वैष्णव धर्म" इसी भागवत् धर्म का ही विकसित स्वरूप है। जिसमें 'विष्णु' अथवा 'श्रीकृष्ण' को 'ईश्वर' मानकर उसकी विभिन्न साधनो द्वारा प्राप्ति का विधान है। वैष्णव सम्प्रदाय का विशिष्ट धर्म–ग्रन्थ 'पाञ्चरात्र–सहिता' माना जाता है।

वैष्णव धर्म की ऐसी मान्यता है कि वैष्णव–परमाचार्य श्रीकृष्ण ने इस वैष्णव तत्त्व का उपेदश श्री, ब्रह्मा, रूद्र एवं सनक को दिया। कालान्तर मे उन्ही के उपदेशो के फलस्वरूप क्रमशः श्री सम्प्रदाय, ब्रह्म सम्प्रदाय, रूद्र सम्प्रदाय एवं सनक सम्प्रदायों का विकास हुआ। ये सभी सम्प्रदाय 'श्रीकृष्ण' को ईश्वर अथवा परब्रह्म स्वीकार करके उसकी सगुण सत्ता की स्थापना करते हैं। ये सभी वैष्णव सम्प्रदाय अपने स्वरूप में समन्वयात्मक है।

इनमें वैष्णव वेदान्त दर्शन के प्रमुख सम्प्रदाय हैं–रामानुजाचार्य का विशिष्टद्वैतवाद, निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैतावाद, मध्वाचार्य का द्वैतवाद, एवं बल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैतवाद। इन चारों सम्प्रदायो का आविर्भाव मूलतः दक्षिण भारत में हुआ था, किन्तु विशिष्टाद्वैतवाद को छोडकर अन्य तीनों सम्प्रदायों के क्रियाकलाप का प्रभाव क्षेत्र मुख्यतः उत्तर भारत ही रहा।

इन आचार्यों के अतिरिक्त उत्तर भारत में वैष्णव धर्म की सुदृढ स्थापना में रामानन्द एवं चैतन्य महाप्रभु भी उल्लेखनीय हैं। चैतन्य महाप्रभु का 'गौडीय सम्प्रदाय' कहा जाता है। इन पाचो वैष्णव सम्प्रदायों के प्रवर्तक आचार्यो एवं उनके संक्षिप्त दार्शनिक मतों को इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

वैष्णव मत के प्रतिष्ठापक 'आचार्य बोधायन' माने गए हैं। किन्तु 'ब्रह्मसूत्र' पर उनकी टीका अद्यतन प्राप्य नही है। आचार्य बोधायन की 'ब्रह्मसूत्र की टीका' के आधार पर ही टक, द्रमिड, भारूचि, प्रभृति आचार्यो ने अन्य दार्शनिक–सम्प्रदायों के मतो का खण्डन करते हुए अपने–अपने ग्रन्थों का प्रणयन किया है। इन भाष्यो में 'द्रमिड' भाष्य का सर्वाधिक उल्लेख प्राप्त होता है। आधुनिक वैष्णव दर्शन 'यामुनाचार्य' को ही प्रथम वैष्णव आचार्य की पदवी देते हैं।

वैष्णव आचार्यो के सिद्धान्तो पर आळवार सन्तों का प्रभाव सर्वाधिक दृष्टिगोचर होता है। आळवार दक्षिण भारत मे जनमानस के हृदय मे भगवत् प्रेम एव आस्था को जाग्रत करने वाले सन्त थे। ये भ्रमण करते हुए जन–जन मे अपने भक्ति पूर्ण गीतों से ईश्वर की आराधना एवं स्तुति–गान किया करते थे। आळवार सन्तो की प्रामणिक संख्या 12 मानी गयी है। इनकी स्तुतियों का संग्रह 'नाळायिर दिव्य प्रबन्धम्' नाम से प्रसिद्ध है। ये स्तुति पद वेद–मन्त्रों की भॉति पवित्र माने गए हैं। इन्हें 'तमिल वेद' अथवा 'द्रविड वेद' भी कहा जाता है। ये स्तुति–पद भक्ति, प्रेम, सौन्दर्य एवं आनन्द से परिपूर्ण है। ये आध्यात्म ज्ञान की अमूल्य निधि माने गए हैं।

आळवार युग के अनन्तर 'आचार्य युग' आता है। विद्वान वैष्णव आचार्यो ने तर्क एवं युक्तियों द्वारा 'ईश्वर की उपादेयता' एवं 'प्रेम पूर्ण भक्ति'

सिद्ध करके 'मायावाद' का प्रबल प्रत्याख्यान किया तथा ज्ञानमार्ग की अपे सरल 'भक्ति–मार्ग' का प्रतिपादन किया। वैष्णव मत की 'ईश्वर, जीव, मुि एव भक्ति की व्याख्या' सभी सम्प्रदायों मे लगभग साम्य रखती हैं इन परस्पर भेद जीवन एवं ईश्वर के परस्पर सम्बन्धों एवं मोक्ष के साधन क लेकर है।

विशिष्टाद्वैतवाद

नाथमुनि – वैष्णव आचार्य परम्परा मे सर्वप्रथम नाम 'नाथमुनि' का आता है। इन्होने आळवार साहित्य को व्यवस्थित एवं संकलित किया, 'तमिल वेद' की प्रतिष्ठा की एवं आळवार–स्त्रोतों की श्री–रंगम् के प्रसिद्ध मन्दिर में भगवान् के समक्ष गायन की व्यवस्था की। 'श्री सम्प्रदाय' का सर्वप्रथम प्राप्त ग्रन्थ 'न्याय तत्त्व' नाथमुनि की है कृति है। एक अन्य कृति 'योग–रहस्य' को भी नाथमुनि विरचित माना जाता है।

नाथमुनि का जीवन वृत्त हमें स्पष्ट रूप से नहीं प्राप्त होता है। तथापि 'प्रपन्नामृत' ग्रन्थ के आधारपर नाथमुनि का जन्म चोलदेश के वीर–नारायण ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम ईश्वर भट्ट था। ये 'नाम्मालवार' (शठकोप) अथवा 'मधुर कवि' आळवार के शिष्य थे। नाथमुनि के पुत्र का नाम 'ईश्वरमुनि' था एवं 'यामुनाचार्य' नाथमुनि के पौत्र माने गए हैं। नाथमुनि को महन् योगी भी कहा जाता है। वे अष्टांग योग द्वारा योग–साधना करते थे। उनके 11 शिष्य थे जिनमें पुण्डरीकाक्ष, करूकानाथ, एवं श्रीकृष्ण लक्ष्मीनाथ प्रमुख थे। पुण्डरीकाक्ष के शिष्य 'राम मिश्र' थे जिनसे यामुनाचार्य ने दीक्षा ली थी।

यामुनाचार्य

नाथमुनि के पौत्र तथा 'ईश्वर मुनि' के पुत्र श्री सम्प्रदाय के द्विर्त महान् आचार्य 'यामुनमुनि' अथवा 'आळवन्दार' का सर्वप्रथम उल्लेख प्रा होता है। विशिष्टद्वैत दर्शन का व्यवस्थित इतिहास 'यामुनाचार्य' से ही आरम् माना गया है। ये 'विशिष्टाद्वैतवाद' के प्रतिष्ठापक आचार्य स्वीकार किये गर हैं। यामुनाचार्य के परम शिष्य रामानुजाचार्य इस सम्प्रदाय के मुख्य प्रस्तोत हुए। यामुनाचार्य आचार्य रामानुज के परम गुरू थे। इनका काल 10 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से 11 वीं शती का प्रारम्भ माना गया है। रामानुजाचार्य का काल निरूपण 11 वी शती का प्रारम्भ स्वीकार किया गया है।

मान्यता है कि यामुनाचार्य रामानुजाचार्य की विद्वता से बहुत प्रभावित थे तथा उन्हें श्रीरगंम् लाकर अपना शिष्य बनाना चाहते थे। उन्होंने अपने शिष्य महापूर्ण को, जो आचार्य रामानुज के मामा भी थे, रामानुज को श्रीरंगम् लिवा लाने के लिए भेजा। किन्तु रामानुज के श्रीरगंम् पहुंचने से पूर्व ही यामुनाचार्य का देहावसान हो गया था। आचार्य रामानुज ने मृत यामुनाचार्य के हाथ की तीन उंगलियाँ मुडी हुई देखकर उनकी तीन इच्छाएँ अपूर्ण रह जाने का अनुमान लगाया। ये इच्छाएँ थी 1. ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखना, 2. रामानुज का स्वयं को वैष्णव मत में दीक्षित होकर वैष्णवों का उद्धार एवं 3. किसी वैष्णव विद्वान का नाम 'पराशर' रखना।

इन इच्छाओं की पूर्ति रामानुजाचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर 'श्रीभाष्य' का प्रणयन करके, आचार्य महापूर्ण से वैष्णव मत में दीक्षित होकर अनेको ग्रन्थों के प्रणयन द्वारा तथा अपने मित्र कुरेश के पुत्र का नाम 'पराशर भट्ट' करके पूर्ण की।

यामुनाचार्य कृत 6 ग्रन्थों का उल्लेख प्राप्त होता है– 1. स्त्रोत रत्नम्, 2. चतुश्लोकी, 3. आगम प्रामाण्य, 4. सिद्धि त्रय, 5. गीतार्थ संग्रह, 6. महापुरूष निण्णय। 'स्त्रोत्र रत्नम्' में वरदराज की स्तुति विषयक पद है। 'सिद्धित्रय' आचार्य के सिद्धान्तों पर प्रकाश डालता है, इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमें आचार्य यामुन ने आळवार सन्तों के उपदेशों को दार्शनिक आधार प्रदान करने का प्रयास किया है। 'आगम–प्रामाण्य' श्री वैष्णवों की संहिता मानी जाती है।

यामुनाचार्य तीन तत्त्वों को स्वीकार करते हैं–सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान ईश्वर, स्वचेतन जीव एवं जड जगत्। यामुनचार्य ने 'ईश्वर' की सिद्धि जगत् कारण के रूप में न्याय–दर्शन की भॉति तर्क द्वारा भी की है। रामानुजाचार्य प्रदत्त 'विशिष्टाद्वैत' वाद की नींव यामुनाचार्य द्वारा ही डाली गयी। रामानुज तो उनके मतों का परिवर्द्धन मात्र करते है।

यामुनाचार्य अपने मत का प्रारम्भ तत्कालीन वर्तमान चार्वाक, बौद्व, जैन आदि नास्तिक दर्शनों एवं अद्वैतवाद के खण्डन से करते है। वे जीव के स्वचैतन्य का विशेष विस्तार पूर्वक संस्थापन करते है। यही यामुनाचार्य का विशिष्टाद्वैत दर्शन में मुख्य योगदान भी माना जाता है।

ईश्वर - यामुनाचार्य 'ईश्वर' को 'परमात्मा' के रूप में अस्तित्वमान स्वीकार करते हैं। उनका ईश्वर 'अहं' प्रत्यय युक्त है। वह परम ज्ञाता (सर्वज्ञ) एवं विभु हैं जबकि जीवात्मा अल्पज्ञ, अणु है।

यामुनाचार्य ने मीमांसकों के तर्को का खण्डन किया है जिसमें वे प्रमाणो से ईश्वर की सिद्धि न होने से उसकी सत्ता को नही मानते। यामुनाचार्य न्यास पद्धति द्वारा इन तर्को का विरोध करते हुए कहते हैं कि जगत् कार्य है एवं यह किसी ज्ञानवान् परम पुरूष द्वारा उत्पन्न होना चाहिए।

जिसे द्रव्यो का साक्षात् ज्ञान हो, मानवो के धर्मो एवं अधर्मो का ज्ञान हो। जिसके अनुसार वह समस्त जगत् का निर्माण कर्त्ता है, नियन्ता है। इसी कारण प्रत्येक जीव वही अनुभव करता है, जिसके योग्य जो होता है। वह 'ईश्वर' केवल अपने संकल्प द्वारा जगत् को गति देता है। यद्यपि उसका भौतिक शरीर नहीं है, अर्थात वह अपने मनस् द्वारा ही संकल्प व्यापार करता है। उस 'ईश्वर' को असीम्, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् पुरूष मानना चाहिए।

केवलाद्वैत सम्मत ब्रह्म का खण्डन करते हुए यामुनाचार्य अपना मत प्रस्तुत करते हैं कि ब्रह्म अथवा ईश्वर से व्यतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। अद्वैतवादियों का 'जगन्मिथ्या' मत कोई तात्पर्य नहीं रखता। जो कुछ प्रत्यक्ष है, ज्ञान है, वह मात्र ब्रह्म ही है एवं वह 'ब्रह्म' जगत् का उपादान कारण भी है। जैसे एक सूर्य की अनगिनत रश्मियाँ हैं, उसी भॉति जगत् की उत्पत्ति ब्रह्म से है, अथवा अग्नि के स्फुर्लिग की भॉति भी इसे जाना जा सकता है, अपनी अन्तावस्था में जगत् उसी ईश्वर में विश्राम एवं आधार प्राप्त करता है। समस्त जागतिक पदार्थ वायु, अग्नि, पृथ्वी आदि उसी ब्रह्म में अपनी शक्तियॉ प्राप्त करते है उसके अभाव मे वे अशक्य होगे।

इस प्रकार यामुनाचार्य 'ईश्वर' को जीव का नियन्ता, परमात्मा एवं जगत् का निमित्त एव उपादान कारण स्वीकार करते हैं।

'स्तोत्र रत्नम्' मे आचार्य ने 'ईश्वर' के सौन्दर्य का पुराणों के आधार पर वर्णन किया है। वे 'ईश्वर' को परम दयालु एवं क्षमावान् मानते हैं एवं उनसे समस्त पापों, क्लेशों से मुक्ति की याचना करते है। उनका ईश्वर अन्य सभी देवताओ से उत्कृष्ट एवं लोकोत्तर है। जीव की शरणागति उसी ईश्वर पर पूर्णत. निर्भर है। जीव जब सर्वत्र त्यागकर भगवान के प्रति प्रगाढ स्नेह पूर्वक आकृष्ट होता है, तथा नितान्त निराश्रयता एवं पूर्ण आत्मसमर्पण की

भावना से युक्त हो जाता है, तब ईश्वर की कृपा–दृष्टि उस पर होती है। यद्यपि आरम्भ में जीव भौतिक सुख–साधनों, द्वारा ईश्वर की कृपा से दूर ही रहता है, किन्तु ये भौतिक सुख दुःखपूर्ण हैं।

'भक्ति' ही जीवन के उच्च ध्येय प्राप्त करने का अन्तिम साधन है, जो शास्त्रोक्त धर्म–पालन एवं स्वधर्म के ज्ञान से उत्पन्न होती है। आचार्य यामुन के मतानुसार गीता में 'योग' पद 'भक्तियोग' के लिए प्रयुक्त हुआ है। अतएव गीता का अन्तिम ध्येय, श्रेष्ठ साध्य रूप मे भक्ति का महत्व प्रतिपादित करना है, जिसके लिए शास्त्रोक्त धर्म–पालन एवं ईश्वराश्रित आध्यात्मिक प्रवृत्ति का ज्ञान एक प्रारम्भिक भूमिका है। यामुनाचार्य के समस्त श्लोकों का मूल 'प्रपत्ति' की अभिव्यक्ति है।

यामुनाचार्य ने श्री अथवा लक्ष्मी को 'नारायण' अथवा 'ईश्वर' की नित्य सहभागिनी माना है।[1] यद्यपि लक्ष्मी की एक पृथक सत्ता है तथापि नारायण से उनका निकटतम सम्पर्क है। लक्ष्मी एव माया का तादात्म्य उचित नही। वह 'माता' की भॉति है जो भक्त को भगवान की कृपा के वियोग मे लाने मे अपना प्रभाव डालती हैं। लक्ष्मी का व्यक्तित्व 'नारायण' के व्यक्तित्व के समरस ही है।[2] जैसे पुष्प का सम्बन्ध सुगन्ध से है।

जीव - यामुनाचार्य ने अपने सिद्धान्तो में जीव का विस्तृत विवेचन किया है। वे जीव को ज्ञाता एवं स्व चैतन्य स्वीकार करते है।

यामुनाचार्य के मतानुसार 'अह जानामि' स्पष्टतया 'मम शरीर' ज्ञान से विलग है। 'अह जानामि' ज्ञाता रूप से आत्मा का निर्देश करता है तथा

---

[1] स्वधर्म ज्ञान वैराग्य साध्य भत्स्मेक गोचर.। नारायण. पर ब्रह्म गीताशास्त्रे समुदित ।। गीतार्थसग्रह, पद 1।

[2] परस्परानुकूल तया सर्वत्र सामरस्यम्। चतुश्लोकी (वेकटनाथ की टीका)

शरीरादि का ज्ञान विषय ज्ञान ही है। 'ममात्मा' प्रयोग मात्र एक भाषा–प्रयोग है। वास्तव मे ज्ञान का विषय एक ही है–'चैतन्य'।

यह चैतन्य देह, मन, इन्द्रिय इत्यादि का कार्य नहीं हो सकता। क्योंकि यह किसी रासायनिक मिश्रण की भांति नहीं है, अतएव यह परमाणुओं का सघात नहीं है। यह आत्मतत्त्व है। इसे 'इन्द्रिय' नहीं मान सकते क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय के अलग–अलग कार्य एवं विषय है। यदि समस्त इद्रियॉ मिलकर भी चेतना उत्पन्न करे तो यह भी संभव नही क्योंकि फिर एक इन्द्रिय द्वारा विषय–ज्ञान नही प्राप्त होगा एवं एक इन्द्रिय–नाश से उसके अनुभवों की 'स्मृति' भी नहीं बनेगी। 'मन' को भी चैतन्य नहीं मान सकते क्योंकि प्रथम तो मन 'इन्द्रिय' ही है। मनस् के कारण ही 'ज्ञान एक साथ उत्पन्न न होकर क्रम से उत्पन्न होता है एवं क्रमबद्ध ज्ञान द्वारा ही आत्मा के अस्तित्व को जाना जा सकता है। विज्ञानवादी बौद्ध जो 'चैतन्य' को स्वयं प्रकाश ज्ञान का प्रवाह मात्र मानते है, यामुनाचार्य उनका प्रत्याख्यान करते हैं कि यदि ज्ञान का कोई नित्य स्थान नहीं माने, तो व्यक्ति मे एकत्व का अनुभव एवं 'प्रत्यभिज्ञा' संभव न हो सकेगी। क्षणिक स्वप्रकाश ज्ञान के स्थायी न होने से वर्तमान काल के अनुभवों का तादात्म्य भूतकाल के अनुभवों से न हो सकेगा। आत्मा के एकत्व की हानि होगी।

यामुनाचार्य अद्वैतवादियों द्वारा अभिमत चैतन्य के एकत्व, नित्यत्व, निर्गुणत्व एवं शुद्धत्व का खण्डन भी करते है। अद्वैतवादियों के इस सिद्धान्त को वे अनुभव विरूद्ध मानते हैं। चैतन्य किसी एक व्यक्ति का ही होता है, ऐसा अनुभव सिद्ध है। जो कि उत्पन्न होकर, कुछ काल रहकर, लुप्त हो जाता है। ज्ञातृत्व को शुद्ध चैतन्य पर भ्रम जनित अध्यास नहीं माना जा सकता। किसी ने कभी भी शुद्ध ज्ञान का अनुभव नही किया है। ज्ञान वस्तुतः

'ज्ञाता' को होता है। शकराभिमत ज्ञान की उत्पत्ति, ज्ञान एव विषय के परस्पर तादात्म्य सम्बन्ध से नही होती। किसी विषय के ज्ञान की सत्यता देश एवं काल की मर्यादा से सम्बन्धित है, न कि विषय या ज्ञान के मुख्य गुण से। ज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाणादि द्वारा होता है। प्रकार रहित अथवा गुण रहित ज्ञान का अनुभव कोई भी नही करता। अतः ज्ञान की नित्यता भी निर्मूल है।

आत्मा अनुभूति का कारक है, ज्ञाता है। ज्ञान अथवा शुद्ध चैतन्य नहीं। किसी विषय का ज्ञान 'मैं चेतना हूँ' इस प्रकार का न होकर, मुझे इसका ज्ञान है' होता है। चैतन्य पर ज्ञातृत्व को भ्रम जनित अध्यास मानने से वह अपना ज्ञातृत्व भाव खो देगा, तब हमें मिथ्या ज्ञान अपनाना पडेगा तथा चैतन्य स्वयं अज्ञान जनित अध्यास माना जाएगा। 'अह जानामि' यह ज्ञान आत्मा के 'ज्ञातृत्व' की सिद्धि करता है। ऐसा आत्मा 'साक्षी' भी है क्योकि समस्त विषय इसके साक्षित्व में प्रत्यक्ष होते हैं।

यामुनाचार्य कहते हैं कि अज्ञान का अर्थ ज्ञान की अनुपस्थिति या वह क्षण, जब ज्ञान उत्पन्न होने जा रहा हो, ये अज्ञान चैतन्य अथवा ज्ञान का अवरोधक नही हो सकता। अहकार किसी अन्य चेतना को जो उससे भिन्न है इस रूप मे अभिव्यक्त नही कर सकता कि वह चेतना अपनी भी अभिव्यक्ति प्रतीत हो। अतएव आत्मा अहंकृत चैतन्य है, जिसे हमारे समस्त अनुभवो का प्रत्यक्ष है। 'अहंकार आत्मा के ऊपर आरोपित कोई बाह्य गुण नहीं अपितु स्वरूप ही है। 'अह जानामि' ज्ञान अहंकार के गुण के रूप में प्रकाशित होता है। 'अहं' ही इस ज्ञान को धारण करता है। अतएव 'अहं' का गुण ज्ञान है। 'मैं' का अनुभव न होता तो मुक्तावस्था में कोई अधिष्ठान न होने से मुक्ति विषयक साधन एव प्रयत्न विफल हो जाते।, 'अहं' आत्मा स्वयं प्रकाशित है,

इसे अन्य कारक की अपेक्षा नही है। श्रुति प्रमाण भी मुक्त जन एव स्वय ईश्वर को 'अह' से ही उद्धृत करते है –सृजाम्यहम्।

यामुनाचार्य मानते हैं कि 'अहं' प्रत्यय का ही अस्तित्व है, ज्ञान का नही। सुख–दुःखादि अनुभव आत्मा के गुणरूप मे प्रकट होते है। अह 'स्वप्रकाश है, अतएव अजड है। यह ज्ञाता आत्मा समस्त अनुभवो का द्रष्टा भी है। चैतन्य अथवा ज्ञान अपने अधिष्ठान ज्ञाता–आत्मा से पृथक् कभी भी नही पाया जाता अतएव आत्मा ज्ञानवान् भी है। आत्मा को चैतन्य के लिए दूसरा कोई आश्रय नही है, अतः आत्मा ही स्वयं प्रकाश ज्ञानवान् तत्त्व हुआ। प्रकाश को प्रकट होने के लिए किसी अन्य प्रकाश की नही, केवल इन्द्रियो की अपेक्षा होती है। इन्द्रियॉ अपनी शक्ति प्रकट करने के लिए चैतन्य पर आश्रित है। चैतन्य अपने लिए आत्मा पर आश्रित है। ज्ञान भी आत्मा मे आधार लिए बिना प्रकट नही हो सकता। किन्तु आत्मा की स्व प्रकाश्यता किसी की भी अपेक्षा नही करती। सुख–दुःखादि चैतन्य की अवस्थाएँ भिन्न विषयो के सयोग से ज्ञान के रूप मे, आत्मा मे प्रकट होती है।

किसी विषय का प्रत्यक्ष हमे तब होता है, ज़ब चैतन्य क़िसी इन्द्रिय के माध्यम से किसी पदार्थ से सन्निकर्ष करता है। मूर्च्छावस्था अथवा सुषुप्तावस्था मे कोई विषय प्रत्यक्ष नहीं होता, न ही संस्कार बनते है, परिणामत हमे उनकी स्मृति नहीं रहती। किन्तु 'अह' ज्ञाता तब भी अपने स्वचैतन्यावस्था में रहता है। आत्मा पर कोई सस्कार नही किया जा सकता। अतएव आत्मा की स्मृति भी नही बनती।

यामुनाचार्य के अनुसार जीवात्मा सर्वव्यापी नहीं, अपितु अणुरूप है। यदि आत्मा सर्वव्यापी होती तो हमे सभी पदार्थो का ज्ञान एक साथ ही होता, किन्तु ऐसा नहीं होता। ज्ञान आत्मा का विलक्षण गुण है, स्वरूप नही। ज्ञान

की उत्पत्ति विषय के सम्पर्क से होती है, आत्मा मे स्वतः ही नहीं। अतः आत्मा ज्ञान से भिन्न ज्ञातारूप है। अहकार आत्मा का स्वरूप ही है। ये मुक्तावस्था एवं सृष्टिकाल सभी समय मे 'अह' के रूप मे ही रहती है। जीवात्मा को यामुनाचार्य स्व चैतन्य स्वरूप मानते है। यही आचार्य का विशिष्टाद्वैत दर्शन मे मुख्य योगदान भी है।

जगत् - जगत् की सत् रूप सत्ता है। आचार्य का कथन है कि जगत् का मिथ्यात्व मानने पर ब्रह्म का अनुभव भी मिथ्या हो जाएगा। जीव एवं जगत् श्रुति वाक्यो के आधार पर 'ब्रह्म' से अभिन्न रूप से सम्बद्ध है। ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है। जगत् के समस्त पदार्थ उस परम सत्ता ईश्वर से ही अपनी शक्तियॉ प्राप्त करते है। ईश्वर के बिना वे अपने कार्य–सम्पादन मे अशक्य होते है। जगत् की उत्पत्ति ब्रह्म से उसी भॉति है, जैसे अग्नि से स्फुर्लिंग अथवा सूर्य की रश्मियॉ। जीव एव जगत् उसी परम ब्रह्म से ही उत्पन्न होकर अन्त में वहीं अपना आधार प्राप्त करते है।

अद्वैतवाद के मतानुसार शुद्ध, सर्वगत एव निर्गुण 'ज्ञान' है। समस्त जीव एव जगत् मिथ्या है। समस्त पदार्थो के चैतन्य का ब्रह्म के चैतन्य से तादात्म्य सम्बन्ध माना गया है। किन्तु आचार्य ने इन मतो का खण्डन करते हुए कहा है कि शुद्ध, सर्वगत एव निर्गुण ज्ञान जैसा कुछ भी नही है। हर एक को भिन्न एव पृथक प्रत्यय का साक्षात्–ज्ञान होता है। यदि एक ही चैतन्य माने तो समस्त पदार्थो का एक साथ सार्वकालिक प्रकटीकरण मानना होगा। यह चैतन्य सच्चिदानन्द स्वरूप भी नहीं है, क्योकि इसे त्रिविधात्मक मानने पर एकतत्त्ववाद का निषेध हो जाता है। अतः जगत् की सत् सत्ता ही माननी होगी। मूल तत्त्व का सबसे छोटा अणु त्रसरेणु है जो हवा मे उडता धूल का कण है।

आचार्य यामुन 'मुक्ति' के साधन एवं मोक्षावस्था के स्वरूप के विषय मे मौन रहते है। उनका दर्शन मुख्य रूप से जीवात्मा के चैतन्य स्वरूप का विवेचन करता है। आचार्य ईश्वर एव जीव के सम्बन्धों को भी विस्तार नही देते। 'सिद्धित्रय' के आधार पर मात्र जगत् के मिथ्यात्व का निराकरण करके ही वे सन्तोष प्राप्त कर लेते है। अपने 'स्तुति–गीतो' मे वे सम्पूर्ण शरणागति का वर्णन करते है तथा ईश्वर की कृपा पर ही जीव को आश्रित मानते है[1] वे 'प्रपत्ति' को ईश्वर से मिलने का साधन कहते है। 'गीतार्थ सग्रह' मे आचार्य ने 'भक्ति' को ही जीवन के परम ध्येय की प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ एवं अन्तिम साधन माना है।

यामुनाचार्य के सिद्धान्तों को आचार्य रामानुज ने विस्तार दिया। वास्तव मे विशिष्टाद्वैतवाद के सिद्धान्तों का स्वरूप रामानुजाचार्य ही पल्लवित–पुष्पित करते है। रामानुजाचार्य के दर्शनों पर उनके आरम्भिक गुरू 'यादव–प्रकाश' का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि आचार्य 'यादव प्रकाश' के मतो का प्रत्याख्यान ही करते है, तथापि उनके अद्वैतपरक विचारों मे कुछ साम्य भी प्रतीत होता है। अतः सक्षेप मे 'यादव प्रकाश' के मतों का यहाँ उल्लेख किया गया है।

यादव प्रकाश - 'यादव प्रकाश' रामानुजाचार्य के आरम्भ के गुरू रहे है तथा बाद मे उन्होने आचार्य रामानुज का शिष्यत्व ग्रहण किया, ऐसी मान्यता है। श्री यादव प्रकाश का काल 11 वी शती माना गया है। ये काजीवरम् मे अध्यापन कार्य करते थे। इन्होने अद्वैतपरक व्याख्या पूर्ण एक स्वतन्त्र टीका

---

[1] न धर्म निष्ठोऽमि न चाऽत्म वेदी न भक्ति मा स्वच्चरवारविन्दे।
अकिचनो नान्यगति शरण्य त्वत्पादमूल शरण प्रपद्ये।। –'स्तोत्ररत्नम्' श्लोक 22

का भी प्रणयन किया। ये ब्रह्म परिणामवाद को स्वीकार करते है। जिसे रामानुजाचार्य ने भी अपने दर्शन मे स्थान दिया है।

यादव प्रकाश अभेद एव भेद दोनों को समान रूप से सत्य मानते है। उनके मत में जीव एव ब्रह्म में भेद एवं अभेद दोनों स्वाभाविक है, औपाधिक नही। वे ज्ञान कर्म समुच्चयवाद के पोषक है। ब्रह्म स्वभावतः ही जड से भिन्न एवं अभिन्न है, तथा उसी भॉति जीव से भी भिन्न एव अभिन्न है। समस्त कल्याण गुण सम्पन्न ब्रह्म ही देव मुनष्य, तिर्यक, स्थावर, नारकी–स्वर्गी, मुक्तजन इत्यादि रूपो में विविध जीव एव आकाशादि जड दोषमय परिणामों को प्राप्त भी करता रहता है, तथा विलक्षण बनकर भी रहता है। वह परब्रह्म स्वाभाविक अनन्त कल्याण गुणो से सदैव युक्त, सगुण है। ब्रह्म की चित्, अचित् एवं ईश्वर ये तीन विभिन्न अवस्था मात्र है। इन तीनो को पृथक समझना ही 'अज्ञान' है, जो जीव के बन्धन का कारण है। 'ज्ञान कर्म समुच्चय' द्वारा ही अज्ञान नष्ट होकर, मोक्ष का साधन बनता है। यादव प्रकाश के इस सिद्धान्त को 'भेदाभेदवाद', की सज्ञा दी जाती है। इस कथन मे वे कोई विरोध नही मानते कि एक ही पदार्थ भिन्न भी हो सकता है, और अभिन्न भी। ब्रह्म अपनी परिणामावस्था मे भी अपनी पुरातन गौरवपूर्ण अद्वैत स्थिति को बनाए रखता है। वे भेद को उतना ही यथार्थ मानते है, जितना एकत्व। यादव प्रकाश 'ईश्वर' को भी ब्रह्म का परिणाम मानते है। किन्तु रामानुजाचार्य उनके इस मत का खण्डन करते है। रामानुजाचार्य के अनुसार ब्रह्म एव ईश्वर मे भेद अप्रामाणिक है। ईश्वर अथवा ब्रह्म मे एकत्व भाव है। दोनों में से कोई भी निराकार अथवा भेद रहित नहीं है। अपितु ब्रह्म अथवा ईश्वर की सगुण–साकार सत्ता है। चित्–अचित् ब्रह्म के साधारण धर्म नही, अपितु ब्रह्म का शरीर है, एव ब्रह्म से अपृथक है।

आचार्य रामानुज का जीवनवृत्त

रामानुजाचार्य यामुनाचार्य के शिष्य महापूर्ण (नाम्बी) की बहिन कान्तिमति के पुत्र थे। इनके पिता का नाम केशव यज्वन् था। उनका जन्म भूतपुरी मे हुआ था। 16 वर्ष की आयु में इनके पिता ने इनका विवाह कर दिया। विवाह कार्य के पश्चात् रामानुज के पिता का स्वर्गवास हो गया। उन्होने अपने मौसेरे भाई गोविन्द भट्ट के साथ वेदान्त के निष्णात पंडित, एकतत्त्ववादी आचार्य यादव प्रकाश से शिक्षा प्राप्त की। चूकि यादव प्रकाश काची में रहते थे, अतः रामानुज भी सपरिवार काची में आकर वास करने लगे। शिक्षा ग्रहण के प्रारम्भिक काल में ही रामानुज का अपने गुरू यादव प्रकाशाचार्य से उपनिषद् के पाठ के अर्थ बोध को लेकर विरोध हो गया। रामानुजाचार्य ने 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' का अर्थ किया 'यह समस्त ब्रह्माण्ड ब्रह्म ही है– यह अर्थ तब मान्य होता जब उसके पश्चात् 'तज्जल' पद का प्रयोग न किया गया होता। ससार ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, ब्रह्म पर ही आश्रित है एवं ब्रह्म मे ही विलीन हो जाएगा। अतः इसे 'ब्रह्म से व्याप्त' कहा जा सकता है।, यथा–मछली जल मे उत्पन्न होती है, जल मे रहती है एव जल मे ही विलीन हो जाती है, अतः वह निःसन्देह जल से व्याप्त कही जा सकती है, किन्तु मछली कभी स्वय जल नहीं हो सकती। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड भी ब्रह्म से व्याप्त अवश्य है किन्तु वह ब्रह्म नही हो सकता। यादव प्रकाश ने रूष्ट होकर रामानुजाचार्य को यात्रा में गंगा में फेक देने का षडयन्त्र रचा। किन्तु गोविन्द भट्ट से इनकी जानकारी होने पर रामानुजाचार्य अनेक कष्ट सहते हुए वापस काची चले गए। वहॉ वे शूद्र जाति के 'काचीपूर्ण' नामक परमभक्त के सम्पर्क मे आए। कुछ काल पश्चात् रामानुज का अपने गुरू यादव प्रकाशाचार्य से समझौता हो गया एवं वे फिर

विद्याध्ययन करने लगे। यामुनाचार्य ने एक बार रामानुज को कांची मे देखा था। वे इनकी विद्वता से अत्यन्त प्रभावित हुए एवं इन्हें अपना शिष्य बनाना चाहा।

रामानुज का पुनः अपने यादव प्रकाश गुरू से पाठ के अर्थबोध पर विरोध हो गया एवं यादव प्रकाश ने उन्हे निकाल दिया। तब वे 'नारायण' की भक्ति मे लगकर–स्वाध्याय करने लगे। महापूर्ण से यामुनाचार्य के 'स्त्रोत्ररत्नम्' को सुनकर ये यामुनाचार्य से मिलने के लिए उद्विग्न हो गये।

ऐसी मान्यता है कि जब रामानुज आचार्य आळवन्दार (यामुनाचार्य) के पास पहुचे, उस समय मृत आचार्य के हाथ की तीन उगलिया मुडी हुई देखकर उनकी तीन इच्छाएँ अपूर्ण रह जाने का अनुमान लगाया।[1] यामुनाचार्य की मृत्यु से रामानुजाचार्य विचलित हो उठे[2] एवं कांचीपुरम लौट आए। यहा वे अपना अधिकाश समय 'काचीपूर्ण' के संसर्ग में व्यतीत करने लगे। उन्होने कांचीपूर्ण से सन्यास की दीक्षा लेने की इच्छा व्यक्त की, किन्तु कांचीपूर्ण ने उन्हें उत्तम गुरू की प्राप्ति का विश्वास दिलाया।

कुछ समय बाद रामानुजाचार्य ने काचीपूर्ण से निवेदन किया कि कुछ प्रश्न निरन्तर उन्हे उद्वेलित करते है जिनका समाधान कांचीपूर्ण वरदराज (श्रीविष्णु) से पूछ कर दें। दूसरे ही दिन काचीपूर्ण ने बताया कि वरदराज ने इन प्रश्नो का समाधान किया है।– "मै पूर्ण ब्रह्म हूँ, प्रकृति का कारण हूँ, जो जगत् का कारण है। जीव एवं जगत् का भेद स्वयंसिद्ध है। मुक्ति के साधको के लिए प्रपत्ति ही एकमात्र मार्ग है। जीवन के अन्तिम क्षणों में

---

[1] पूर्व मे 'यामुनाचार्य के परिचय' मे विस्तृत विवेचन है।

[2] रामानुजाचार्य ने अपने ग्रन्थो मे यामुनाचार्य की अपने पूज्य परमगुरू के रूप मे स्तुति की है।

स्मरण न कर पाने पर भी भक्तो की मुक्ति सुनिश्चित है। शरीरपात के अनन्तर तत्क्षण ही मेरे भक्तों को मेरी प्राप्ति हो जाती है। सर्वगुण सम्पन्न महापूर्ण की शरण मे जाओ।[1]

अपने प्रश्नो के समाधान को प्राप्त कर रामानुज ने इसका पालन किया। उन्होने महापूर्ण से दीक्षा प्राप्त कर वेदान्त के रहस्यो को प्राप्त किया। वैष्णव धर्म सम्बन्धी समस्त ग्रन्थो का अध्ययन किया। उन्होने वरदराज के समक्ष, सन्यास ग्रहण कर 'यतिराज' अथवा 'योगीन्द्र' की उपाधि धारण की। कालान्तर मे अद्वैतवाद पंडित यज्ञमूर्ति, यादव प्रकाश तथा भाई गोविन्द रामानुजाचार्य के शिष्य हो गए। अपने एक अनन्य शिष्य कुरेश की स्मरण शक्ति की सहायता से बोधायन वृत्ति के आधार पर 'श्री भाष्य' का प्रणयन किया। साथ ही 'वेदान्तसार, वेदार्थ सग्रह, वेदान्त दीपिका, तथा भगवत् गीता पर भाष्य लिखा।

उन्होने समस्त दक्षिण भारत का भ्रमण करके अनेक मन्दिरो का पुनुरूद्धार कराया, अनेक नये मन्दिर बनवाए तथा बहुत बडी सख्या मे लोगो को वैष्णव् मत मे दीक्षित किया। साधारण जनो को भक्ति का सुगम मार्ग बताने के लिए 'प्रपत्ति' का प्रवर्तन किया।

कृतित्त्व

आचार्य रामानुज की रचनाओ[1] मे विशिष्टाद्वैतवाद की समस्त शिक्षाओ की दार्शनिक, नैतिक, तथा धार्मिक पक्षो की व्यवस्थित व्याख्या प्राप्त होती है।

---

[1] श्रीमान् परम तत्त्वम् अहम्, मत मे भेद प्रपत्तिर्निरपायहेतु । नावश्यकी च स्मृतिरत्यकाले मोक्षो महापूर्ण इहार्यवार्य ।

1. श्रीभाष्य - ब्रह्मसूत्र पर आचार्य रामानुज प्रणीत विस्तृत भाष्य है। इसमें आचार्य ने अद्वैत, साख्य, न्याय, पूर्व मीमासा आदि मतो के प्रत्याख्यान पूर्वक विशिष्टाद्वैत मत का प्रतिपादन किया है। सम्पूर्ण विशिष्टाद्वैतवाद का यह सर्वप्रमुख ग्रन्थ है। इसे बोधायन वृत्ति के आधार पर विरचित माना गया है। मान्यता है कि कश्मीर मे देवी सरस्वती ने स्वयं आचार्य को 'भाष्यकार' की सज्ञा से विभूषित किया था।

2. वेदार्थ संग्रह - यह आचार्य का 'विशिष्टाद्वैत मत' पर लिखा गया स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इसमे भी आचार्य ने अद्वैत, भेदाभेदवाद, एव शैव आदि मतो की त्रुटियों का विश्लेषण करते हुए शरीर–शरीरी भाव, शेष–शेषी भाव के आधार भूत उपनिषदो के परस्पर विरोधी सूत्रो मे सामञ्जस्य स्थापित किया है।

3. वेदान्त सार - ब्रह्मसूत्रो पर यह संक्षिप्त प्रकरण ग्रन्थ है।

4. वेदान्तदीप - ये ब्रह्मसूत्रो की सक्षिप्त व्याख्या परक ग्रन्थ है।

5. गीता भाष्य - इसमे 'गीता' पर विस्तृत भाष्य द्वारा भक्ति एव प्रपत्ति का उल्लेख है।

6. शरणागति गद्य - इमसे प्रपत्ति के स्वरूप एवं महत्त्व का वर्णन है।

इनके अतिरिक्त आचार्य रामानुज के नाम से अन्य अनेक ग्रन्थ प्राप्त होते है।

7. भगवद् आराधना क्रम

8. श्रीरंग गद्य - भगवान् श्रीरगनाथ के प्रति आचार्य रामानुज की अटूट श्रद्धा एव भक्ति विषयक रचना है।

---

[1] विष्ण्वार्चा कृतम् अवनोत्सुकोज्ञानम् श्री गीताविवरणभाष्यदीप, सारान् तद् गद्यत्रयम् अकृत् प्रपन्न–नित्यानुष्ठान क्रमम् अपि योगिराट् प्रबधान् . दिव्यसूरि चरितै (एस०एन० दास गुप्ता पृ०92)

9. श्री बैकुण्ठ गद्य - इस कृति मे भगवान के निवास स्थान बैकुण्ठ के अलौकिक सौन्दर्य तथा आनन्द का वर्णन है।

10. नित्य ग्रन्थ - ये कृति भगवत्–भक्तों के नित्य कर्त्तव्यो की पथ–प्रदर्शिका है।

इन रचनाओं के प्रणयन, भारत भ्रमण, 74 पीठो की स्थापना तथा अनेक भक्त–जनों को वैष्णव धर्म में दीक्षित कर आचार्य रामानुज ने 120 वर्ष की उम्र तक वैष्णव मत एव विशिष्टाद्वैत वाद का प्रचार–प्रसार किया। यद्यपि उन्हे अनेक राजनीतिक एवं धार्मिक कष्टों का सामना करना पडा किन्तु बौद्ध धर्म के पतन के पश्चात् भारत को वेदान्तिक आध्यात्मिकता प्रदान करने एव धर्म तथा दर्शन के मध्य भेद का निराकरण करने में आचार्य रामानुज का महत्त्वपूर्ण योगदान माना जा सकता है। उन्होंने भक्ति को दार्शनिक आधार तथा दर्शन को स्थायी 'भक्ति' प्रदान की। परम्परावादी दार्शनिक होते हुए भी एक विनम्र क्रान्तिकारी की भाँति मानवता के कल्याण के हेतु उन्होंने पारम्परिक मार्ग का त्याग करने का भी दुस्साहस किया। उनके अपने ग्रन्थो मे उपनिषदो, गीता एव ब्रह्म सूत्र का वैष्णव सन्तों के विश्वास तथा मतों के साथ समन्वय करने का प्रयास किया गया है। यद्यपि उनकी मौलिकता तथा स्वतन्त्र विचार के विषय में शंका की जा सकती है, तथापि ब्रह्मसूत्र मे एकेश्वरवाद के आधार को ढूंढ निकालने के लिए 'श्रीभाष्य' मे किया गया आचार्य का प्रयत्न उनके पूर्व किये गए सभी प्रयत्नो की अपेक्षा श्रेष्ठ था।[1]

विशिष्टाद्वैतवाद

वैष्णव वेदान्त में आचार्य रामानुज का 'विशिष्टाद्वैत' सिद्धान्त एक विशिष्ट महत्त्व रखता है। रामानुजाचार्य ने निर्गुण ब्रह्मवाद एवं सगुण

---

[1] प्रो० कीथ · Encyclopedia of Religion and Ethics Vol. 10, Page 572

ईश्वरवादी विचारधारा मे सरस सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया। 'भक्ति' एव प्रपत्ति; को शास्त्रीय प्रतिष्ठा एवं दर्शन के क्षेत्र में मान्यता दिलाने वाले प्रथम आचार्य श्री रामानुज ही माने जाते है। रामानुजाचार्य के सिद्धान्तों पर आळवार–सन्तो की भक्ति विषयक सधारणा का प्रभाव सर्वातिशायी दृष्टिगत है। आळवार–सन्तो के जीवन का एकमात्र आधार एव उद्देश्य था प्रपति अथवा विशुद्ध प्रेमाभक्ति। नाथमुनि, अन्तिम आळवार 'मधुर–कवि' के शिष्य माने गए है, जो वैष्णव दर्शन के प्रथम आचार्य के रूप मे भी जाने जाते हैं। नाथमुनि ने ही आळवारों के स्तुतिपरक छन्दों को क्रमबद्ध करके 'नालायिर–दिव्य–प्रबन्धम्' ग्रन्थ का स्वरूप प्रदान किया।

नाथमुनि की इस आचार्य परम्परा मे उनके पौत्र 'यामुनाचार्य' का नाम लिया जाता है। ये आळवन्दार नाम से भी अभिहित हुए हैं। यामुनाचार्य के अनुसार तीन तत्त्वों की सत्ता है– सर्वज्ञ–सर्वशक्तिमान ईश्वर, स्वचेतन जीव एव जड जगत्। आचार्य यामुन ने आळवारों की भक्ति का वैदिक ज्ञान एवं कर्म के साथ समन्वय का सर्वप्रथम प्रयास किया तथा तमिल वेद (नालयिर दिव्य प्रबन्धम्), एवं संस्कृत वेद (ऋक्, यजुः, साम, अथर्व) में सामञ्जस्य स्थापित किया। अपने ग्रन्थ 'आगम प्रामाण्य' में इन्होने तमिल आगमो को वेदो के समकक्ष बताया एवं 'सिद्धित्रय' ग्रन्थ मे 'विशिष्टाद्वैत' के सिद्धान्तो का सर्वप्रथम प्रतिपादन किया। रामानुजाचार्य ने आचार्य यामुन के मतों को ही विस्तृत एव प्रतिष्ठित स्वरूप प्रदान किया है। चित् तत्त्व, जीव एवं अचित् तत्त्व जगत् को परम ब्रह्म (ईश्वर) का शरीर तथा ईश्वर को शरीरी संज्ञा प्रदान कर यह प्रतिपादन किया कि ईश्वर की सिद्धि तर्क अथवा अनुमान द्वारा नही की जा सकती। केवल आगम एव शास्त्रवचन ही इसमें समर्थ हैं।

बादरायण प्रणीत 'ब्रह्मसूत्र' पर 'श्री भाष्य' के प्रणयन द्वारा आचार्य रामानुज ने अपने विशिष्टाद्वैत मत की स्थापना की। इसमे अन्य मतानुयायियों यथा अद्वैतवाद, जैन, बौद्ध, न्याय, सांख्य, पूर्व मीमांसा आदि का प्रत्याख्यान भी किया है। इसके अतिरिक्त गीता भाष्य, वेदान्तसार, वैदान्त दीप, गद्यत्रय एवं वेदार्थ संग्रह प्रभृति ग्रन्थों का भी प्रणयन करके अपने सिद्धान्तों को पुष्टता एवं प्रसार किया।

आचार्य रामानुज अपने विशिष्टाद्वैतवाद का प्रारम्भ ही आचार्य शंकर के मायावाद एवं निर्विशेष–निराकार ब्रह्म के खण्डन से करते हैं। वे आचार्य शंकर के मायावद को नितान्त कोरी कल्पना मानते है। रामानुजाचार्य के अनुसार द्वैत रहित अद्वैत एवं अद्वैत शून्यता दोनों ही विचार असम्भव हैं क्योकि भेद के बिना अभेद, एवं अभेद के बिना भेद सिद्ध नही हो सकता। भेद एवं अभेद अथवा द्वैत एव अद्वैत सदैव साथ रहते है। इसमें पार्थक्य अथवा भिन्नता संभव नही। तत्त्व सदा ही द्वैत विशिष्ट अद्वैत होता है। इसी को संक्षेप में 'विशिष्टाद्वैत' संज्ञा से अभिहित किया है।

विशिष्टाद्वैत का तात्पर्य - आचार्य रामानुज शुद्ध अद्वैत या अभेद एव शुद्ध द्वैत अथवा भेद दोनों को भी कल्पना मात्र मानते हैं। उनके अनुसार द्वैत एवं अद्वैत दोनो ही अपूर्ण सिद्धान्त है। आचार्य शंकर कृत परब्रह्म एव अपरब्रह्म अथवा ईश्वर का भेद असिद्ध होगा। आचार्य रामानुज के मतानुसार 'ब्रह्म' ईश्वर का ही पर्याय है। वह ईश्वर निर्गुण, निर्विशेष, निर्धर्मक, निराकार न होकर सगुण सविशेष, साकार 'श्रीविष्णु' हैं।[1] इनका निवास स्थान वैकुण्ठ है।

---

[1] वासुदेव पर ब्रह्म कल्याण गुण सयुक्त।
भुवनानामुपादन कर्त्ता जीव नियामक 11 – सर्वदर्शन सग्रह (4/17/12) पृ० 19

वह ईश्वर चित् एव अचित् से विशिष्ट है। चिदचिद् उनका शरीर है तथा 'वे' चिदचिदात्मक जीव–जगत के नियन्ता, धर्त्ता, शेषी एव शरीरी परब्रह्म है।[1]

वेदान्त वेद्य परमात्मतत्त्व 'ईश्वर' ही 'अद्वैत' है। अद्वैत सदैव द्वैत विशिष्ट होता है। 'ईश्वर' भी चिदचिदात्मक जीव–जगत् विशिष्ट 'अद्वय' तत्त्व है। जिस प्रकार से शरीर अपनी आत्मा से अपृथक् सिद्ध भाव से रहता है तथा विलग होते ही विनष्ट हो जाता है, उसी भाँति का सम्बन्ध जीव–जगत् का ईश्वर के साथ है। परमात्मा से भिन्न होते हुए भी चिद्चित् परमात्मविशेषणतया उससे अभिन्न ही है। इसी अर्थ का द्योतन 'विशिष्टाद्वैत' पद करता है। 'विशिष्टाद्वैत' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार से है–

"द्वयोर्भावः द्विता, द्वितैव द्वैतम्, भेद इत्यर्थः , न द्वैतमद्वैतम्, अभेद इत्यर्थः; विशिष्टस्य अद्वैतं विशिष्टद्वैतम्; वैशिष्टयञ्च चिदचिदोः, शरीर–शरीरी भाव सम्बन्धेन, द्वैतं चिदचिदात्मक रूप, अद्वैत ईश्वरः।

आचार्य रामानुज का मत है कि परम तत्त्व सदा–सर्वदा द्वैत विशिष्ट अद्वैत रहता है। द्वैत विशेषण रूप है एवं अद्वैत विशेष्य रूप। विशेषण युक्त विशेष्य ही 'विशिष्ट' हुआ। द्वैत एव अद्वैत मे अपृथक्सिद्ध सम्बन्ध है। रामानुजाचार्य द्वैत एवं अद्वैत को सत् सत्तावान् एवं अपृथक् मानते हुए भी द्वैत की सत्ता गौण एवं अद्वैत की मुख्य सत्ता स्वीकार करते है। अद्वैत आत्म स्वरूप द्रव्य एव अंगी है, तथा द्वैत शरीर रूप एवं अद्वैत का गुण एव अंग है। द्वैत अपनी सत्ता के लिए अद्वैत तत्त्व पर आश्रित रहकर उससे नियन्त्रित होता है। यही 'विशिष्टाद्वैतवाद' का तात्पर्य है। इसमे परमात्मा अद्वैत विशिष्ट तत्त्व है एव द्वैत उसका विशेषण एव शरीर। रामानुज इसमें समवाय सम्बन्ध

---

[1] 'सर्व परमपुरूषेण सर्वात्मना स्वार्थे नियाम्य धार्य तच्छेषतैक स्वरूपम् इति सर्व चेतनाचेतन तस्य शरीर।" श्रीमाष्य (2/1/9)

स्वीकार नहीं करते है, क्योंकि समवाय सम्बन्ध वाह्य सम्बन्ध होने से उसमे अनवस्था दोष प्रसक्त होता है। द्वैत एवं अद्वैत का सम्बन्ध अपृथकसिद्ध ही है।

ईश्वर अथवा वासुदेव (श्री विष्णु) ही अद्वय तत्त्व है। जीव एवं जगत् दोनों 'द्वैत' हैं एवं उस ईश्वर के विशेषण अथवा गुण हैं। जीव चेतन, भोक्ता, चित् तत्त्व है। तथा 'जगत्' जड, भोग्य, अचित् तत्त्व। दोनों–चित् एवं अचित् तत्त्व नित्य एवं परस्पर स्वतन्त्र द्रव्य होते हुए भी अपनी सत्ता के लिए ईश्वराश्रित हैं। जीव अपने जड शरीर का आत्मा हैं एव 'ईश्वर' जीव (एवं जगत्) का भी परमात्मा है। शरीर एव आत्मा का यह सम्बन्ध अपृथक सिद्ध है। इस जड शरीर का आत्मा 'जीव' धर्ता, नियन्ता तथा शेषी है। समस्त चेतनाचेतन पदार्थ उस परम पुरूष 'ईश्वर' द्वारा धारण किये जाने से 'ईश्वर' इस चिदचिदात्मक पदार्थ का धर्ता, नियन्ता, शेषी तथा विशिष्ट है।[1]

चिद्चिद् एवं ईश्वर के परस्पर सम्बन्धों को श्री सम्प्रदाय के प्रतिष्ठित आचार्य रामानुज अनेक संज्ञाओं से अभिव्यक्त करते है– यथा–गुण गुणी भाव, धर्म–धर्मी भाव, विशेषण–विशेष्य भाव, प्रकार–प्रकारी भाव, अश–अशी भाव अंगागिं भाव, शरीर–शरीरी भाव, धार्य–धर्त्ता भाव, शेष–शेषी भाव, नियम्य–नियामक भाव इत्यादि। रामानुजाचार्य के अनुसार चिदचिदात्मक द्रव्य एव ईश्वर का यह शरीरात्म भाव सम्बन्ध स्वाभाविक एव नित्य है। प्रमाण स्वरूप आचार्य श्रुतिवाक्यों को भी उद्घृत करते हैं। यथा–

'यस्यात्मा शरीर' जिस परमात्मा का यह आत्मा शरीर है

'जगत्सर्व शरीरं' ते समस्त जगत् तुम्हारा ही शरीर है

'तत् सर्व वै हरेस्तनु' यह सब हरि का शरीर है

---

[1] चिदचिद् विशिष्ट ईश्वर।

'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनाना सर्वात्मा' इति प्रशस्तितृत्वरूपात्मत्वेन सर्वेषा जनानामन्तः प्रविष्टः, अतः सर्वात्मा सर्वेषां जनानामात्मा, सर्व चास्य शरीरमिति विशेषतो ज्ञायते ब्रह्मात्मकत्वम्' परमात्मा प्रशासक के रूप में इन सभी जीवो के अन्दर प्रविष्ट है, अतः परमात्मा सर्वात्मा है, सभी की आत्मा है, सब इसी का शरीर है – 'वेदार्थ सग्रह'

और भी, 'सर्वस्य चिदचिद्वस्तुनो ब्रह्म शरीरत्वात् सर्व शरीरं सर्व प्रकारं सर्वशब्दैर्ब्रह्मैवाभिधीयत् (समस्त चिदचिद्वस्तुएँ ब्रह्म का शरीर होने से, ब्रह्म आत्मा बनकर इन सभी को धारण करता है, सर्व शरीर वाला बनकर सर्वरूप से अवस्थित यह ब्रह्म ही उन सभी शब्दों से, जो शरीरों–चिदचिद्–के वाचक है, अभिहित होता है– वेदार्थ सग्रह

रामानुजाचार्य 'ईश्वर' को सजातीय–विजातीय भेदों से रहित मात्र स्वगत भेद युक्त वर्णित करते हैं, क्योंकि न तो उसकी भाँति, न ही उससे भिन्न, किसी स्वतन्त्र द्रव्य की सत्ता है। उसका शरीर तो नित्य एवं परस्पर भिन्न चिदचित् तत्त्वो से निर्मित है। ये स्वगत भेद भी नित्य एवं स्वाभाविक हैं। सद् ब्रह्म अपने चेतनाचेतनात्मक प्रपञ्च का उभयविध[1] कारण है। चिदचित् पदार्थ ईश्वर पर उसी प्रकार से निर्भर हैं, जिस प्रकार हस्तपादादि शरीर पर। ईश्वर इनके अन्तर्यामी रूप में इनके भीतर ही विद्यमान है।

ईश्वर अथवा परब्रह्म

रामानुजाचार्य परबह्म की सगुण, सविशेष रूप से 'ईश्वर' के रूप मे प्रतिष्ठा करते हैं। उनके मतानुसार चेतनाचेतन तत्त्वों से विशिष्ट 'श्रीमन्नारायण' ही अद्वय तत्त्व है।[2] वे ईश्वर विभु, सच्चिदानन्द स्वरूप, नित्य

---

[1] उपादान कारण एव निमित्त कारण दोनो।

[2] श्रीमन्नारायण एव चिदचिद्विशिष्टोऽद्वैत तत्वम् – (यतीन्द्र मत दीपिका–श्रीनिवास

विभूति हैं। ब्रह्म का स्वरूप प्राकृत गुणो से रहित हैं अतएव वह निर्गुण भी है। इसकी मुख्य विशेषता चिदचिदात्मक स्वरूप होना है। सृष्टिकाल में ये चिदचित् ब्रह्म में ही स्थूलावस्था मे रहते हैं, किन्तु प्रलयावस्था में वे ही सूक्ष्मावस्था मे होते हैं। चिदचित् की परस्पर स्वतन्त्र सत्ता होते हुए भी ये ईश्वराश्रित है।

प्रलयकाल में जीव तथा जगत् के सूक्ष्मरूपापन्न होने से तत्सम्बद्ध ईश्वर 'कारण–ब्रह्म' कहलाता है, तथा सृष्टिकाल मे चिदचित् के स्थूल रूपापन्न होने से कार्य–बह्म कहा जाता है।[1] 'एकमेवाद्वितीयम्' श्रुति वाक्य इसी अव्याकृत ब्रह्म की घोषणा करता है।

रामानुजाचार्य मानते है कि चिदचित् पदार्थो का 'ईश्वर' के साथ 'अपृथक्सिद्ध' सम्बन्ध है। जीवात्मा का शरीर के साथ जो सम्बन्ध है, वही सम्बन्ध 'ईश्वर' का चिदचित् के साथ है। इसे ही 'शरीर–शरीरीभाव' संज्ञा से आचार्य अभिहित करते हैं। ईश्वर जीव एवं जगत् का आश्रय है तथा वही उन्हें कार्य में प्रवृत्त करता है, नियन्त्रित करता है। नियामक ईश्वर विशेष्य तथा नियम्य जीव–'जगत् विशेषण रूप है। आचार्य के अनुसार ये यथार्थ सत्ता एक व्यवस्थित पूर्ण इकाई है, जो अपने स्वरूप को नाना प्रकार के भेदो मे भी स्थिर रखती है। उस परम यथार्थ सत्ता में, जिसे आचार्य 'ईश्वर' कहते है, निश्चय, सीमितता, भेद, अन्यता जो साथ–साथ विलीन हो जाते हैं, ये सब अन्तर्निहित है एवं उस एक मे एकत्रित है। बह्म मे अपने भीतर ही

मिश्र–प्रथमोवतार पृ०3)

[1] वैष्णव सम्प्रदाय का साहित्य और सिद्धान्त–आचार्य बलदेव उपाध्याय।

स्वगत भेद है और वह एक सश्लिष्ट पूर्ण इकाई है जिसमें आत्माएँ तथा प्रकृति अर्थात् जीव एवं जगत् उसके लिए महत्त्व की सत्ताएँ है।[1]

वह ब्रह्म 'सर्वज्ञ' है। उसे सभी पदार्थ का प्रत्यक्ष अन्तर्ज्ञान है। सत् चित् तथा आनन्द ये ब्रह्म को एक विशेष स्वरूप एवं व्यक्तित्व प्रदान करते है। चिदचित् रूप मे 'अन्तर्यामी' के रूप मे व्याप्त रहकर वह उनका नियमन करता है। नियामक ईश्वर का स्वरूप 'विभु' है। ब्रह्म का व्यक्तित्व सर्वोपरि एवं पूर्ण है। वह समस्त अनुभवों को अपने अन्दर धारण करता है एवं अपने से वाह्य किसी अन्य पदार्थ पर निर्भर नहीं है।

ईश्वर नियन्तृत्व, असीमता, ज्ञान, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति, तेज, अतिशयता एवं 'असंख्य कल्याण गुणों से युक्त है। यद्यपि ईश्वर के ये सभी गुण स्वयं में अन्यो से भिन्न है, तो भी वे सभी एक ही सत्ता से सम्बद्ध हैं एवं उस ईश्वर की अखण्डता में विभाग नहीं उत्पन्न करते।[2] ईश्वर के इन्ही गुणों से उसका उपास्यत्व एवं प्राप्यत्व सिद्ध होता है। ये सभी गुण जीव–जगत् के कल्याण के निमित्त ही है।

'निर्गुण' पद का ईश्वर के प्रति प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों का भी तात्पर्य है–प्राकृत एवं त्याज्य जरा मरणादि गुण राहित्य, ऐसा आचार्य रामानुज का मानना है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के समय में भी ईश्वर के सविशेषत्व की ही प्रतीति होती है। परब्रह्म परमेश्वर का सविशेष स्वरूप प्रतिपादन ही समस्त श्रुतिवाक्यो का उद्देश्य है तथा वे इसी सविशेष–ब्रह्मज्ञान द्वारा मोक्ष की सिद्धि बताते हैं। सभी ब्रह्म–विद्याओ में भी सगुण ब्रह्म ही

---

[1] भारतीय दर्शन Vol II – डा. राधा कृष्णन पृ० 599

[2] भारतीय दर्शन Vol II - डा० राधाकृष्णन पृ 600

'उपास्य' कहा गया है।[1] ईश्वर के ये समस्त कल्याण गुण स्वभाविक एव सनातन हैं।[2] ईश्वर अपने तात्विक गुणों का आधार है एवं उनका भी आधार है जो उस पर आश्रित है।

आचार्य शंकर ने ब्रह्म को ज्ञान मात्र माना है, ज्ञाता नही। किन्तु आचार्य रामानुज का ईश्वर ज्ञप्ति भी है, ज्ञाता भी, ज्ञान रूप भी है, ज्ञानाश्रय भी। ज्ञानरूप होने से ब्रह्म का आनन्दमय होना भी सिद्ध ही है। रामानुजाचार्य ईश्वर के सच्चिदान्द स्वरूप को इस प्रकार से व्याख्यायित करते है। 'सत्' पद ब्रह्म की सत्ता का द्योतन करता है। 'चित्' पद से ब्रह्म का चैतन्य अतएव स्वप्रकाशता लक्षित होती है। चैतन्य रूप होना ही प्रकाशकता है। चराचर जगत् मे जहां भी आनन्द है, वह ब्रह्मानन्द की ही आशिक अभिव्यक्ति है आनन्द के अधिक्य के कारण ही ब्रह्म 'साकार' है। निराकार का तात्पर्य है, निरानन्द, किन्तु ब्रह्म निराकार नहीं अतएव वह विरूद्ध धर्माश्रय भी है। ब्रह्म में अन्य पदार्थो की भाँति विप्रतिपत्ति नही है।

ब्रह्म के 'सगुण' स्वरूप होने से, वह गुणो एवं स्वरूप दोनो से अनन्त है। जीव–जगत् आदि विभिन्न रूपों में परिणत होते हुए भी नित्य–अविकारी है। अनन्त ज्ञानानन्द ही ईश्वर का स्वरूप है। उसके असख्य गुण पराकाष्ठा में पहुंचे हुए हैं। अन्य सभी चिदचित् पदार्थ उसके अंश मात्र से ही सत् हैं। श्रुतिवाक्य भी ब्रह्म के ज्ञातृत्व, सत्यता, अनन्ता आदि की पुष्टि करते हैं। यथा–'सत्यज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'य· सर्वज्ञः सर्ववित्'।

---

[1] शक्यते वक्तुम्। सविशेष विषयत्वात् सर्वप्रमाणानाम् – श्रीभाष्य (1/1/1)
[2] श्रीभाष्य (2/1/5)

ज्ञातृत्व का तात्पर्य है–ज्ञानगुणाश्रयता। ज्ञानस्वरूप उस ब्रह्म की ज्ञानरूपता मणि, सूर्य, प्रदीप आदि की भांति ही मानी जानी चाहिए। यह सर्वप्रकाशक[1] पुरूष विज्ञाता है उसका विज्ञान कभी विलुप्त नहीं होता।

यद्यपि रामानुजाचार्य ब्रह्म की अद्वय सत्ता मानते है तथापि इनका 'अद्वैतवाद' 'शंकराचार्य के अद्वैतवाद' से भिन्न प्रकार का है। रामानुजाचार्य के मतानुसार जीव एवं जगत् को भी सत्य स्वीकार किया जाता है, ब्रह्म का अंश मानकर। वे ब्रह्म से पृथक् इनकी सत्ता नही मानते। धर्मी ईश्वर के जीव–जगत् विशिष्ट धर्म हैं। चिदचित् ब्रह्म की ही अभिव्यक्तियॉ है। रामानुज परब्रह्म को अखण्डैकरस ही स्वीकार करते हैं। ब्रह्म व्यापक है, विभु है एवं देश काल वस्तुगत सीमाओं से अपरिच्छिन्न है।

'ईश्वर' एक होते हुए भी भक्तों की मुक्ति एवं सहाय्य हेतु पाँच रूपों में अभिव्यक्त होता है– पर, व्युह, विभव, अन्तर्यामी, अर्चावतार।

1. पर - ये ईश्वर का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप है। वे परात्पर 'नारायण' या 'वासुदेव' के रूप में व्यक्त होते है।[2] पररूप से भगवान् त्रिपाद् विभूति में विराजमान रहते है। त्रिपाद विभूतिस्थ भगवान् नारायण का नित्यमुक्त जीव सेवन किया करते है। श्री वैकुण्ड नामक दिव्य लोक में ये श्री देवी, भू–देवी, तथा नीलादेवी से सुसेवित रहते है।[3]

ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य एवं तेज इन छह कल्याणकारी गुणो से युक्त, समस्त भुवनो के उपादान कारण, निर्माता, जीवो के नियामक,

---

[1] न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारक, नैमा विद्यतो भान्ति कृतो यमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्व तस्य भासा सर्वमिद विभाति–मुण्ड० 2/2/11

[2] वासुदेव· पर ब्रह्म कल्याणगुणसयुक्तः। भुवनानामुपादान कर्त्ता जीवनियामक·।। सर्वदर्शन सग्रह–(12) पृ० 91

[3] "वैकुण्ठे तु परे लोके श्री सहायो जनार्दन·। उभाभ्या भूमिनीलाम्या पार्श्वद्वय सुशोभित ।। पाञ्चरात्र।

कल्याणकारी विग्रह धारण किये हुए चतुर्भुज होकर शंख, चक्र, गदा, पदम् इन द्विव्यायुधों से सुशोभित परब्रह्म श्री वासुदेव ही हैं।[1] मुक्त जन इन्हे ही प्राप्त करने की आकाक्षा रखते है।

2. व्युह - पर वासुदेव ही उपासना तथा सृष्टि आदि कार्यो के लिए जो वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरूद्ध इन चार रूपों को धारण कर लेते हैं, उसे ही ईश्वर का 'व्युह' रूप कहा जाता है।[2] वासुदेव रूप से मोक्ष, संकर्षण रूप से दुष्टों का संहार, प्रद्युम्न रूप से सृष्टि रक्षा, अनिरूद्ध रूप से धर्मरक्षा के हेतु इन चार विग्रहो का श्रीभगवान् में स्वेच्छया प्राक्ट्य होता हैं। गुरू–शिष्य, भावापन्न ब्राह्मण, कर्त्तव्य बुद्धि पूर्वक इन चतुर्व्युह की उपासना करते है। उनमें वासुदेव षड्गुण्य परिपूर्ण, संकर्षण बल एवं ज्ञान युक्त, प्रद्युम्न ऐश्वर्य एवं वीर्य युक्त तथा अनिरूद्ध शक्ति एव तेज से परिपूर्ण रहते हैं। वासुदेव के व्युह रूप का अनुभव नित्य मुक्त जीव ही कर पाते हैं। यह वासुदेव रूप पर वासुदेव से भिन्न भगवत् तत्त्व है।[3]

3. विभव - राम, कृष्ण आदि अवतार ही विभव है।[4] 'विभव' से तात्पर्य श्रीभगवान् के मत्स्य, कच्छप, राम, कृष्ण आदि 24 अवतारो से है। इसमें भगवान् देव–मनुष्यादि के सजातीय रूप से अवतीर्ण होते है। भगवान् के अवतार के अनेक भेद हैं, यथा–मुख्यावतार, गौणावतार, पूर्णावतार, उपास्यावतार, अनुपास्यावतार। उनके अवतार कर्म प्रेरित नहीं अपितु दुष्टों का निरासन करके सज्जनों की सुरक्षा हेतु अपनी इच्छा से धारण किये जाते

---

[1] ज्ञानशक्त्याद्यनन्त कल्याणगुणगणविशिष्ट परब्रह्मपरवासुदेवादि शब्दवाच्यो नारायणः। – यतीन्द्र मतदीपिका

[2] वासुदेवाख्य पर ब्रह्मैवाश्रित वत्सल स्वाश्रित समाश्रयणीयत्वात् स्वेच्छया चतुर्धाऽवतिष्ठत् इति हि तत्प्रक्रिया।–श्री भाष्य (2/2/41)

[3] भारतीय दर्शन– आलोचन एव अनुशीलन–चक्रधर शर्मा पृ. 297

[4] विभवो हि नाम रामकृष्णादि प्रादुर्भावगण. – श्री भाष्य–पृ० 810

है। श्री भगवान् के विभवावतार की संख्या अनन्त है। रामानुजाचार्य ने 'गीता भाष्य' की प्रस्तावना में कहा है कि 'ईश्वर ने अपनी अनन्त दया से नानाविध रूप धारण किये किन्तु ईश्वरत्व को भी स्थिर रखा।'[1] इनमें मुख्य विभव अथवा मुख्यावतार भगवान के अंश, अप्राकृत देह विशिष्ट है। ये मुमुक्षुओं के उपास्य हैं। साहंकार जीवों में अधिष्ठित गौण विभवो की उपासना नही की जाती, तथापि ये भी दिव्य स्वभाव युक्त होते हैं।

4. अन्तर्यामी - चिदचित् रूप विश्व में आत्मा के रूप में व्याप्त रहकर उसका नियमन करना 'ईश्वर का अन्तर्यामी' रूप है।[2] अन्तर्यामी रूप का वर्णन करते हुए भगवान स्वय गीता में कहते हैं– "ईश्वर· सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुनः। तिष्ठति" अर्थात् ईश्वर सभी जीवों के हृदय में अन्तर्यामी रूप से सदा विद्यमान रहते है। वे जीवों का साथ कभी नहीं छोड़ते। उनका वास जीवो के हृदय–कमल में होता है।

परमात्मा के इस अन्तर्यामी रूप का ही योगिजन, साधना–सप्तानुगृहीत अन्तःकरण के हो जाने पर, अष्टांग योग के क्रम से, निर्विकल्प समाधि की अवस्था मे पहुंच कर, तैलधारावदविच्छिनस्मृति–सन्तान के द्वारा, क्रमशः विशद, विशदतर, विशदतम तथा अन्ततः यथावत् रूप से साक्षात्कार करते हैं।[3]

5. अर्चावतार - ईश्वर का यह पॉचवां रूप है। जिसमे वे भक्तों पर असीम कृपा के कारण श्रीरगम् आदि के प्रसिद्ध मन्दिरो की मूर्तियों के रूप मे प्रकट होते हैं। ये भगवान् का जीव के प्रति सुलभतम रूप है। श्रीभगवान् का यह

---

[1] श्रीमद्भगवत् गीता भाष्य–रामानुजाचार्य– पृ० 11

[2] य पृथित्वा तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो य पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीर यः पृथिवीमन्तरो यमयति, एष ते आत्मा अन्तर्याम्यमृत – वृह० (3/7/3)

[3] योगीन्द्र मत दीपिका पृ० 256

रूप जीवो के लिए देश और काल के विप्रकर्ष से रहित है। भगवान् की वे मूर्तियॉ भी दिव्य मगल विग्रह रूप होती है। आर्चावतार मे भगवान् अपने जगन्नियन्तृत्व गुण का त्याग करके स्वय अर्चक–परतन्त्र हो जाते है। किन्तु षड्गुण परिपूर्ण रहते हैं।

रामानुजाचार्य जो जीव को ब्रह्माश स्वीकार करते है, उसमें खण्ड भावना नही है।[1] विशिष्ट वस्तु का विशेष ही उसका अंश होता है, यथा प्रकाश सूर्य का गुण गुणी का, जीव–ब्रहम का। वह जीव के समस्त ज्ञान एव कर्मो का नियन्त्रक है।

विविध रूपो मे अवतीर्ण अथवा परिणत ब्रह्म, वास्तव मे कूटस्थ एव अपरिणामी है। यहां परिणाम से तात्पर्य दुग्ध–दधिवत् नही, अपितु स्वर्ण–कुण्डलवत् है। ब्रह्म ही सृष्टि की रचना एवं विलय की अवस्थाओ में क्रमशः प्रकट एव अप्रकट रूप से स्थित रहता है। ब्रह्म जीवात्माओ के सुख–दुःखादि गुणो से रहित है। ब्रह्म की सृष्टि रूप परिणामात्मक क्रिया अचित् मे साक्षात् एवं चिद् मे उसके धर्मभूत ज्ञान के माध्यम से होती है।

यद्यपि रामानुजाचार्यानुसार 'ईश्वर सर्वोच्च सत्ता के रूप मे अनादि, अनन्त, नियन्ता, शासक है, फिर भी अव्यवस्था एव बुराई के नाश हेतु ससार मे स्वेच्छया विभिन्न रूपो मे अवतरित होता है। अवतारो के तात्पर्य का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेने पर जीव मुक्ति प्राप्त करके ईश्वर संसर्ग को आनन्द प्राप्त करने मे समर्थ हो जाता है।[2] ईश्वर के अवतरण का मुख्य कारण अपने

---

१ एकवत्स्वेक देशत्व हि अशत्वम् विशिष्टस्यैकस्य वस्तुनो विशेषणमाश एव – श्रीभाष्य (2/3/45)

२ मदीयदिव्य जन्मचेष्टितयाथात्म विज्ञानेन विध्वस्तसमस्तमत्समाश्रयण विरोधि पाप्मा अस्मिन् एव जन्मनि यथोदित प्रकारेण माम् आश्रित्य मदेक प्रियो मदेक चित्तो माम् एव प्राप्नोति–गीता भाष्य–रामानुज 4/9

भक्तो को दर्शन देकर उनके कष्टों का निवारण, दुष्टो के दण्ड एव धर्म तथा समाज की रक्षा है।[1]

आचार्य रामानुज सर्वोपरि परमात्मा ब्रह्म एवं ईश्वर का एकाकार स्वीकार करते है, जो श्रेष्ठतम गुणो से परिपूर्ण है। सर्वश्रेष्ठ यथार्थ सत्ता ब्रह्म का जगत्–जीव शरीर अथवा विशेषण है। यह आदर्श जगत् ईश्वर में अन्तर्निहित है। रामानुजाचार्य उस परम ईश्वर का अद्वैत को इस प्रकार निरूपित करते हैं– "जब समाधि मे बैठकर एक भक्त ब्रह्म का अनुभव करता है, जिस अनुभव में निरपेक्ष आनन्द का ही अनुभव होता है तो वह ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ को नहीं देखता, क्योंकि समस्त वस्तुओं का संगृहीत पुञ्ज ब्रह्म के स्वरूप एवं वाह्याभिव्यक्ति (विभूतियो) में समाविष्ट है।[2]

ईश्वर की अनन्त पूर्णाता मे 'लक्ष्मी' एक ऐसी शक्ति स्वरूपा है, जो सनातन काल से 'श्री विष्णु' की सहगामिनी मानी गयी है। श्री लक्ष्मी का व्यक्तित्व ईश्वर से पृथक सत्ता के रूप मे माना जाता है। ये ईश्वर की सृजनात्मक शक्ति का काल्पनिक प्रतीक है। परवर्ती वैष्णव–धर्म में इन्हे विश्व की दिव्य माता का स्थान दिया गया है। ईश्वर 'न्याय' का प्रतीक है तो लक्ष्मी 'दया की'। ये दोनों ही गुण परमेश्वर मे एक साथ सयुक्त है। उनका सम्बन्ध सूर्य एवं रश्मि का अथवा पुष्प एवं सुगन्ध का माना जा सकता है।

आचार्य रामानुज का 'ईश्वर' उदासीन निरपेक्ष सत्ता नही, वरन् हमारे

---

[1](क) साधव उक्तलक्षण धर्मशीला वैष्णवग्रेसराः मत्समाश्रयणे प्रवृत्ता मन्नाय कर्म स्वरूपाणाम् – गीता भाष्य (4/8)
(ख) 'परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्म सस्थापनार्थाय सभवामि युगे–युगे। गीता (4/8)

[2] श्रीभाष्य – 1/3/7

जीवन के अनुभवो एवं उद्देश्यों मे 'अन्तर्यामी' रूप मे हृदयस्थ प्रदेश मे विद्यमान है। ये चिदचित् विशिष्ट 'ईश्वर' जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एव लय का कारण है। ये जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान हेतु है।

माया की अवधारणा

अधिकाश दार्शनिक सिद्धान्त 'माया' को ईश्वर की सृष्टिरचना की 'शक्ति' के रूप मे स्वीकार करते है। वैदिक काल से ही माया को एक शक्ति स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद मे माया इन्द्र की शक्ति के रूप मे जानी गयी है।[1] अद्वैतवादी आचार्य शकर 'माया' को 'अविद्या' का ही पर्याय मानते हैं, जो ब्रह्म की ऐसी आवरण शक्ति है जो परम ब्रह्म के तत्व ज्ञान को अपने भ्रम द्वारा अच्छादित किये रहती हैं। यद्यपि परम तत्त्व सर्वथा निर्विशेष, निर्गुण है, विशेषों से युक्त मानने पर उसकी व्यापकता सीमित हो जाती है। सम्पूर्ण जगत् माया रूप है, वस्तुतः माया एव जगत् का कोई अस्तित्व नही है। माया की अवधारणा मात्र जगत् की ब्रह्म के साथ अन्विति हेतु की गयी है। ब्रह्म ही अद्वय सत्ता है। माया तो अपर ब्रह्म की उपाधि मात्र है। अपरब्रह्म भी परब्रह्म का ही माया जन्य विकल्प मात्र है।[2] माया की दो प्रकार की शक्तियॉ है—आवरण शक्ति एव विक्षेप शक्ति। आवरण शक्ति द्वारा ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का लोप करके विक्षेप शक्ति द्वारा माया अन्य जगतादि रूप की सृष्टि करती है। शकराचार्य माया को अनिर्वचनीय मानते हैं, क्योकि वह सत्—असत् दोनो से विलक्षण कही गयी है।

---

[1] इन्द्रो मायाभि पुरूरूप ईयते ऋग्वेद 6/48/18

[2] यथा स्वय प्रसारितया मायया मायवी त्रिष्वपि कालेषु न सस्पृश्यते, अवस्तुत्वात्, एव परमात्मापि ससार मायया न सस्पृश्यत इति। – शाकर भाष्य (2/1/9)

आचार्य शंकर के मायावाद का खण्डन - समस्त वैष्णवाचार्य शकराचार्य के मायावाद विषयक संधारणा का खण्डन करते है। जिसमें रामानुजाचार्य अग्रगण्य है। माया अज्ञान रूप असत् न होकर सत् ब्रह्म की शक्ति है। 'माया' अविद्या से भिन्न है। 'माया' नानारूपात्मक जगत्–सृष्टि मे हेतु है। ये ईश्वर की कार्य–कारणात्मिका शक्ति है, जिसे श्रीकृष्ण 'गीता' मे 'योग–माया' शब्द से अभिहित करते है।[1] ब्रह्म की शक्ति होने से 'माया' असत् नहीं मानी जा सकती है, क्योकि सत् ब्रह्म का असत् से सम्बन्ध कल्पना से परे है। सत्मायाशक्तिस्वरूपा है, एवं शक्ति तथा शक्तिमान् में भेद असम्भव है। अविद्या जीव का 'अज्ञान' है, जिसके कारण वह देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण आकृत प्राकृत वस्तुओ मे अभेद कल्पना करता है।

आचार्य शकर चूंकि 'माया' एवं 'अविद्या' को पर्यायवाची मानते है। अतः आचार्य रामानुज ने शंकरचार्य के मायावाद का खण्डन किया। आचार्य रामानुज के इस खण्डन की "सप्तविधानुपपत्ति" संज्ञा दी जाती है, क्योकि आचार्य ने इसमे सात प्रमुख दोष बताए हैं। ये निम्न प्रकार से है–

1. आश्रयानुपपत्ति - आचार्य रामानुज ने सर्वप्रथम यह शंका की है कि इस 'माया' अथवा 'अविद्या' का आश्रय क्या है? किसके आश्रय पूर्वक यह भ्रमोत्पादन कार्य करती है? यदि जीव के आश्रय से माने तो ठीक नहीं, क्योकि जीवात्मा स्वय ही अविद्या प्रकल्पित माना गया है। यदि ब्रह्म को आश्रय मानें तो माया एव ब्रह्म दो तत्वो को मानने से अद्वैत की हानि होगी। ब्रह्म तो स्वय प्रकाश, ज्ञान स्वरूप शुद्ध सत् है जो कि अविद्या विरोधी रूप है। वह अशुद्ध, असत् 'अज्ञान' का आश्रय कैसे हो सकता है, जो कि स्वय

---

[1] श्रीभाष्य 1/1/1 – पृ० 145

'ज्ञान' द्वारा निवृत्त हो जाता है। स्वयप्रकाश होने से ब्रह्म का आच्छादन भी सभव नही। आश्रय से असिद्ध माया, स्वयं भी असिद्ध ही है।

2. तिरोधानानुपपत्ति - शुद्ध, स्वयं प्रकाश ब्रह्म का तिरोहित होना अथवा आच्छादन कैसे सम्भव है? अज्ञान नित्य चैतन्य ज्ञान स्वरूप का आवरण कैसे हो सकता है। प्रकाशैक स्वरूप ब्रह्म को अविघा से तिरोहित कहना, ब्रह्म का स्वरूप नाश ही मानना है। जिस प्रकार प्रकाशोत्पत्ति का तिरोधान से प्रकाशनाश ही होगा, उसी प्रकार परम ज्ञान ब्रह्म से आवरण से ब्रह्म का नाश ही मानना होगा। अतः ब्रह्म का आच्छादन सभव नही।[1]

3. स्वरूपानुपपत्ति - ब्रह्म की आच्छादक मानी जाने वाली उस अविद्या का स्वरूप क्या है? वह सत् है या असत् अथवा अनुभव। यदि सत् मानें तो वह अविद्या अथवा अज्ञान कैसे? क्योकि विद्या अथवा ज्ञान का अभाव ही 'अविद्या' है। पुनः यदि भावरूप है तो स्वय तत्त्व हो जाएगी, तब ब्रह्म के अद्वैतत्त्व की क्षति होगी, एव भाव रूप अविघा का नाश भी सभव नही होगा। परन्तु अद्वैत मत मे ज्ञान से 'अविद्या' का नष्ट होना माना गया है। अतः वह सत् अथवा भावरूप तो नही मानी जा सकती। अब यदि अविघा को 'असत्' अथवा अभावरूप माने तो ब्रह्म के आवरण, विक्षेप इत्यादि कार्य नही हो सकते। सतसत् भी नहीं मान सकते क्योंकि प्रकाश एव अधकार की भांति दोनो मे विरूद्धता है। यदि उसे ब्रह्म से प्रकट माने तो यह भी स्पष्ट नही होता क्योकि ब्रह्म नित्य है, फिर अविद्या भी नित्य हो जाएगी एव उसका

---

[1] . आवृत्त के दो अर्थ हैं– एक तो ज्ञान की उत्पत्ति रोकना, दूसरा ज्ञान का विनाश करना। किन्तु शुद्ध ज्ञान किसी का कार्य नही है। या तो शुद्ध ज्ञान उत्पाद्य नही, अत उसका विनाश नही हो सकता। वह तो नित्य स्वय प्रकाश और ज्ञान स्वरूप ब्रह्म को कैसे आवृत्त करेगा, यह सिद्ध नही किया जा सकता – डा० अणिमा सेन गुप्ता।

ज्ञान जीवो को होने लगेगा। वह अविनाशी भी हो जाएगी। अतएव उसे सत्, असत् अथवा अनुभव मानना स्वव्याघाती है।

4. अनिर्वचनीयानुपपत्ति - आचार्य शंकर 'माया' अथवा 'अविद्या' को सत्–असत् से विलक्षण, अतएव अनिर्वचनीय कहते हैं। रामानुजाचार्य ने माया की अनिर्वयनीयता को असम्भव अथवा असगत कहा है। प्रत्येक पदार्थ या तो सत् है अथवा असत्। सदसद् अनिर्वचनीय तो कुछ भी नही। समस्त वस्तुएं प्रतीति के आधार पर निर्धारित होती है। समस्त पदार्थ सत् अथवा असत् ही होते है। यदि अनिर्वचनीयता को प्रमाणित किया जाए, तो कोई भी पदार्थ प्रतीति का विषय नहीं बन सकेगा। यह तो विरूद्ध कल्पना मात्र ही है।

5. प्रमाणानुपपत्ति - इस 'अविद्या' की सिद्धि में कोई प्रमाण प्राप्त नही होते। भावाभाव विलक्षण अविद्या को न तो प्रत्यक्ष से ही सिद्ध किया जा सकता है, न ही अनुमान द्वारा। क्योकि यह न भावरूप माना जाता है, न ही अभाव रूप, न इसके लिए कोई हेतु ही है। 'आगम' प्रमाण भी इसे सिद्ध नही करते, क्योंकि शास्त्रो मे 'माया' को ईश्वर की 'शक्ति' कहा गया है, आवरणक नहीं।

6. निवर्तकानुपपत्ति - अविद्या का कोई निवर्तक अथवा विनाशक नही है। अद्वैतवाद में निर्विशेष ब्रह्मज्ञान को अविद्या का निवर्तक माना गया है। किन्तु ब्रह्म निर्विशेष नही है और न किसी निर्विशेष पदार्थ का ज्ञान ही सम्भव है। ज्ञान सदैव सविशेष का ही होता है। अतः निर्विशेष ब्रह्मज्ञान के न होने से अविद्या का कोई निवर्तक भी सिद्ध नही होता।

7. निवृत्त्यानुपपत्ति - अद्वैतवाद का 'ब्रह्म ज्ञान' ब्रह्म का ज्ञान नही, अपितु वह ज्ञान है जो स्वयं ब्रह्मरूप ही है। वह शुद्ध ज्ञान है, एव सत्ता के ज्ञान

से भिन्न है। उस ज्ञान से अज्ञान निवृत्त नही हो सकता क्योकि अज्ञान को भावरूप कहा गया है। यह निर्वतक ज्ञान ब्रह्म से भिन्न होने से अविद्या के ही क्षेत्र मे होगा। जीव का बंध कार्य जन्य है। वह कर्म, ज्ञान, भक्ति एव भगवदनुग्रह से नष्ट हो सकता है, ज्ञान मात्र से नहीं।

रामानुजाचार्य इन सप्त विधानुपपत्ति द्वारा अद्वैताभिमत मायावाद का पूर्णरूपेण निराकरण करते है। यहां रामानुज ने माया एव अविद्या को समानार्थक मानकर उसका प्रत्याख्यान किया है। रामानुज 'प्रकृति' को भी माया की ही एक स्थिति मानते हैं। माया एवं प्रकृति मे वे विशेष अन्तर नही करते। 'प्रकृति' की विचित्र सर्गशीलता के कारण वही माया कही गयी है। एक ही पदार्थ की ये दो संज्ञाए है। 'प्रकृति' सृष्टि का उपादान कारण है, उसी भांति माया भी विक्षेप कार्य करती है।

जीव-विचार

रामानुजाचार्य के दर्शन का दूसरा प्रमुख तत्त्व है—जीव। इसे 'चित्' पद से अभिहित किया है। समस्त वेदान्त दर्शन मे ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता मानी गयी है। जीव एव जगत् भी ब्रह्म के अश अथवा परिणाम हैं। कुछ दर्शन जैसे अद्वैतवाद इसे असत् अथवा ब्रह्म का प्रतिबिम्ब मानते हैं। शकराचार्य के अनुसार जीव ब्रह्म का विवर्तमात्र है, जिसकी प्रतीति अज्ञान के कारण होती है। जीवभाव व्यावहारिक दृष्टि से सत्यभाव होते हुए भी, पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म ही है।[1] मायोपाधिक ब्रह्म ही जीव रूप से परिलक्षित होता है। आचार्य रामानुज के दर्शन में चित् तत्त्व अर्थात् जीवात्मा

---

[1] जीवो ब्रहमैव नापर

सर्वोपरि ब्रह्म का ही एक अंश अथवा विशेषण है।[1] शंकराचार्य की भांति रामानुज का जीव न तो असत्य है, न ही औपाधिक। वह ईश्वर का गुण होते हुए भी स्वयं चेतन द्रव्य है। जो ब्रह्मांश होने से सत्ता, यथार्थ, अद्भुत, नित्य, बुद्धि सम्पन्न और आत्म चेतनता से युक्त, अखण्ड, अपरिवर्तनशील, अदृश्य एव आणविक है। यह जीवात्मा ज्ञाता, कर्त्ता एव भोक्ता भी है। पच कर्मेन्द्रियॉ एवं मन इसके साधन हैं। मन आत्मा के लिए आन्तरिक अवस्थाओ को प्रकाश करता है और इन्द्रियों की सहायता से वाह्य अवस्थाओं का ज्ञान भी पहुंचाता है। आणविक जीवात्मा का स्थान छद्पद्म में है। अणु होते हुए भी आत्मा अपने ज्ञान रूपी गुण द्वारा समस्त शरीर में व्याप्त होकर सुख–दु.ख का अनुभव करता है।

किन्तु, आत्मा देहकृत भेदो से भिन्न है। समस्त जड तत्त्व देह आदि कार्य प्रकृति के परिणाम है। यद्यपि भ्रमवश आत्मा के अपने समझे जाते है किन्तु वास्तव में ये भेद आत्मा मे नहीं रहते। आत्मा अपने तात्विक स्वरूप के कारण अपरिवर्तित रहते हुए भी प्रकृति संग से अहंकारादि से दूषित प्राकृत धर्मो को अपना मानती है, यही जीव का बध भी कहलाता है। वास्तव मे आत्मा ज्ञानान्दमय तथा परमात्मा का शेषाश है।[2] स्वयं परमात्मा शेषी है। ईश्वर ही जीवों को अपनी इच्छानुसार कार्य करने की अनुमति देता है। जीवो की इच्छा को ईश्वर की सम्मति के बिना गति मिलना अशक्य है। ईश्वर हम सब मे अन्तर्यामी रूप मे स्थित है। ईश्वर नियन्त्रित यह जीवात्मा

---

[1] अणुत्वे सति चेतनत्वम्, स्वतः शेषत्वे सति चेतनत्वम्' – योगीन्द्र मत दीपिका, अष्टमोऽवतारः

[2] नायं देवो न मर्त्यो वा न तिर्यक स्थावरोऽपि वा।
ज्ञानान्द भयस्त्वात्मा शेषो हि परमातान.।। – गीता

स्वयं प्रकाश, अतएव ज्ञान स्वरूप है। अनुकूल प्रतीत होने वाला ज्ञान ही आनन्द है। जीव की सार्थकता ईश्वर का अविभाज्य शुरू अंग बनकर ईश्वरीय ज्ञान एव आनन्द का अनुभव करने में है।[1] जीवात्मा का स्वाभाविक स्वरूप ज्ञानानन्द ही है, एवं यही जीवात्मा का स्वाभाविक एवं अपृथक्सिद्ध धर्म भी है। ये सभी जीवो में समान रूप से संगत है। जीव का प्रत्यक्तत्त्व, चेतनत्व, आत्मत्व एव कर्त्तृत्व धर्म ईश्वर की ही भांति है। इन धर्मो का ईश्वर के धर्मो से साम्य होने से ईश्वर को परमात्मा तथा जीव को परमात्मा का अश माना गया है। जीव ईश्वर की ही भांति, अज–अमर एवं नित्य है। इसको श्रुति भी प्रमाणित करती है।[2] रामानुजाचार्य भी 'जीव' को चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर का शरीर कहते है। जीव के जन्म–मरण से तात्पर्य प्राकृत देहादि के संयोग एव विनाश से है। वह जीवात्मा तो नित्य, स्वय प्रकाश अणु[3] होते हुए भी व्यापक निर्दोष एवं अनेक है। रामानुजाचार्य अनेकात्मवाद को स्वीकार करते हैं। प्रत्येक शरीर में रहने वाली आत्मा भिन्न–भिन्न है।[4] प्रत्येक शरीर के अनुभव, स्मृति, सुख–दुःख, इन्द्रिय एवं प्रयत्न आदि व्यवस्थित रहते है। एक शरीर में होने वाले सुख–दुःख का अनुभव दूसरे शरीरों में रहने वाले जीवों को नहीं होता। स्वरूपतः भिन्न–भिन्न

---

[1] भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन–चन्द्रधर शर्मा – पृ० 298

[2] न जायते म्रियते वा विपचिन्नाय भूत्वा भविता वा न भूय.।
अजो नित्य शाश्वतोऽय पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। – श्रीमद्भगवत् गीता–2/20

[3] (क) बालाग्रशत भागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेय स चानन्त्याय कल्पते।। (श्वे० 5/9)
(ख) अणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' – मुण्डकोपनिषद 3/1/9

[4] जीवाना प्रतिशरीर भिन्नानामन्यतादात्म्यासम्भवात् – श्री भाष्य 1/2/1

होकर भी सभी जीव स्वभावतः ज्ञान स्वरूप है, एव समस्त ईश्वराश्रित हैं। ईश्वर ही इनका नियन्ता है।

जीवात्मा का ज्ञान बद्धावस्था में कर्मो के कारण अवरूद्ध रहता है एवं उसका आनन्द भी सीमित रहता है। अतः संसारी जीव अल्पज्ञ एव दुःखी होते है। मोक्ष मे कर्मो का आत्यन्तिक क्षय हो जाने से जीव का ज्ञान एव आनन्द, ब्रह्म के समान नित्य, विभु, तथा अखण्ड हो जाता है। जीव शुद्ध स्वसम्वेद्य 'अह' है जो बद्धावस्था के 'अहंकार–ममकार' से भिन्न है।

रामानुजाचार्य जीवों के तीन वर्ग मानते हैं–नित्य जीव, मुक्त जीव, बद्ध जीव।

(क) नित्य जीव - वे जो वैकुण्ड में निवास करते हैं और प्रकृति से स्वतन्त्र रहकर आनन्द का उपभोग करते हैं। ये जीव ससार चक्र मे पडते। त्रिपाद विभूति मे नित्य रहने वाले अनन्त, गरूड, विष्वकसेन आदि। इनका आचरण ईश्वर प्रतिकूल नही होता तथा इनके ज्ञान का भी सकोच नही होता। ये स्वेच्छया लोक कल्याणार्थ अवतार ग्रहण भी करते है।

(ख) मुक्त जीव - वे जीव जो अपने ज्ञान, पुण्य एवं भक्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्त करके ईश्वर कृपा से ईश्वर तुल्य भोग की प्राप्ति करते है। ये मुक्त जीव प्रकृति के संसर्ग से मुक्त हो जाते हैं, जो कि पहले बद्ध होते हैं।[1] स्वकृत कर्मो के विपाक के फलोपभोग के उपरान्त ईश्वानुकूल कर्मो को करते हैं। ये भी स्वेच्छया अवतार लेते है। इनका ऐश्वर्य जगत् व्यापार से अतीत होता है।[2] नित्य जीवों से इनका भेद ये है कि मुक्त जीव पहले बंधन

---

[1] मुक्तत्व नाम प्रकृतिससर्ग पध्वसाभावत्वम् – तत्त्वत्रय पृ 92

[2] जगद्व्यापार वर्जमेव मुक्तैश्वर्यम्। – श्रीभाष्य (4/4/21)

में पड चुके होते है, जबकि नित्य जीवों का कभी बंधन नहीं होता। 'निर्धतनिखिलविकार, निखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतान निरतिशयानदंपर ब्रह्म, सविभूतिक, सकलकल्याण गुणमनुभवति मुक्तः' श्रीभाष्य (4/4/19)

(ग) बद्ध जीव - अपने अज्ञान तथा स्वार्थ परता के कारण संसार चक्र में घूमने वाले जीव 'बद्ध' हैं।[1] ये अनादि काल से संसार सागर मे निमग्न रहकर जन्म–जरा–मृत्यु के दुःखों का भोग करते रहते हैं। प्रकृति संसर्ग के कारण अनात्म देहादि को आत्म स्वरूप मानकर पाप–पुण्यदि कर्मो का फलोपभोग करते है।

"यह आत्मा स्वभावतः कर्म बन्धन, विनिर्मुक्त, जरा, मृत्यु, शोक, बुभुक्षा, पिपासा से रहित एवं सत्यकाम तथा सत्यसंकल्पों वाला है "–ये श्रुति वर्णित जीव का वास्तविक स्वरूप तिरोहित हो जाता है। फलतः आध्यात्मिक, आधिदैविक एव आधिभौतिक तापत्रय युक्त जीव 'बद्धता' को प्राप्त होता रहता है।

बद्ध जीवो के चार प्रकार के शरीर होते है–
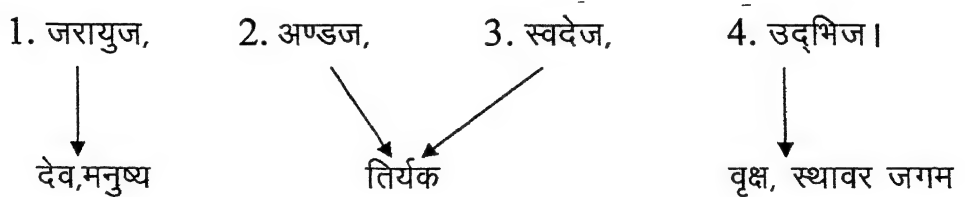
मनुष्यो में मुमुक्षु एवं बुभुक्षु भेद से दो प्रकार के जीव होते हैं। मोक्ष परायण जीवों मे भक्त जीव एव प्रपन्न रूप भेद से दो विभाग है। इसमें

---

[1]. ससरितरणो बद्धा इत्युच्यते – तत्वतृय – (लोकायार्च) पृ० 43

व्यासादि साधन–भक्ति निष्ठ जीवो की श्रेणी मे आते है, तथा नाथमुनि साध्य भक्तिनिष्ठ जीवो की।

जगत्

ज्ञान शून्य एव विकार युक्त पदार्थ 'अचित्' है। ये भी ईश्वर का अंश माना जाता है रामानुजाचार्य इसकी भी सत्ता स्वीकार करते है। 'अचित्' पद से आचार्य सम्पूर्ण संसार का तात्पर्य लेते हैं जिसमे शरीर, इन्द्रियॉ एवं दृश्य पदार्थ ये सभी आते हैं।[1] प्रकृति का अस्तित्व श्रुति प्रामाण्य के आधार पर माना जाता है। इसके तीनों गुण अर्थात् सत्त्व, रजस् ओर तमस् सृष्टि रचना के समय इसमे प्रकट होते हैं। मिश्रसत्त्व को प्रकृति, माया या लीलाविभूति भी कहते है। वह जड, भोग्य और विकारास्पद है। यह जगत् का उपादान कारण है। ये ईश्वर का शरीर होने, तथा उसी पर पूर्णतया आश्रित होने से नित्य द्रव्य है। ईश्वर अपने सकल्प मात्र से लीलावश सृष्टि करते है तथा प्रकृति उसमें उपादान कारण बनती है। किन्तु रामानुजाचार्य की 'प्रकृति' 'साख्य' की प्रकृति से भिन्न है। ये नित्य एव स्वतन्त्र होते हुए भी अपने कार्यो की सिद्धि के लिए ईश्वराश्रित है। चित् तत्व की भाति ये भी ईश्वर का विशेषण अथवा गुण है, जिसमे ईश्वर चिदचिद्विशिष्ट कहलाता है। शुद्ध सत्त्व अचित् रजस्–तमस् गुणों से शून्य होने से अप्राकृत एवं दिव्य है। यह नित्य, अतिशय तेजोमय, ज्ञान एव आनन्द का उत्पादक है। ईश्वर का विग्रह, नित्य तथा मुक्त पुरूषो के शरीर तथा ईश्वर का निवास स्थान बैकुण्ड इसी शुद्धसत्त्व द्वारा निर्मित माने गए हैं। ईश्वर के व्यूहावतार, विभवावतार इत्यादि

---

[1] अचिच्छब्दवाच्य दृश्य जड जगत्त्रिविध भोग्यभोगोपकरणभोगायतन भेदात्। – सर्वदर्शन सग्रह, पृ० 191

रूप इसी शुद्ध सत्त्व द्वारा निर्मित होते है। रामानुजाचार्य मानते है कि आत्मा शरीर के बिना नहीं रहता, अतः मोक्षदशा मे प्राकृत देहपात के उपरान्त भी मुक्त पुरूषो को ईश्वर के संकल्प द्वारा निर्मित अप्राकृत शुद्ध सत्त्व शरीर की प्राप्ति होती है।

आचार्य ने सत्वशून्य अचित् तत्त्व को 'काल' कहा है। काल को एक स्वतन्त्र स्थान दिया गया है। यह अस्तित्व मात्र का एक रूप है। यह प्रत्यक्ष का विषय है। उपाधिभेद से काल की अनेक अवस्थाएँ है दिन, महीने, संवत् आदि।

यद्यपि आत्माएँ तथा प्रकृति ईश्वर के प्रकार है, तो भी उन्होने अनन्त काल से स्वतन्त्र अस्तित्व का उपभोग किया है एव इसीलिए पूर्णरूप से ब्रह्म के अन्दर विलीन नही हो सकते।[1] सूक्ष्म अवस्था मे रहने पर उनके अन्दर गुण विद्यमान नहीं होते, और इस अवस्था मे नाम व रूप का कोई भेद नही लक्षित होता। इस अवस्था मे प्रकृति अव्यक्तावस्था में होती है एव उसकी 'प्रज्ञा' संकुचित रहती है। यह प्रलयावस्था है, जिसमे ब्रह्म कारणावस्था मे विद्यमान रहता है।

ईश्वर की इच्छा से सृष्टि–प्रक्रिया आरम्भ होने पर प्रकृति स्थूल अवस्था मे परिणत हो जाती है एव आत्माए भौतिक शरीरों मे प्रविष्ट हो जाती हैं, जो शरीर उन्हे प्रारब्ध कर्मो के आधार पर प्राप्त होते है। इस प्रकार जीवात्मा एव प्रकृति के सम्पर्क से मुक्त ब्रह्म व्यक्त होकर कार्यावस्था मे आ जाता है। सृष्टि एव प्रलय सापेक्ष है तथा उसी ब्रह्मरूपी कारणात्मक तत्त्व के द्योतक हैं।

---

[1] भारतीय दर्शन भाग -II डा० राधाकृष्णन – पृ० 612

रामानुजाचार्य जगत् के मिथ्यात्व का प्रबल विरोध करते हैं। वे अचित् जड जगत् को ब्रह्माश अथवा ब्रह्म का शरीर बताते है। ईश्वर एव चित् तत्त्व की भाति अचित् तत्त्व भी सत् है।

जीव का बन्ध एवं मोक्ष

जीव का प्राकृत देह युक्त होकर जन्म–जरा–मरण के चक्र में आवर्तित होना ही 'बन्ध' कहलाता है। ये बन्धन 'अविद्या' एव 'कर्म' के कारण होते है। आचार्य रामानुज जीवों की वास्तविक सत्ता की भांति उनका 'बन्धन' एव 'मोक्ष' भी वास्तविक स्वीकार करते हैं। अविद्या अथवा अज्ञान के वशीभूत होकर 'कर्म' के कारण जीव का प्राकृत देह, इन्द्रिय, मन, प्राण आदि से सम्बन्ध होता है, यही उसका 'बन्ध' है। कर्म का जीव के साथ सम्बन्ध अनादि है। परमतत्त्व ईश्वर का सन्निध्य परम आनन्ददायक है। अतः उस परमतत्व की प्राप्ति हेतु कर्म बन्धन से 'मुक्त' होना आवश्यक है। 'ज्ञान कर्म समुच्चय' इसमे सहायक बनता है। 'सत्कर्म' द्वारा चित् शुद्ध होकर, 'ज्ञान' द्वारा चित्–अचित् एव ईश्वर के स्वरूप का प्रकाशन होता है। रामानुजाचार्य 'मोक्ष' को आत्मा का 'तिरोभाव' नही मानते, बल्कि बाधक मर्यादाओं (अविद्या एव कर्म) को नष्ट करके स्वरूप प्राप्ति को ही 'मोक्ष' मानते है[1], क्योकि आत्मा का तिरोभाव तो 'आत्मा का विनाश' कहलाएगा। सबसे ऊपर एक सर्वशक्तिमान् की सत्ता है, जिसकी पूजा एवं उपासना करनी चाहिए, जो हमारे लिए उच्चतम धार्मिक अनुभव के मार्ग का अबाध विधान करते हैं।[2]

---

[1] 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति

[2] . भारतीय दर्शन Vol- II – डा० एस० राधाकृष्णन पृ० 623

मुक्तात्मा ईश्वर के स्वरूप को प्राप्त तो करता है, परन्तु शकराचार्य के मोक्ष की भॉति एकाकार नही होता।

आचार्य शकर बन्ध का कारण 'अज्ञान' को मानते है किन्तु उनका 'जीव' 'अज्ञान' के विनष्ट होने पर स्वय ब्रह्म ही हो जाता है, इसका साधन ज्ञानमात्र को माना है। किन्तु रामानुजाचार्य बध का कारण अज्ञान मात्र को नही अपितु 'कर्म' को भी कारण मानते है। कर्म द्वारा ही जीव को विभिन्न प्रकार की शरीर प्राप्ति होती रहती है। मुक्त होने पर जीव ब्रह्म के साथ तदाकार हो जाता है, एकाकार नही। विशिष्टाद्वैत दर्शन जीव एव ब्रह्म को दो भिन्न द्रव्य मानता है, इस प्रकार 'परमात्मा एव जीवात्मा की एकता को सत्य नही कहना चाहिए, क्योकि एक द्रव्य कभी दूसरा द्रव्य नही हो सकता।[1] मुक्तात्मा को भगवान के समान गुण ही प्राप्त होते है। आचार्य रामानुज 'गीता' को उद्धृत करते है–

'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम् साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथयन्ति च।।'

अर्थात् ज्ञान का आश्रय लेकर जो मेरे समान गुणो को प्राप्त करते है, वे सृष्टि मे जन्म नहीं पाते एव प्रलय मे दुःखी नहीं होते।

रामानुजाचार्य जीव के बध का कारण अज्ञान मात्र को नही बल्कि 'ज्ञान–कर्म समुच्चय' को स्वीकार करते है। इसी कर्म द्वारा आत्मा मे अहकार की भावना आती है। यही अहकार ही अविद्या है। अतएव परमात्म तत्त्व की प्राप्ति हेतु कर्म बंधनो का छूटना परमावश्यक है। परब्रह्म के ध्यान

---

[1] परमात्मात्मनोर्योग· परमार्थ इतीष्यते, मिथ्यैतदन्यद्द्रव्य हि नैति तद्द्रव्यता यत, इति। श्रीभाष्य 1/1/1 पृ० 138

से जीवात्मा परब्रह्म के समान समस्त भावनाओ से शून्य हो जाता है। ये भावनाएँ तीन प्रकार की है–कर्मभावना (शुभाशुभ सस्कार), ब्रह्म–भावना तथा कर्मब्रह्म उभयभावना।[1] इन तीनो प्रकार की भावनाओं से रहित होना ही अभिधेय है। परब्रह्म के प्रति पूर्णरूपेण ही ईश्वर कृपा को पात्र बनाता है। परब्रहम–परमात्मा में 'ध्यान' रूपी करण द्वारा जीव भवना–रहित हो आत्म स्वरूप की प्राप्ति करता है। तद्भाव को प्राप्त यह उपासक, परमात्मा के साथ अभिन्न हो जाता है, उस स्थिति में भी अज्ञानकृत भेद रहता है। आचार्य तद्भाव का तात्पर्य 'ब्रह्म का भाव' बताते है, वही मुक्तात्मा का स्वरूप है। मुक्त पुरूष एकमात्र ज्ञानमय आकार प्राप्त कर परमात्मा के आकार का हो जाता है, फिर भी देव, मनुष्यादि रूपी भेद बना रहता है। उसकी यह भेदावस्था कर्ममय अज्ञान जन्य होती है, स्वरूपतः नही। जिस क्षण परमात्मा के ध्यान से, भेदकारक अज्ञान रूपी कर्म विनष्टता को प्राप्त होता है, तत्क्षण सभी कर्मजन्य भेद भी विलुप्त हो जाते हैं। यही अभेदरूपता की स्थिति जीवात्मा की 'मुक्तावस्था' है।

रामानुजाचार्य 'विदेहमुक्ति' स्वीकार करते है। अर्थात् शरीरपात के अनन्तर ही कर्मज्ञान के क्षय पूर्वक मुक्ति सम्भव है। मोक्षावस्था मे भी जीव तथा ईश्वर में 'आराधकाराध्य भाव' बना रहता है। उसे 'भगवत् सायुज्य' प्राप्ति होती है एव वह भी ईश्वर की भाति 'स्वार्थसिद्धि' प्राप्त करता है। आचार्य के मतानुसार 'मोक्ष' का स्वरूप नित्य है। कर्म बंन्धन के नाश द्वारा अज्ञान के नष्ट हो जाने पर ईश्वर कृपा से ईश्वरोपासना द्वारा जीव इस संसार में पुनः संसरण नहीं करता। सभी श्रुतिवाक्य सम्मत 'ब्रह्मविद्याएँ'

---

[1] श्रीभाष्य (1/1/1) - पृ० 141

'सगुण ब्रह्म' ईश्वर को ही उपास्य तथा 'ब्रह्म' सारूप्यता' को मोक्ष बताती है।

मोक्ष के साधन

जीव की मोक्षाभिलाषा ईश्वर प्रेरित होती है, क्योंकि जीव ब्रह्माश ही है यद्यपि ईश्वर की अपेक्षा जीव अशतः आनन्दमय स्वरूप है, तथापि ईश्वरीय प्रेरणा से उसे आत्मदर्शन एव आनन्द की पूर्णता की अभिलाषा होती है। सभी वैष्णव दार्शनिको की भाति आचार्य रामानुज भी 'भक्ति' को ही मोक्ष के सर्वोत्कृष्ट साधन के रूप में अपनाते हैं। किन्तु उनकी 'भक्ति' के 'कर्म' एवं 'ज्ञान' सहकारी है। शकराचार्य की भाति केवलमात्र 'अविद्या' निवृत्ति ही ब्रह्मप्राप्ति नही है, अपितु 'मोक्ष' के लिए जीव को क्रमशः कर्म–मल का सर्वथा त्याग पूर्वक ईश्वर मे ध्यान केन्द्रित करना होता है। अविघा की निवृत्ति मात्र से तो सांसरिक पदार्थो मे विरक्ति होती है। आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए दीर्घ साधन–प्रक्रिया की आवश्यकता है। ईश्वर पूर्ण आनन्दघन है एव क्लेश की छाया से रहित है। वही जीव का परम साध्य भी है। वही ज्ञान एव भक्ति का अभीष्ट भी है। अल्पज्ञ जीव की अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने की प्रायः सामर्थ्य नही होती। अतः 'ईश्वर कृपा' ही उसके लिए परम उपाय होता है। यह ईश्वर–कृपा ईश्वर को प्रसन्न करके प्राप्त की जा सकती है। अतः ईश्वर को प्राप्त करके उसकी कृपा प्राप्त करने का सरल उपाय आचार्य 'भक्ति' को ही बताते हैं। ज्ञान एवं कर्म सयुक्त 'भक्ति' ही श्रेष्ठतम साधन है। यह 'भक्ति' एक विशेष प्रकारक ज्ञान है, जो ईश्वर के प्रति प्रेम पूर्वक किया गया 'ध्यान' ही है।[1] रामानुजाचार्य

---

[1] श्रीभाष्य – 1/1/1 एव 4/1/1

श्रीमद्भगवत् गीता' के इस श्लोक को भी उद्घृत करते है– 'तेषा सततयुक्ताना भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।

अर्थात प्रीतिपूर्वक निरन्तर भजन करने वालों को मै ऐसी बुद्धि प्रदान करता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त कर सकें।

रामानुजाचार्य ने मुमुक्षु के लिए तीन मार्गो के अनुष्ठान का क्रमशः उल्लेख किया है।

(क) कर्म योग (ख) ज्ञान योग(ग) भक्तियोग

कर्मयोग

जीव का स्थूल शरीर कर्म प्रधान है। किन्तु उत्कृष्ट कर्मो के सम्पादन द्वारा ही सद्गति को प्राप्त किया जा सकता है। सदैव वर्तमान तथा शाश्वत फल प्रदाता कर्म ही श्रेष्ठ कृत्य है। सर्वशक्तिमान ईश्वर की प्राप्ति मे सहायक कर्म ही करने चाहिए।

कर्मफलो के प्रति आसक्त हुए बिना समस्त कार्यो, अनुष्ठानो, वर्णाश्रम धर्मो, सस्कारों का सम्पादन करना ही कर्मयोग है। देव पूजन, तपश्चरण, तीर्थाटन, दान एवं यज्ञादि विधियो का विधिपूर्वक पालन करने से पवित्रता आती है एव ऐसी पवित्र जीवात्मा ही ईश्वर के स्मरण मे सहायक बनती है। निष्काम कर्मानुष्ठान 'सत् ज्ञान' मे सहायक बनता है।[1] निष्काम भाव से किया हुआ कर्म ही प्रारब्ध, संचित कर्मो के विनाश मे सहायक हो सकता है। जब शास्त्र विहित कर्मानुष्ठानों को निःस्वार्थ भावपूर्वक अपनाया जाता है, तभी लक्ष्य प्राप्ति की निकटता होती है। यज्ञादि कर्मकाण्डो के परिणाम अस्थायी

---

[1] अय तु जीवगत कल्मषापनयनद्वारा ज्ञानयोगमुत्पाद्य तद् द्वारा (वा साक्षाब्दा) भक्त्युत्पादको भवति' – यतीन्द्र मतदीपिका 7

है, किन्तु ईश्वर ज्ञान अक्षय है। ईश्वरार्पित कर्म ही मोक्ष के मार्ग को सुगम बनाते है। इस प्रकार के कर्म सात्विक प्रवृत्ति को विकसित करने मे सहायक बनते है जिससे शनैः शनैः अज्ञानावरण का नाश होकर ईश्वर का ज्ञान उद्भूत होने लगता है।

ज्ञान योग

स्वय को प्राकृतिक तत्वो से पृथक् तथा ईश्वराश रूप से जानना समझना ही 'ज्ञान' है। ईश्वराश होने से जीव अपनी पूर्णता की प्राप्ति अवश्य ही चाहता है। इसके लिए वह स्वय को ईश्वरार्पित कर देता है। आचार्य रामानुज का मानना है कि आत्मा चिद्रूप होता हुआ भी चैतन्य गुण वाला है, उसकी चिद्रूपता ही स्वयं प्रकाशता है। जब आत्मा की अचित् देहादि के सन्निकर्ष द्वारा 'अह' प्रतीति होती है, वह अहंकार युक्त रहता है किन्तु निष्काम कर्मो द्वारा प्रारब्ध कर्मो के विनष्ट हो जाने पर वह अचित् तत्वो से अपने चित् स्वरूप की विलक्षणता को जान जाता है। यही अज्ञान का ज्ञान द्वारा निवारण होना ही 'ज्ञान योग' है। ये 'ज्ञान' कर्म अपेक्षित है। जिस प्रकार कर्मयोग ज्ञानयोग की तरफ ले जाता है, उसी प्रकार ज्ञान योग भक्तियोग की तरफ ले जाता है।

भक्तियोग

यद्यपि रामानुजाचार्य के मत मे 'भक्ति' ज्ञान–कर्म सापेक्ष्य है किन्तु आचार्य उनमें से हैं जिन्होंने 'भक्ति' की सुदृढ स्थापना एव उसके महत् प्रख्याति में विशेष योगदान दिया है।

जीव ससार में सदैव अभीष्ट के लिए प्रयत्न शील रहता है किन्तु वस्तुतः वह जानता नहीं कि अभीष्ट क्या है? तमोगुण के प्राकाट्य के

फलस्वरूप दु:ख की ही अधिक प्राप्ति होती है। पुनः किसी क्षण ईश्वरानुग्रह अथवा शुभ कर्मो के सम्पादन के फलस्वरूप जीव किसी योग्य गुरू के शरणापन्न होकर ईश्वर, जीव एवं जगत् का वास्तविक स्वरूप ज्ञान प्राप्त करता है। भगवान को आचार्य अखण्ड विभूति मानते हैं इसीलिए उनका साहचर्य प्राप्त होने पर जीव की सुख प्राप्ति मानी गयी है। 'भक्ति' ही वह परम साधन है जो ईश्वर का सामीप्य प्रदान कराती है।

रामानुजाचार्य ने भक्ति को स्मरण, ध्यान, उपासना, वेदन इत्यादि सज्ञाओ से अभिहित किया है। 'भक्ति' पद का शाब्दिक अर्थ है प्रेमपूर्वक की जाने वाली सेवा। यही सेवा जीव के सासारिक बधनों को काटकर उसे ईश्वर के अत्यन्त समीप पहुँचा देती है। इस प्रकार की ईश्वरीय सेवा निस्वार्थ भाव से की जाती है, इसे 'अहैतुकी भक्ति' कहते हैं। इस भक्ति में ईश्वर के साथ अपने प्रेमपूर्वक सम्बध को जीव किसी भी भाव मे प्रकट करने मे स्वतन्त्र होता है। मनुष्य को अपनी सांसारिक भावनाओं को एकदम से समाप्त करने की आवश्यकता नहीं होती, अपितु सहज रूप में ध्यान के द्वारा ईश्वर के साथ अपनी मनोभावनाओ का उदात्तीकरण करता है। इसका अन्त अन्तर्दृष्टि द्वारा ईश्वर के साक्षात्कार मे होता है।

रामानुजाचार्य 'भक्त' के चार भेद मानते है। इनमें 'ज्ञानी भक्त' ही सर्वोत्तम कहा गया है। इसका एकमात्र प्राप्य ईश्वर ही है। गीता मे भगवान कृष्ण स्वयं ही कहते है–'प्रियोहि ज्ञानिनोऽत्मर्थमह स च मम प्रियः'।[1] ज्ञानी भक्तो में प्रहलाद का नाम अग्रगण्य है। इस प्रकार स्पष्ट है कि भक्ति का एकमात्र उद्देश्य ईश्वर की प्राप्ति ही नही', अपितु विभिन्न ऐश्वर्यादिको की

---

[1] गीता 7/17 रामानुज भाष्य

प्राप्ति भी है। आचार्य रामानुज की यह मान्यता भक्ति को प्रपत्ति से पृथक् भी करती है।

साधन सप्तक, श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि विविध अनुष्ठानों के पश्चात उपासना रूपी 'साध्य भक्ति' स्वमेव प्रकट होती है। ईश्वर की उपासना उपासक के द्वारा अपनी ही आत्मा के रूप मे की जाती है, क्योंकि परमात्मा जीवात्मा मे अन्तर्यामी रूप से निवास करते है। रामानुजाचार्य उपासना को 'निदिध्यासितव्यः' कहकर ध्यान रूप ही मानते है। ब्रह्म की उपासना जीवन पर्यन्त की जानी चाहिए। इससे भगवतनुग्रह प्राप्ति होती है। यह भक्ति का सर्वप्रथम अपेक्षित तत्त्व है। उसके बाद शरणागति का स्थान है। प्रेम भक्ति का प्राण तत्त्व है वह भक्ति का वाच्यार्थ ही है। गुरू आश्रय का महत्त्व सभी–दर्शनो में स्वीकार किया जाता है।

भगवद्कृपा एक तो पूर्व जन्म के सचित कर्मो के फलस्वरूप प्राप्त होती है, दूसरे यदि हम ईश्वर मे पूर्णरूपेण समर्पण कर दें तो ईश्वर का अनुग्रह स्वयमेव हो जाता है। ईश्वर के प्रति उत्पन्न प्रेम शरणागति की भावना को तीव्र करता है। रामानुजाचार्य मूलतः 'दास्य भाव' की भक्ति को स्वीकार करते है। यह आत्मसमर्पण ही 'प्रपत्ति' है जो भक्ति का अनिवार्य अंग है। ये सरल एवं सहज भक्ति का मार्ग है। गीता में भगवान जीवो को 'आत्मविभूति' कहते हैं। रामानुजाचार्य इस विभूति पद का अर्थ 'नियम्यत्व' बताते है। 'शेष' होना ही जीव के दास्य भाव का सूचक है, इसे आचार्य ने ईश्वर एवं जीव के सम्बन्धो को शेषि–शेष भाव कहकर व्यक्त किया है।

वास्तव मे भक्ति एक अस्पष्ट पारिभाषिक शब्द है जिसके अन्तर्गत स्थूलकोटि पूजा से लेकर उच्चतम आत्मदर्शन तक आ जाता है।

रामानुजाचार्य वेदन, ध्यान, उपासना इत्यादि पदो को भक्ति का ही सूचक मानते हैं। उनके अनुसार 'मनोब्रह्मेत्युपासीत्' में जो भाव उपासना द्वारा व्यक्त किया गया है वही भाव वेद[1] एव वेदन[2] पदो द्वारा भी व्यक्त किया जाता है। श्री भाष्य मे आचार्य 'ध्यान' की परिभाषा देते है – कि तैल धारा की भॉति अखण्ड प्रवाह स्मृति परम्परा ही ध्यान है।[3] इसी 'स्मृति' को चिन्तन भी कहा गया है।

यह अखण्ड प्रवाहमयी 'स्मृति' मोक्ष प्रदान करने वाली है।[4] यह स्मृति आत्मदर्शन के समान रूप वाली है।[5] भक्ति अथवा उपासना का अनुष्ठान स्थूल शरीर त्याग के पश्चात् भी किया जाता है, क्योंकि रामानुजाचार्य जीव ब्रह्मैक्य' स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार ब्रह्मलोक में ब्रह्म तथा जीव का पारस्परिक सम्बन्ध स्वामी–सेवक भाव ही बना रहता है, तथा ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करके भी मुक्तावस्था में जीव अखण्ड सुखानुभूति प्राप्त करता हुआ ईश्वर की भक्ति में लीन रहता है। यही 'साध्य भक्ति' का स्वरूप है।

प्रपत्ति मार्ग

कर्म एव ज्ञान से सहकृत भक्ति ज्ञानपरक होने से समाज के कुछ ही वर्गो के लिए उपयुक्त है। इनके अभाव मे वचित रह जाने वाले अशिक्षित, शूद्रो, स्त्रियों के लिए रामानुजाचार्य ने एक अन्य मार्ग का प्रतिपादन किया

---

[1] भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन एव वेद–श्रीभाष्य 1/1/1

[2] ततस्तु तम पश्यति निष्कल ध्यायमान – श्रीभाष्य 1/1/1

[3] तैलधारावदविच्छिन्न स्मृति रूपम्–वही।

[4] तदरूप प्रत्येचैका सततिश्चान्य निस्पृहा तद्ध्यान प्रथमैः षड्भिरगे निष्पाद्यते – श्रीभाष्य 4/1/2

[5] ध्रुवस्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीना विप्रमोक्ष । 1/1/1 भिद्यते हृदयग्रन्थि श्छिद्यन्ते सर्वसशया। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।। – गीता

जिसे 'प्रपत्ति' का मार्ग कहा जाता है। 'प्रपत्ति' का तात्पर्य है शरणागति अथवा आत्मसमर्पण। रामानुजाचार्य का मानना है कि भगवान नारायण 'भूमा' हैं, उनके श्री चरणो मे आत्मसमर्पण करने से ही जीव को वास्तविक शान्ति मिल सकती है। ईश्वर के चरणों में स्वयं को लुटा देना आत्माभिमान छोडकर तथा सब धर्मो का परित्याग कर शरणापन्न होना ही प्रपत्ति का स्वरूप है। भगवद् गीता मे श्रीकृष्ण भगवान स्वय कहते है

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरण व्रज।
अह त्वा सर्वपापेभ्यो मोचयिष्यामि मा शुचः।।'
—गीता (18/66)

एव 'मन्मना भव।'

प्रपत्ति के तीन घटक तत्त्व अथवा विशेषण माने गए है— भगवान का दास होना 'अनन्य शेषत्व,' एकमात्र भगवान को ही तत्प्राप्ति में साधन मानना 'अनन्य साधनत्व' तथा स्वयं को भगवान का भोग समझना 'अनन्य भोग्यत्व' कहलाता है। इनसे विशिष्ट होकर ही प्रपत्ति मे पूर्णता आती है।

रामानुजाचार्य प्रपत्ति के छः अंग मानते है—

1. अनुकूल का सकल्प – ईश्वराश्रित गुणों का अर्जन अर्थात् ईश्वर की इच्छानुसार कर्मो का सम्पादन करना।

2. प्रतिकूल का त्याग— जिन कर्मो के सम्पादन मे स्वय का तथा अन्य का अनिष्ट हो भगवदाज्ञा से उन कर्मो का त्याग।

3. महाविश्वास – ईश्वर को सभी प्रकार से रक्षक जानकर विश्वास करना।

4. कार्पण्य – अपनी तुच्छा का अनुभव, निष्ठाओं को कर सकने की असमर्थता।

5. गोप्तृत्व – मोक्ष (संसार निवृत्ति) हेतु ईश्वर को अभय दाता मानकर प्रार्थना करना।

6. आत्मनिक्षेप– स्वय को ईश्वरार्पित करना।

वास्तव मे यह अन्तिन अग ही प्रपत्ति रूप है, शेष समस्त उसके अंगभूत। ज्ञान कर्म युक्त 'भक्ति' एवं आत्मनिक्षेपण रूप प्रपत्ति की विवेचना से दोनों मे कुछ भेद दृष्टिगत होता है। रामानुजानुसार 'भक्तियोग' का अधिकार केवल त्रैवर्णिक साधन सम्पन्न व्यक्तियों को ही है, जबकि प्रपत्ति मार्ग सबके लिए समानरूपेण उन्मुक्त है, इस प्रकार प्रपत्तिमार्ग सर्वबन्धरहित होने के कारण भक्ति की अपेक्षा अधिक व्यापक एवं श्रेष्ठ माना गया है।

भक्ति चिरकाल में फल देती है, जबकि प्रपत्ति में फल का बोध ही नही रहता। प्रपन्न को भक्ति के अतिरिक्त किसी फल की कामना नही रहती। किन्तु इन भिन्नताओं के होते हुए भी इनके परमप्राप्य में कोई भेद नही है, अन्तिम लक्ष्य भगवद् प्राप्ति ही है। भक्ति में भक्त सोचता है 'भगवान मेरे है' तथा प्रपन्न मे भाव रहता है, 'मै' भगवान का हूँ'।

भारतीय दर्शन शास्त्र में तत्त्ववेत्ताओं द्वारा बन्ध निवृत्ति के तीन मार्ग स्वीकार किये जाते हैं–कर्म मार्ग, ज्ञान मार्ग, भक्ति मार्ग। जैमिनी कर्म को बन्ध निवृत्ति का साधन स्वीकार करते है जबकि शंकर 'ज्ञान' को। रामानुजाचार्य भी 'ज्ञान' को स्वीकार करते हैं, किन्तु उनके अनुसार ज्ञानमात्र मोक्ष प्राप्ति का साधन नहीं है। शंकर शुद्ध ज्ञान को ब्रह्म एवं जीव का अभेद ज्ञान मानते हैं, किन्तु रामानुजाचार्य के अनुसार जीव एवं ब्रह्म में अभेद हो ही नहीं सकता, क्योंकि एक अल्पज्ञ है, दूसरा सर्वज्ञ, एक अणु है, दूसरा विभु; इसके अतिरिक्त जीव भोक्ता है, प्रकृति भोग्य एवं ईश्वर इनका प्रेरक,

अतएव इनमे भेद ही रहता है, अतएव मात्र ज्ञान से मोक्ष प्राप्ति सभव नही होगी। आचार्य रामानुज ज्ञान को अस्वीकार नहीं करते, अपितु ज्ञान सहित भक्ति को ही मोक्ष का साधन मानते है। उपनिषदों में प्राप्त ज्ञान के वर्णन से तात्पर्य ध्यान एवं उपासना सहित ज्ञान मानते है। वे कर्म एवं ज्ञान को भक्ति के सहकारी रूप से स्वीकृति प्रदान करते हैं। कर्मयोग के सम्पादन से सांसारिक कर्म संस्कारो का क्षय होकर चित्तशुद्धि होती है, इससे ब्रह्म एवं जीव के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है। इस ज्ञान के फलस्वरूप ही ससार से विरक्ति एवं ईश्वर के प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है। अतएव रामानुजानुसार भक्ति ज्ञान का ही एक रूप है। इस प्रकार कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तियोग मुक्तिप्राप्ति (मोक्ष) के क्रमिक सोपान है।

विशिष्टाद्वैतवाद की शाखाएँ

कालान्तर में रामानुज के अनुयायियों की दो शाखाएँ हो गयीं— 'तिङ्लै' एवं 'वड्कलैः'। इन दोनो शाखाओं में विरोध का प्रधान कारण तमिल एव सस्कृत का विवाद था।

तिङ्लै मत तमिल वेद नालायिर प्रबन्ध, जो आळवारो की प्रसिद्ध रचना का सकलन है, को एकमात्र प्रमाण मानता था। इसके सस्थापक लोकाचार्य थे।

वड्कलै मतानुयायी दोनों भाषाओं तमिल एवं संस्कृत में निबद्ध ग्रन्थों को प्रामाणिक मानते थे, परन्तु स्वभावतः संस्कृताभिमानी थे। इस मत के सस्थापक वेकटनाथ अथवा वेदान्तदेशिक (13वी शती) कहे गये हैं। वेदान्तदेशिक रामानुज सम्प्रदाय में सर्वाधिक प्रतिभा सम्पन्न आचार्य हुए। इनकी अनेक रचनाएँ प्राप्त होती हैं, जिनमे महत्त्वपूर्ण है संकल्प—सूर्योदय,

हंसदूत, रामाभ्युदय, यादवाभ्युदय, तत्त्वटीका (श्री भाष्य की प्रामाणिक टीका), अधिकरणसारावली, तत्त्वमुक्ताकलाप, गीतार्थ तात्पर्य चन्द्रिका, ईशावास्य भाष्य, शतदूषणी, न्याय परिशुद्धि इत्यादि। 'पचमतभंग' एव रहस्यत्रय सार, तमिल भाषा के ग्रन्थ है।

श्री निवासाचार्य की 'यतीन्द्रमत दीपिका' सत्रहवी शताब्दी का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। अठारहवी शताब्दी में रगरामानुज ने उपनिषदो के ऊपर रामानुज के अस्तिवाद (यथार्थवाद) के पक्ष में टीकाएँ लिखी है। परवर्ती इतिहास में रामानुज के ईश्वरवादी मतों का प्रभाव परिलक्षित होता है। तिङ्लै मत एवं वड्गलै मत में भाषा के अतिरिक्त 18 सिद्धान्त–पार्थक्य हैं जिनमें प्रपत्ति विषयक भेद विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

तिङ्लै मत 'मार्जार किशोर न्याय' द्वारा अपने विचारो को समझाता है। जिस प्रकार निश्चेष्ट बिल्ली का बच्चा स्वयं को माता के आश्रय मे डाल देता है एवं माता पर बच्चे की रक्षा का सम्पूर्ण दायित्व रहता है, उसी प्रकार जीव अपने आपको पूर्ण रूप से ईश्वर के चरणो मे समर्पित कर दे तथा अहकार को त्याग कर ईश्वर से प्रार्थना करे तो ऐसे शरणागत जीव की मुक्ति का मार्ग ईश्वर स्वयं प्रशस्त करते हैं। लोकाचार्य अपने ग्रन्थ 'श्रीवचन भूषण' मे इस प्रपत्ति का विशद शास्त्रीय वर्णन करते हैं।

वड्गलै मत में प्रपन्न व्यक्ति को प्रपत्ति के लिए स्वयं प्रयत्न करना पडता है। वे 'कपिकिशोर न्याय' का सहारा लेते है। जैसे बन्दर का बच्चा सुरक्षित रहने के लिए अपनी मॉ को दृढतापूर्वक पकडे रहता है,–उसी प्रकार प्रपत्ति का प्रारम्भ मुमुक्षु के कर्मो से स्वीकार किया जाता है। ऐसे 'भक्त ज्ञानी' भक्त की कोटि में आते है। ये भक्त जानते है कि इन्हें ईश्वरानुग्रह

प्राप्ति के लिए उन्ही की शरण मे जाना चाहिए। ऐसे भक्तों की ईश्वर रक्षा अवश्य करते हैं किन्तु उन्हें सुमार्ग पर लाने की चेष्टा नहीं करते। ये भक्त पुरूषार्थ की अपेक्षा रखते है।

इस प्रकार रामानुजाचार्य का दर्शन ज्ञानकर्मसहकृत भक्ति को मानता है। इसके द्वारा भक्त जीव ब्रह्म (ईश्वर) को प्राप्त करता है किन्तु यह प्राप्ति ऐक्य नहीं अपितु समीपता है। मुक्ति के पश्चात् भी भक्ति की संधारणा बनी रहती है तथा ईश्वर एव जीव मे सेव्य–सेवक भाव बना रहता है। रामानुजाचार्य जीवन्मुक्ति नही मानते अपितु 'विदेहमुक्ति' मानते हैं। उनका कहना है कि 'यदि शरीर से विशिष्ट ही जीवन्मुक्ति मानी जाए तो यह मान्यता निश्चित ही 'मेरी माता बन्ध्या है' के सदृश अप्रमाण एव असगत होगी।[1]

वेंकटनाथ के पुत्र कुमार वेदान्ताचार्य, वरदाचार्य या देशिकाचार्य ने भी अनेक ग्रन्थो की रचना की तत्वत्रय, चुलुकसंग्रह, प्रपत्ति वाटिका, फलभेद खण्डन, चरमगुरू निर्णय, आराधना संग्रह, अधिग्रहण चिन्तामणि, रहस्यत्रय, सारांश संग्रह इत्यादि।

अन्य आचार्यो में मेघनादारि, रामानुजदास या महाचार्य, रंग रामानुजमुनि, परकालयति, कुम्भकोनम ताताचार्य, श्री निवासदास, श्री निवासाचार्य, श्री शैलनिवास ताताचार्य, सुदर्शन सूरि, अहोवलि रंगनाथ यति, दोड्ड्याचार्य, नारायण मुनि, नृसिंह राज, नृसिंह सूरि, वस्तु वेदान्ताचार्य, पुरूषोत्तम, पेलपुर देशिक (तत्त्व भास्कर) रंगराज, रामानुजदास भिक्षु, आत्रेय वरद, वाधूल वरद वीर राघव दास, वेंकट सुधी (सिद्धान्त रत्नावली), वेकट

---

[1] श्रीमाष्य 1/1/4

दास, वेंकटाध्वरि, धनि नरेश, नीलमेघताताचार्य, रघुनाथाचार्य, राघवाचार्य, अण्ण्याचार्य आदि वैष्णव वेदान्तियो ने विशिष्टाद्वैतवाद को समृद्ध किया। अप्पय्दीक्षित ने 16 वीं शती में श्रीभाष्य की टीका 'न्यायमुखमल्लिका' लिखी।

द्वैताद्वैत सम्प्रदाय

'अद्वैतः द्वैतोऽसि एकः सन् बहुधाविचचार' ये श्रुति द्वैताद्वैत सिद्धान्त का मूल स्रोत कही जाती है। इसका तात्पर्य है 'वह अद्वैत ब्रह्म, द्वैत भी है, एक ही वह अनेक रूपो मे लीला करता है। जीव और जगत रूपो मे प्रकाशित होकर भी वह तदातीत रूप से वर्तमान है, अतः वह जीव और जगत भिन्न भी है, जीव और जगत उन्ही के प्रकाशित रूप है, अतः वह उनसे अभिन्न भी है।

यह द्वैताद्वैतमत दार्शनिक जगत में अत्यन्त प्राचीन है। ब्रह्मसूत्रकार बादरायण के पूर्व भी औडुलोमि, आश्मरथ्य आदि आचार्यो का यही मत रहा है। 'आश्मरश्य' के मतानुसार विज्ञानात्मा और परमात्मा मे भेदाभेद सम्बन्ध है। 'अनन्य उपासको के ऊपर अनुग्रह कर अनन्त परमात्मा भी उपासको की निष्ठा के अनुरूप अपने को व्यक्त करते हैं। इसलिए हम उनको एक विशेष स्थान में समझते है। ऐसा परमात्मा का अभिव्यक्त भाव है।[1] परमात्मा जीवात्मा का कारण है और जीव उसका कार्य। कारण से ही कार्य होता है इसलिए उसमे सूक्ष्म भेद और सूक्ष्म अभेद है।[2]

आचार्य 'औडुलोमि' के मतानुसार अवस्था की भिन्नता के कारण भेदाभेद होता है। ससार दशा मे जीव और ब्रह्म मे भेद है और मुक्त दशा मे

---

[1] ब्रह्मसूत्र 1/2/30

[2] ब्र०सू० 1/4/20

अभेद। शाकरभाष्य के टीकाकार वाचस्पतिमिश्र ने 'भामती' में औडुलोमि के मत की पुष्टि के लिए नारद पाचरात्र का मत दिया है– 'आमुक्तेर्भेद एव स्याज्जीवस्य च परस्य च। मुक्तेस्तु न भेदोऽस्ति भेद हेतोरभावतः।।' अर्थात् मुक्ति होने के पहले जीवात्मा एव परमात्मा में भेद रहता है, मुक्त हो जाने पर भेद के कारण का अभाव हो जाने पर भेद की अत्यन्तता समाप्त हो जाती है।[1] शरीर से निकलने वाले जीव का ब्रह्म के साथ भेदाभेद सम्बन्ध है, क्योकि जीवात्मा का स्वरूप मे प्राप्त होना ब्रह्मभाव की प्राप्ति का ही द्योतक है,[2] ये औडुलोमि आचार्य का मत था।

आचार्य 'काशकृत्स्न' का मानना था कि जीवात्मा के अन्तःकरण में उपस्थित रहने वाला परमात्मा ही जीवात्मा पर नियन्त्रण करता है। इस प्रकार से जीव और ब्रह्म मे नियम्य और नियता का भेदाभेद सम्बन्ध है।[3] इसी विषय में 'अतः प्रविष्टः शास्ताजनाना' इत्यादि वाक्य भी प्रसिद्ध थे। शंकराचार्य इन्हें श्रुत्यानुसारी यथार्थ तत्ववेत्ता आचार्य मानते थे। वृत्तिकार कात्यायन ने तथा महर्षि पातञ्जलि ने महाभाष्य में इनका वैयाकरणाचार्य के रूप मे उल्लेख किया है।

आचार्य 'बादरि' का भी ब्रह्मसूत्र मे विशेष उल्लेख प्राप्त होता है। आचार्य जैमिनी ने भी अपने मीमासा सूत्रो मे इनका उल्लेख किया है। आचार्य बादरि उपास्य – उपासक रूप से ब्रह्म एवं जीव का भेदाभेद सम्बन्ध

---

[1] ब्रह्मसूत्र निम्बार्क वेदान्त पृ० 51
[2] ब्र०सू० 1/4/21
[3] ब्र०सू० 1/4/22

मानते है। उनके अनुसार उपासना और स्मृति के हेतु ही परमात्मा की मूर्ति की कल्पना की जाती है।[1]

'कार्ष्णाजिनि' भी आचार्य बादरि के मत का समर्थन करते है। उनके मत का आचार्य बादरायण ने अपने मत के समर्थन मे उल्लेख किया है।[2] इन्होने परमात्मा को प्राप्त करने के साधनो मे सदाचरण की विशेषता मानी है।

ब्रह्मसूत्रकार आचार्य 'बादरायण' ने श्रुति प्रतिपाद्य द्वैत एवं अद्वैत वाक्यों का ब्रह्मसूत्र में समन्वय करके द्वैताद्वैतरूप में प्रस्तुत किया है। 'तत्तु समन्वयात्'[3] सूत्र में श्रुति प्रमाणों द्वारा 'ब्रह्म की व्यापकता एवं अतिशयता' स्वीकार की गयी है। 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टांतानुपरोधात्'[4] सूत्र का अर्थ 'ब्रह्म' को विश्व का निमित्त एव उपादान दोनो ही करण बताता है। योनिश्च हि गीयते[5] सूत्र से श्रुतियों में ब्रह्म को प्रत्येक पदार्थ का कारण कहा गया है। 'तदन्यत्वभारम्भण शब्दादिभ्यः' [6] सूत्र कार्यरूप जगत् एव कारणरूप ब्रह्म में सूक्ष्म रूप से ऐक्य एव द्वैतभाव मानता है। उसी भाँति 'उभय व्ययदेशादहि कुण्डलवत्'[7] में विश्व को सूक्ष्म एव स्थूल रूप से अभेद एवं भेद सम्बन्ध से, अपने उपादान कारण ब्रह्म में व्याप्य कहा गया है। प्रलयावस्था में समस्त

---

[1] ब्र०सू० 1/2/31
[2] ब्र०सू० 3/1/9
[3] ब्र०सू० 1/1/4
[4] ब्र०सू० 1/4/23
[5] सूत्र 1/4/27
[6] सूत्र 2/1/14
[7] सूत्र 3/2/27

विश्व ब्रह्म मे लीन होकर सृष्टि काल मे आविर्भूत हो जाता हैं, जिस प्रकार से कुण्डली मे बैठा सर्प स्पष्ट नही दीखता।

इस प्रकार से विश्लेषण करने पर ब्रह्मसूत्रकार भी द्वैताद्वैतवादी ही प्रतीत होते है। शकराचार्य के लगभग एक शताब्दी पूर्व "भर्तृप्रपञ्च" नामक एक अन्य भेदाभेदवादी आचार्य का उल्लेख प्राप्त होता है, जिन्होने 'भाष्य' लिखा था, किन्तु अब उपलब्ध नहीं है।[1] सुरेश्वराचार्य एवं रामानुजाचार्य भी इनके भेदाभेदवाद का उल्लेख करते है। भर्तृप्रपञ्च का मत है कि ब्रह्म तथा जीव एक होते हुए भी समुद्र – तरग न्याय पूर्वक भिन्न एवं अभिन्न हैं। उन्होने तीन रूपों में ब्रह्म का परिणाम माना।

(1) अन्तर्यामी जीवरूप मे,

(2) अव्याकृत सूत्र विराट तथा देवता रूप में,

(3) जाति तथा पिण्ड रूप में।

इस प्रकार परमात्मा तथा जीव में अंशाशिभाव अथवा एकदेश –एकदेशि भाव सिद्ध होता है।

दशवी शताब्दी के 'भास्कराचार्य' भी भेदाभेदवादी आचार्य है। इन्होने बादरायण ब्रह्मसूत्र पर 'भास्कर भाष्य' नाम एक टीका का प्रणयन किया। इनके एकत्व तथा अनेकत्व एक समान ही हैं। वे अभेद एव भेद को समान रूप से सत्य मानते है। ब्रह्म की कारणरूपता एकत्व तथा कार्यरूपत्व अनेकत्व का प्रतीक-है। कारण रूप, अद्वैत, निराकार ब्रह्म ही भक्ति तथा उच्च ज्ञान का विषय है।

---

[1] वृहदारण्यक शाकर भाष्य एव आनन्द गिरि की टीका।

भास्कराचार्य परिणामवादी है। वे जगत् को ब्रह्म का तात्विक परिणाम स्वीकार करते है। ये जड तत्त्व को सत्य मानते है, अविद्याजन्य नही। ब्रह्म ही जडत्व से परिच्छिन्न होकर जीवों का रूप ले लेता है। जीव अन्तः करण की उपाधि से परिच्छिन्न ब्रह्म है एवं अणुरूप है। ब्रह्म जीवों के रूप में ससार मे दुःख का अनुभव करता है, तथा 'ज्ञान–कर्म समुच्चय' द्वारा मोक्ष की प्राप्ति करता है।

जीव एव ब्रह्म के सम्बन्ध में भास्कराचार्य का मत है कि जीव अन्तः करण की उपाधि से संकुचित ब्रह्म ही है, अतएव ब्रह्मांश है, किन्तु 'अंश' पद उसके भाग अथवा कारण अर्थ में नही, अपितु अन्त.करण की उपाधि से परिमित इस परिभाषित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसी कारण जीव अणुरूप है। भास्कर यथार्थ विकास मे विश्वास रखते है। भ्रान्ति विषयक कल्पना को वे अप्रामाणिक मानते है। उनके मतानुसार मायावाद का विचार बौद्ध धर्म का वेदान्त दर्शन पर प्रभाव है। भौतिक जगत् की यथार्थ सत्ता है तथापि तात्विक रूप से इसका स्वरूप वही है, जो ब्रह्म का है। जब प्रकृति ब्रह्म के ऊपर प्रभाव डालती है तो इसका कार्य शरीर तथा इन्द्रियों के आकार में सीमाबद्ध करता है एव इस कार्य से ही व्यक्ति रूप जीवात्माओं का उदय होता है। भास्कर उपाधियों की यथार्थ सत्ता स्वीकार करते है, किन्तु अविद्या को उसका कारण नहीं मानते । वस्तुतः जीव और ब्रह्म एक ही हैं एवं इनका भेद जीव की उपाधियों के कारण है। जिस प्रकार स्फुर्लिंग का सम्बन्ध अग्नि से है, उसी भांति जीव एवं ब्रह्म का भी सम्बन्ध है।

भास्कर मतानुसार ब्रह्म वस्तुतः दुःख का भोग भी करता है एवं जीवात्माओ के समान पुनर्जन्म एवं मोक्ष भी धारण करता है। 'धर्म' ज्ञान का एक आवश्यक अंग है जिसका परिणाम ही मोक्ष है।

आचार्य रामानुज ने अपने 'वेदार्थ संग्रह' ग्रन्थ में भास्कराचार्य के 'भेदाभेदवाद' का खण्डन किया है। वेदान्त परम्परा मे जिन मतो की पारम्परिक जड अति प्राचीन रही है 'निम्बार्क मत' उनमे से एक है। ये वेदान्त दर्शन , विशेषकर वैष्णव वेदान्त की महत्वपूर्ण शाखा है। जिन वेदान्ताचार्यो ने ब्रह्मसूत्र के सिद्धान्तो पर अपना अर्थ प्रकाशन कर भाष्य रचनादि का प्रयोजन किया उनमे प्राचीनता एव दार्शनिकता दोनो ही दृष्टियो से आचार्य श्री निम्बार्क का एक विशिष्ट महत्त्व है।

निम्बार्क का जीवन वृत्त

आचार्य निम्बार्क 'द्वैताद्वैतवादी' मत के प्रवर्तक माने गये है। आचार्य श्री निम्बार्क का 'ब्रह्मसूत्र' पर 'वेदान्त परिजात सैरभम्' भाष्य एक सर्वप्रथम भाष्य रचना, माना जाता है। उन्होने इसमें किसी अन्य सम्प्रदायादि का खण्डन नही किया है, अतएव उनका 'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य अति सक्षिप्त कलेवर का है। वे अपने भाष्य को 'वाक्यार्थ' ही कहते है।

वेदान्तचार्यो मे सर्वाधिक समन्वयावादी श्री निम्बार्काचार्य अन्तःसाधक, मितवाक् एव महान तत्त्ववेत्ता माने गये है। ये परम भक्त थे, तथा भागवत् धर्म को उन्होने अपने जीवन मे चरितार्थ किया।

निम्बार्क मतानुयायियों का ऐसा मानना है कि भगवान श्री कृष्ण के पार्शद आयुधो मे प्रधान 'सुदर्शन चक्र' ने भगवदाज्ञा से अवतार ग्रहण किया

वे ही आचार्य निम्बार्क सुदर्शनावतार हैं जो समाज मे फैली कुरीतियो एव धर्म के ह्रास को दूर करके भक्ति मार्ग की रक्षा हेतु नियुक्त किये गये थे

आचार्य श्री निम्बार्क का आविर्भाव दक्षिण देश मे गोदावरी नदी के तट पर वैदूर्य पत्तन के निकट पंडरपुर मे अरुण मुनि की पत्नी जयती देवी के गर्भ से कार्तिक पूर्णिमा की गोधूलि बेला मे हुआ था।[1] अरुण मुनि के पुत्र होने के कारण ही इन्हें 'आरुणि' कहा जाता है। 'हरिव्यासदेव' ने 'दशश्लोकी' की अपनी टीका मे बताया है कि निम्बार्कचार्य के पिता का नाम 'जगन्नाथ' एव माता का नाम 'सरस्वती' था।[2]

डा० भण्डारकर एवं एस० एन० दासगुप्ता आचार्य श्री निम्बार्क का जन्म स्थान हैदाराबाद के निकट 'बेलारी' जिले का निम्बपुर ग्राम स्वीकार करते है।

आचार्य निम्बार्क के बाल्यकाल का नाम नियमानन्द है। अत्यन्त सुन्दर होने के कारण ये सुदर्शन (शोभनः दर्शन यस्य सः) भी कहलाते थे। जन्म से ही ये सुदर्शन , सौम्य, शान्त, मौन स्वभाव के थे। 8 वर्ष की अल्पायु में ही देवर्षि नारद ने अरूणाश्रम मे जाकर द्विजाति (उपनयन) सस्कार के समय इन्हें गायत्री एवं अष्टादशाक्षरी ब्रह्मविद्या तथा भक्ति सूत्र का उपदेश किया तथा इन्हे दीक्षा प्रदान कर प्रेमाभक्ति के प्रचार की आज्ञा दी।[3] नारद जी को ही श्री निम्बार्काचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य (1/3/8) में अपने गुरू रूप में स्वीकार किया है। नारद जी के उपदेश से कृतार्थ होकर श्री निम्बार्क ने अरूणाश्रम

---

[1] निम्बार्क वेदान्त – भूमिका , पृ0 53

[2] एस0 एन0 दासगुप्ता – भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग – 3 ,पृ0 318

[3] छान्दोग्योपनिषद के अनुसार ये अष्टादशाक्षरी ब्रह्मविद्या श्री नारद ने भूमाविद्या के रूप मे हस सनकादि परम्परा से प्राप्त की थी।

मे रहकर ही वेद – वेदांगो षड्दर्शन आदि का स्वाध्याय पूर्वक अध्ययन किया। साथ ही भगवद् सेवा, उपासना मे निरन्तर निमग्न रहे।

अपने अध्ययन को समाप्त कर आचार्य श्री नियमानन्द सर्वप्रथम द्वारिका गए। वहा गोपीचन्दन सरोवर की मृत्तिका का महात्म्य प्रकाश कर शख–चक्र–मुद्राकंन गोपीचन्द्रन मुद्रा आदि का आचार, द्वारिका धाम मे वैष्णवो के लिए अनिवार्य रूप मे प्रचलित किया, जो आज भी वहा मान्य है। तत्पश्चात् श्री नियमानन्द भगवान कृष्ण की लीला भूमि वृन्दावन में जाकर ब्रह्मविद्या को हृदयस्थ करके दहरोपासना की रीति एवं भूमा विद्या की पद्धति में उपास्य श्री राधिका–बिहारी की उपासना मे संलग्न हो गए।

वृन्दावन में ही एक अतिथि जैनाचार्य को रात्रि के समय मे एक निम्बवृक्ष पर अपने कोटि सूर्य–समप्रभ–सुदर्शन चक्र के दिव्य दर्शन कराए, इस अलौकिक घटना के पश्चात् ही इनका नाम 'निम्बार्क' पड गया।

कुरूक्षेत्र मे लोकायतों का प्रभाव बढ़ा हुआ था, वहां जाकर उन्हें प्रेम एव भक्ति से परिपूर्ण करने हेतु अपने दाहिने पाँव के अंगूठे से एक गूलर के फल को स्पर्श कर एक दिव्य आकृति सम्पन्न ऋषि का उद्वार किया, जो बाद में आचार्य श्री निम्बार्क के कृपापात्र शिष्य औदुम्बर ऋषि कहलाए। कुरूक्षेत्र में ही आचार्य ने 'श्रीमद्भगवत् गीता भाष्य' का प्रणयन किया।

तदुपरान्त आचार्य-नैमिषारण्य गए। वहा उन्हे 'जगद्गुरू' पदवी से अलकृत किया गया। जगद्गुरू श्री निम्बार्कचार्य ने नैमिषारण्य मे ही एक दिव्य कुण्ड पर श्रीमद्भागवत् के आध्यात्मिक रहस्य का उपदेश मुनियो को समाधि भाषा में दिया। वह स्थान 'चक्रतीर्थ' नाम से विख्यात है। उसके

पश्चात् आचार्य शुकताल का दर्शन करते हुए बदरीकाश्रम गए। वहा महर्षि व्यास के आश्रम मे उन्ही की सन्निधि मे परामर्श पूर्वक 'बादरायण ब्रह्मसूत्र' पर अतिसूक्ष्म कलेवर युक्त 'वेदान्त पारिजात सौरभम्' नामक भाष्य लिखा। यद्यपि 'वेदान्त पारिजात सौरभम्' भाष्य ही है, तथापि आचार्य निम्बार्क स्वय इसे वाक्यार्थ ही कहते है।[1] क्योकि आक्षेप करने की प्रवृत्ति उसमे नही है, और भाष्य का तो तात्पर्य ही है 'आक्षिप्य भाषणात् भाष्य'। आचार्य ने ब्रह्मसूत्र के अर्थ से जीव, जगत्, माया का ब्रह्म के साथ 'द्वैताद्वैत' मत स्थापित किया। अपने इस मत की पुष्टि मे उन्होंने उपनिषद वाक्यों, श्रुतियो को उद्धृत किया है। यद्यपि बादरायण के समकालीन तथा प्राग्वर्ती आचार्य भी द्वैताद्वैतवादी थे एव सूक्ष्म दृष्टि से विश्लेषण करने पर तो ब्रह्मसूत्रकार स्वय जगत् और ब्रह्म तथा जीव एवं ब्रह्म में भेदाभेदवाद अथवा द्वैतद्वैतवाद मानते हैं। तथापि आचार्य श्री निम्बार्क ही द्वैताद्वैत मत के प्रवर्तक आचार्य कहे गए है, क्योकि श्रुति तत्त्व के प्रतिपादक ब्रह्मसूत्र की कसौटी पर जो सिद्धान्त खरे उतरे वही मान्य हुए और जिसने उनकी प्रामणिकता सिद्ध की वे ही उस सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य कहलाए।[2] 'वेदान्त' आचार्य निम्बार्क का सिद्धान्त पक्ष है एव 'भक्ति' व्यावहारिक पक्ष। इस प्रकार के समन्वय के कारण ही वे 'ज्ञान कर्म सम्मुचयवादी' कहे गए।

वैदिक आचारो की पुनः स्थापना के लिए ही आचार्य श्री आरूणि निम्बार्क ने 'भक्ति' को जन्म दिया। वृन्दावन में गोवर्धन के निकट आचार्य ने

---

[1]ब्रह्मशब्दाभिध्येस्तदविषयिका जिज्ञासा सतत सपादनीयेत्युपक्रम वाक्यार्थ.। (वे०पा० सौ० 1/1/1)

[2] निम्बार्क वेदान्त – भूमिका पृ० 57 आचार्य ललित कृष्ण गोस्वामी।

अपना आश्रम स्थापित किया। वृन्दावन उनके काल मे भक्ति का केन्द्रस्थल बन गया था।

आचार्य निम्बार्क के काल मे सम्पूर्ण भारतवर्ष बौद्ध एव जैन धर्म से पूर्णतः प्रभावित हो रहा था। राजा विष्णुरात भी पूर्व मे जैन धर्मानुयायी थे। उन्हे आचार्य श्रीनिम्बार्क ने ही भागवत का रहस्य ज्ञान देकर पुनः वैष्णव बनाया और महाभावत की उपाधि दी। भागवत धर्म को ही अपना राजधर्म बनाकर राजा विष्णुरात ने समस्त वैष्णवों का एक बहुत बडा सम्मेलन करवाया। इस प्रकार सारे मतभेद दूर होकर साररूप भागवत धर्म की पुनः स्थापना हुई।

श्री निम्बार्काचार्य सत्यभाव से युगल सरकार राधिका–बिहारी की उपासना मे निरन्तर लगे रहे। वे एक नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे। उन्होने भारत मे अनेक स्थानो पर धार्मिक केद्र, सगठन बनाए। ब्रजभूमि उनके काल मे श्री कृष्ण की लीला भूमि के रूप में उपास्य थी। आज भी आचार्य श्री निम्बार्क की सुदर्शन चक्र के रूप मे वैष्णवों द्वारा उपासना की जाती है।

आचार्य श्री निम्बार्क ने ब्रह्म, जीव, मन एवं अहकार रूप श्री कृष्ण के चतुर्व्युह के प्रतीक वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरूद्ध की आध्यात्मिक उपासना एव उनकी मूर्तियो की उपासना का प्रचलन किया।[1] इसी चतुर्व्युहावतार के प्रतीक भगवान राम, लक्ष्मण, भरत एव शत्रुघ्न माने गए है। आचार्य के मतानुयायी स्वय उन्हें अनिरूद्ध–शत्रुघ्न का अवतार मानते है। निम्बार्काचार्य ने वैदिक धर्म के विरूद्ध सम्प्रदायों का निराकरण करके

---

[1]गोपालोपनिषद मन्त्र 34 मे उल्लेख है, ऐसा निम्बार्क वेदान्त मे आचार्य गोस्वामी जीने पृ० 73 पर कहा है।

प्रेमा–भक्ति के सिद्धान्त को विश्व के समस्त धर्मो मे अनिवार्य रूप से धर्मचक्र के रूप मे प्रवेश दिया।

श्री निम्बार्कचार्य के ही समकालीन महोपदेष्टा धर्मराज मैत्रेय माने गए है जिन्होने सम्भवतः भागवत धर्म मे दीक्षित होकर 'महायानी बौद्ध धर्म' का भारत के बाहर तिब्बत आदि मे प्रचार किया।

श्री निम्बार्काचार्य ज्योतिष मे भी विशेष स्थान रखते थे। 17 वी शती के स्मृतिकार श्री कमलाकर भट्ट ने 'निर्णय सिधु' मे ऐसा कहा है। इसकी पुष्टि हेतु वे 'ब्रह्मवैवर्त पुराण', 'भविष्यपुराण', 'पातञ्जल महाभाष्य' तथा 'हेमाद्रि' को प्रमाण के उद्धरण स्वरूप प्रस्तुत करते है, यथा आचार्य निम्बार्क के मत में रात्रि के बारह बजे के बाद ही तिथि परिवर्तन हो जाता है[1], निम्बादित्य जी के उपासनो को जन्माष्टमी, रामनवमी, शिवरात्रि आदि व्रतों में पहिले दिन की तिथि का त्याग करके दो–तीन मुहूर्त बाद की तिथि माननी चाहिए[2] ; उदयातिथि जिन गृहस्थों में मानी जाती है, भगवान निम्बार्क वहॉ मनोवञ्छित फल देते है।[3]

काल-निर्णय

आचार्य निम्बार्क के काल के विषय मे आज भी मतभेद है। पारम्परिक मान्यतानुसार उन्हें श्री कृष्ण के द्वापर काल का माना जाता है। आज भी

---

[1] निम्बार्क वेदान्त (पूर्वार्द्ध) – पृ० 75 ।

[2] निम्बादित्योपासकास्तु जन्माष्टमी, रामनवमी, शिवरात्र्यादो, पूर्वेऽहिन कर्म कालीना तिथि त्यकत्वा त्रिद्विमुहूर्तापरैव तिथिर्ग्राह्या।

[3] उदयाव्यापिनी ग्राह्याकुले तिथिरूपोषणे, निम्बार्को भगवान्येषा वाञ्छितार्थ फलप्रद (भा० पु०)

पारम्परिक मतानुयायी वैष्णव उन्हें पक्षपात रहित होकर द्वापर युगीन ही मानते है।

कुछ आधुनिक काल के विद्वान उन्हे रामानुज के मत से प्रभावित मानकर उन्हे रामानुज के बाद का स्वीकार करते है।[1] कुछ विद्वानों की मान्यता है कि निम्बार्काचार्य के नाम से 'दशश्लोकी' की रचना 'हरिव्यासदेव जी' द्वारा की गई थी। उस पर 'पुरूषोत्तमाचार्य जी' ने भाष्य लिखा।

श्री राधा को उपास्य रूप मे स्थापित करने वाले प्रधान आचार्य निम्बार्क 15 वी–16 वी शताब्दी के माने गए। डा० भण्डारकर ने उन्हे 1162 ई० का माना है। किन्तु नवीन धारणाओ के लेखको मे से किसी ने भी अपने मत के प्रमाण में श्री निम्बार्काचार्य की किसी भी रचना का सहयोग नही लिया है। द्वैतपरक भाष्यों मे निम्बार्क भाष्य के अतिरिक्त भाष्कर भाष्य को श्रेष्ठ माना गया है। आज के अन्वेषक भास्कराचार्य को तो 1000 ई० का तथा निम्बार्काचार्य को 1250 ई० का ठहराते है। भास्काराचार्य, शंकराचार्य (788-820) के तत्काल बाद के ही हुए प्रतीत होते है, क्योंकि 984 ई० के 'उदयनाचार्य' के 'न्याय कुसुमाञ्जली' मे भास्कर के मत का खण्डन किया गया है। 1140 ई० के रामानुज ने 'वेदार्थ संग्रह' मे तथा 'वाचस्पति मिश्र' ने 'भामती' मे इनके मत का उल्लेख किया है।

निम्बार्कचार्य ने अपने 'वेदान्त पारिजात सौरभम् मे साख्य, बौद्ध आदि मतों का तो निराकरण किया है। किन्तु शकराचार्य के अद्वैत का वे उल्लेख

---

[1] डा० भण्डारकर Vaishnavism .... मे निम्बार्काचार्य को आचार्य रामानुज के कुछ काल बाद का ही मानते है। भ०द० का इतिहास – S N Das Gupata Vol III, page 318

नही करते। जबकि शकराचार्य को तो लगभग परवर्ती सभी वैष्णवाचार्यो ने 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहा है। उनके मायावाद को कोई भी वैष्णवाचार्य स्वीकार नही करता। यदि निम्बार्काचार्य शकराचार्य के परवर्ती होते तो वे भी मौन रहकर उसे स्वीकार नही सकते थे। निम्बार्काचार्य ने तो अपने काल मे प्रचलित प्रायः सभी सिद्धान्तों का निराकरण किया है। जिन सूत्रों[1] से आचार्य निम्बार्क 'शक्तिकारणवाद' का निराकरण करते है, आचार्य शकर उन्ही से भागवत धर्म का खंडन करते हैं। शंकराचार्य ने तो चतुर्व्युहाकार मत का खण्डन किया है कि किन्तु आचार्य निम्बार्क शंकराचार्य के किसी भी मत का खडन नही करते। अतः स्पष्टतः ही आचार्य निम्बार्क शकराचार्य के पूर्ववर्ती रहे होगे।

आचार्य रामानुज 'वेदार्थ संग्रह' मे द्रमिळाचार्य रूप से सादर निम्बार्काचार्य का ही उल्लेख करते है।[2] श्री भाष्य (2/1/14) मे 'यथाह द्रमिल भाष्यकारः' कहकर छान्दोयोपनिषद भाष्य का एक अश भी उद्घृत करते है। ऐसी मान्यता है कि श्री निम्बार्क ही द्रविड देश में जन्म लेने के कारण द्रविड़ाचार्य कहे गए है।

पारम्परिक मान्यतानुसार आचार्य निम्बार्क द्वापरयुगीन माने गए हैं। किन्तु ऐसा मानने में भी कठिनाई है। क्योकि ब्रह्मसूत्रकार बादरायण को ही जब द्वापर युगीन माने जाते में संदेह है तो फिर निम्बार्काचार्य तो उनके भाष्यकार ही हैं। आचार्य निम्बार्क को भागवत मूर्ति काल में माना जा सकता है, वह काल भगवान कृष्ण की परिचर्या का स्थापना काल था। उनकी

---

[1] ब्रह्मसूत्र 2/2/42 से 2/2/45 तक।

[2] भगवद् बोधायन टक द्रमिड गुरूदेव कपर्दि .वेदार्थसग्रह।

प्रतीकोपासना का प्रचार हो रहा था। 'द्वापरे परिचर्याया' का तात्पर्य है कलियुग मे सचरित होने वाला द्वापर युग। आचार्य श्री निम्बार्क को द्वापरयुगीन माने जाने का यही रहस्य प्रतीत होता है।[1]

श्रीमद्भागवत् के अनेक स्थलों पर आचार्य निम्बार्क के सिद्धान्तों का निरूपण प्राप्त होता है। परवर्ती भाष्यकार, टीकाकार उन्हें सुदर्शन का अवतार स्वीकार करते हैं। 'वेदान्त परिजात् सौरभम्' के टीकाकार श्री पुरूषोत्तम जी भी आचार्य निम्बार्क को लुप्तप्रायः प्राचीन वेदान्त परम्परा का प्रवर्तक मानते है। श्री निम्बार्क द्वारा चलाए गए धर्म चक्र द्वारा सम्पूर्ण भारत मे अनेक स्थानो पर धार्मिक संगठन स्थापित हुए। अन्त में श्री निम्बार्काचार्य ने अपने उपास्य की लीलाभूमि ब्रजमंडल को चुना। निम्बार्काचार्य का धर्म चक्र (जो आचार्य के सुदर्शन तेज का सूचक है), बाद में समन्वयवादी सम्राट अशोक, जो 270 ई०पू० का था, द्वारा अपने धर्मचक्र रूप में स्वीकार किया गया। बुद्ध को विष्णु के अवतारों मे मान्यता देने वाले भी आचार्य निम्बार्क ही थे।

कृतित्व

आचार्य निम्बार्क ने **'वेदान्त पारिजात सौरभम्'** मे ब्रह्मसूत्र के वाक्यार्थ द्वारा जीव, जगत् व माया का ब्रह्म के साथ द्वैताद्वैत सम्बन्ध स्थापित किया है, एवं अपने मत को पुष्ट करने के लिए उपनिषद् वाक्यों, श्रुतियों से प्रमाणो को उद्धृत किया है। ब्रह्मसूत्र में भी जिन वेदान्तियों का

---

[1] निम्बार्क वेदान्त (पूर्वार्द्ध) सिद्धान्त अविरोध (द्वितीय अध्याय) पृ० 52

नाम्मोल्लेख हुआ है, वे सभी द्वैताद्वैत मतानुयायी आचार्य ही रहे है, यद्यपि अब उनके ग्रन्थ उपलब्ध नही है।

भगवत् गीता भाष्य का प्रणयन आचार्य निम्बार्क ने कुरूक्षेत्र के नास्तिक लोकायतों को प्रेमोपदिष्ट करने हेतु किया। दुर्भाग्यवश ये ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, इसका उल्लेख मात्र प्राप्त होता है।

वेदान्त सिद्धान्त प्रदीप आचार्य प्रणीत एक कूट ग्रन्थ है। यह शंकराद्वैत सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करता सा प्रतीत होता है।

वेदान्तपारिजात सौरभम् में वाक्यार्थ रूप में प्रस्तुत तथ्यों के सार स्वरूप दशश्लोकात्मक ग्रन्थ **'दशश्लोकी'** है। इसे 'वेदान्त कामधेनु' भी कहते हैं। इसकी तीन टीकाए प्राप्त होती हैं– 'वेदान्त रत्न मंजूषा', 'लघु मजूषा', एवं हरिवंश मुनि की टीका।

छान्दोग्योपनिषद पर भाष्य का कुछ अंश रामानुजाचार्य ने श्रीभाष्य में 'द्रविडाचार्य' नाम से उद्धृत किया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ प्राप्त नही है।

रहस्य षोडशी' नामक 16 श्लोकीय वक्तव्य में निम्बार्काचार्य ने 'अष्टादशाक्षरी' मन्त्र' की ब्रह्मविद्या के रूप मे रहस्यात्मक व्याख्या की है।

'प्रपन्न कल्पवल्ली' में आचार्य निम्बार्क शरणागत मन्त्र का रहस्य प्रकट करते हैं।

'पंच कालानुष्ठान मीमांसा' मन्त्र विद्या की साधना एवं अनुष्ठान की विधि का विवेचन करता है।

'रहस्यषोडशी', प्रपन्न कल्पवल्ली एवं पच कालानुष्ठान मीमांसा इन तीनो ग्रन्थों का एक साथ **रहस्य मीमांसा** नामक ग्रन्थ मे संकलन है। रहस्य

मीमासा निम्बार्क सम्प्रदाय का तन्त्र ग्रन्थ माना गया है, जिसमें युगल उपासना का गूढ रहस्य बताया गया है।

'श्री कृष्ण स्तवराज' में श्री कृष्ण परब्रह्म की स्तुति परक स्तोत्र दिये गए है। जिस पर पुरूषोत्तम प्रसाद ने 'श्रुत्यन्तर सुरद्रुम' नामक टीका एवं 'स्त्रोतत्रयी' टीका लिखी। 'श्रुति सिद्धान्त मञ्जरी' भी इस ग्रन्थ की एक टीका है, जिसके लेखक का नाम अद्यतन अज्ञात है।

'प्रातः स्मरणीय स्तोत्र' 'जमुना स्तोत्र' आदि स्तोत्र छन्द भी आचार्य श्री निम्बार्क के नाम से ही प्रसिद्ध है।

शिष्य परम्परा

आचार्य निम्बार्क के तीन मुख्य शिष्य हुए उदुम्बराचार्य गौरमुखाचार्य, श्री निवासाचार्य।

श्री उदुम्बराचार्य

आचार्य उदुम्बर निम्बार्काचार्य के द्वारा दाहिने पांव के अंगूठे से गूलर का फल छूने से प्रकट हुए माने गए है। इसी कारण इनका नाम भी उदुम्बराचार्य ही हुआ। उन्होंने अज्ञानी, अहंकारी मनुष्यो को भक्ति का उपदेश देने के लिए 'औदुम्बर संहिता' ग्रन्थ का प्रणयन किया। निम्बार्क विक्रन्ति' नामक खण्ड काव्य मे उन्होने निम्बार्काचार्य का चरित्र चित्रण किया है। आज भी कुरूक्षेत्र के 'पपनावा' स्थाप पर 'औदुम्बराश्रम' है।

श्री गौरमुखाचार्य

इन उल्लेख हमें पुराणो मे भी प्राप्त होता है। ये पहले शाक्त अनुयायी माने गए है, तब इनका नाम विद्याधर था। आचार्य निम्बार्क के प्रभाव वश में

वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षित होकर आचार्य के शिष्य बन गए, तथा 'गौरमुख' नाम रखा। इन्होंने 'श्री निम्बार्क सहस्रनाम' रचा। 'ब्रह्म वैवर्तपुराण' मे 'गौरमुखोऽरूणिः' कहकर इनका ही उल्लेख है। मान्यता है कि राजा परीक्षित को 'ऋषिपुत्र द्वारा दिये गए शाप की सूचना इन्होंने दी थी।

श्रीनिवासाचार्य

ये आचार्य के मुख्य शिष्य थे। इन्हे आचार्य निम्बार्क ने आचार्य पद का प्रतिनिधित्व सौपा था। मान्यता है कि आचार्य निम्बार्क का शिष्यत्व ग्रहण करने के पूर्व ये 'विद्यानिधि' नामक जैन मुनि थे। कहीं—कहीं इन्हें शांडिल्य मुनि का पुत्र भी माना गया है। आचार्य द्वारा गोवर्धन की अपनी कुटि में इन्हें ही निम्ब वृक्ष पर रात्रि मे सूर्यदर्शन कराया गया, जिससे चमत्कृत हो इन्होने आचार्य का शिष्यत्व ग्रहण किया। इन्होंने 'लघुस्तवराज' ग्रन्थ में निम्बार्काचार्य की 412 लोकों में स्तुति की है एवं गुरूतत्त्व, दीक्षातत्त्व, आचार्य तत्त्व, गुरूकृपा आदि का वर्णन किया है। इन्हें भगवान के शंख का अवतार भी माना जाता हैं। आज भी सभी वैष्णव शख—चक्र युक्त तिलक से अपने शरीरों, भवनों, ग्रन्थों आदि को सुशोभित करते है। श्री निवासाचार्य ने 'वेदान्त पारिजात सौरभम्' पर 'वेदान्त कौस्तुभ' नामक भाष्य—टीका लिखी, इसमे उपनिषद वाक्यो का अनूठा एव मार्मिक समन्वय प्राप्त होता है। इन्हें निम्बार्क सम्प्रदाय का प्रथम भाष्यकार भी मानते है।

इनके बाद के 30 आचार्यो के विस्तृत वर्णन तो नही मिलते, मात्र नामोल्लेख ही प्राप्त होता है।

डा० भण्डारकर ने हरिव्यास देव को निम्बार्क से 32 वां गुरू माना है। श्री भट्ट जी इनके गुरू थे। ये श्री भट्ट जी, श्री केशव कश्मीरी भट्ट जी के शिष्य थे। **श्री केशव कश्मीरी जी** निम्बार्काचार्य के कुल के ही तैलंग ब्राह्मण थे। अपनी विद्वता एवं सिद्धि के द्वारा कश्मीर के शाक्तों को वैष्णव मत मे दीक्षित करके 'केशव कश्मीरी' कहलाए। इन्होंने बंगाल में भी वैष्णवमत का प्रबल प्रचार करते हुए सम्पूर्ण भारत में वैष्णव मत का प्रचार किया। मथुरा में जमुना जी की स्तुति में 'जमुनास्तोत्र' की रचना की। श्री निम्बार्काचार्य के ब्रह्मसूत्र भाष्य का विस्तृत विवरण लिखा एवं 'श्रीमद्भगवत्गीता पर भाष्य लिखा। 'क्रम दीपिका' नामक ग्रन्थ की भी रचना की, जिसमें उपास्य देव की उपासना के मान्त्रिक प्रयोग बताए गए हैं।

श्री (हरि) भट्ट देव जी

आचार्य श्री भट्टदेव जी हरियाणा राज्य के हिसार जिले के गौड ब्राह्मण थे। श्री केशवकश्मीरी भट्ट जी से दीक्षित होकर पारम्परित गादी के प्रतिनिधि बने। सर्वस्व त्याग करके वृन्दावन में युगल घाट एवं वंशीवन में भगवद् रसोपासना मे निमग्न रहते थे। ऐसी मान्यता है कि इनकी गोद मे श्यामा–श्याम आकर रहते थे, जिन्हें ये अपने हाथों से दुलारते हुए भगवद् भक्ति में रसलीन रहते थे। श्रीभट्ट जी ने हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम रसोपासना सम्बन्धी पदो का प्रणयन किया जो संकलन रूप में 'आदि वाणी युगल शतक' नाम से जाना जाता है। देवर्षि नारद द्वारा प्रारम्भ किये गए सामगान की पद्धति का हिन्दी में प्रारम्भ एव ब्रज के रास लीलाभिनय का

प्रारम्भ इन्होने ही किया, जिस कारण ये सभी वैष्णवरसिको मे 'आदि वाणीकार' रूप में जाने जाते हैं।

श्री हरिव्यास देव जी

हरियाणा, नारनौल के गौड़् ब्राह्मण श्री हरिव्यास देव जी श्रीभट्ट देव जी ने प्रतिनिधि बनकर गादी मे अभिषिक्त हुए। ये शुक्ल यजुर्वेदी, माध्यन्दिन शाखा के सांकृत गोत्र ऋषि कुल के थे। हरिव्यास देव जी ने प्रेम मयमाधुर्य रस के प्रकाशक वाणियो में अपने को 'हरिप्रिया' सखी के रूप मे उपस्थित किया है। इन्होने निम्बार्क सम्प्रदाय के सिद्धान्त को लोक भाषा 'ब्रज' में प्रकाशित किया। उनकी 'महावाणी' प्रसिद्ध कृति है। इसके अतिरिक्त 'दशश्लोकी' पर 'सिद्धान्त रत्नामजली' नामक सरस टीका लिखी। इन्होने सम्पूर्ण भारत मे परमहंस रूप मे भ्रमण कर निम्बार्क सम्प्रदाय का विशेष प्रचार एव विस्तार किया। सम्प्रदाय का व्यास (विस्तार) करने के कारण ही इन्हे 'हरिव्यास' नाम से जाना जाता है।

उत्तरांचल के शाक्त पीठों में बलि प्रथा की समाप्ति इन्होने ही की। ऐसी मान्यता है कि एक बार बलि चढते देख इन्होने द्रवीभूत एवं दु:खी होकर अनशन किया जिससे देवी ने स्वयं प्रकट हो वैष्णवी बनकर इनसे दीक्षा ग्रहण की।

हरिदास जी, हरिवंश जी एव हरिप्रिय जी तीनों ने ब्रज मे मधुर भक्तिरस का प्रचुर प्रसार किया, ये 'हरित्रय' के नाम से जाने जाते हैं।

श्री परशुराम देव जी

श्री हरिव्यास देव जी ने अपने भाई के पुत्र श्री परशुरामदेव जी को अपना प्रिय शिष्य माना। उन्होंने अपनी निर्गुणवादी रीति की भक्ति से हरियाणा एवं राजस्थान के भक्तों को यमन फकीर सलेनशाह के त्राण से मुक्त किया। वैष्णव शास्त्रीय निर्गुण रीति में प्रियावत भाव की विशेषता थी, जिसमे भक्त प्रभु को पति एवं स्वय को पत्नी रूप से उपासना में संलग्न करता है। इसके विपरीत निर्गुण सूफी स्वयं को पति एवं अलक्ष्य निर्गुण शक्ति को अपनी पत्नी मानते है।

श्री बिठ्ठल नाथ तथा पुरूषोत्तमदेव ने लगभग तीन दशकों तक राजस्थान के आदिवासी इलाको को भारतीय संस्कृति मे ढालने का प्रयास किया। आज भी वहा के धार्मिक समाज में इन दोनों सन्तो का विशेष पूजनीय स्थान प्राप्त है।

हरिव्यास देवजी के 12 शिष्यो में परशुराम जी प्रमुख थे। उनके शिष्य प्रशिष्य आज भी किशनगढ की राज–सहायता से वहां निम्बार्क मत के प्रचार–प्रसार मे संलग्न है। इनकी कई पीढी बाद के महन्तो की प्रेरणा से वृन्दावन में अनेक मंदिरों का निर्माण होता रहा है। कुछ शिष्यों ने अजमेर, उदयपुर, रैनवाल आदि स्थानों में महंत स्थल स्थापित किये है, जो अब 'परशुराम द्वारा' कहलाते हैं।

निम्बार्काचार्य का सिद्धान्त

आचार्य निम्बार्क 'द्वैताद्वैतवाद' के प्रवर्तक माने गए हैं। यद्यपि आचार्य बादरायण, उनके समकालीन एवं निम्बार्काचार्य के पूर्ववर्ती अनेक वेदान्त विद्

आचार्य द्वैताद्वैत वादी थे, किन्त श्रुति तत्व के प्रतिपादक, ब्रह्मसूत्रों की कसौटी पर जो सिद्धान्तवादी खरे उतरे वे मान्य हुए, एव जिसने उन सिद्धान्तों की प्रामाणिकता सिद्ध की, वे ही उस सिद्धान्त अथवा मतवाद के प्रतिनिधि अथवा प्रवर्तक आचार्य माने गए।[1] द्वैताद्वैत मत को ब्रह्मसूत्र के अक्षर स्वरस्य से वाक्यार्थ रूप में प्रकट करने वाले आदि आचार्य श्री निम्बार्क ही थे, अतएव 'द्वैताद्वैतवाद' उन्ही का प्रधान मत कहा गया है।

आचार्य निम्बार्क ने ब्रह्म एव जीव के सम्बन्ध को 'द्वैताद्वैत' रूप मे स्वीकार किया है। भोक्ता जीव, भोग्य जगत् एवं प्रेरिता मन तथा अहंकार को ब्रह्म का अग मानकर उसी मे समन्वय कर देने से परमानन्द तत्व का प्रकाशन होता है। यह समन्वय ही 'भूमा सुख'है। अतः आचार्य निम्बार्क का दर्शन भी 'समन्वयात्मक' कहा गया है।

निम्बार्काचार्य एक उच्च कोटि के परम भावुक रसिकाचार्य थे। इन्हें ऋषिमुनियों द्वारा 'जगद्गुरू' की पदवी दी गयी है। द्वैताद्वैत मत में गुरू महिमा का एक विशिष्ट ही महत्त्व है। आचार्य निम्बार्क ने देवर्षि नारद को अपना गुरू[2] स्वीकार करते हुए 'भूमा ज्ञान' को भगवान हंस की गुरू – परम्परा से प्राप्त माना है। मनुस्मृति में गुरू अथवा आचार्य का लक्षण दिया गया है। 'आचिनोति च शास्त्रार्थ माचारे स्थापयत्यपि। स्वयमयमाचरते यस्तु स आचार्य उदाहृतः।' अर्थात् जो शास्त्रीय आचार परम्पर का पालन करते हुए स्वयं उसे आचरण में लाए, तथा स्वतः साधक होकर कृतकार्य हो अर्थात् शिष्य का भी उद्धार करने में सक्षम हो, उन्हे ही आचार्य कहते है।

---

[1] निम्बार्क वेदान्त – भूमिका – पृ० 56-57

[2] परमाचार्ये श्री कुमारैरस्मद् मुखे श्री मन्नारदायोपदिष्टो. …..बोधा० सू० 1/3/8

पुराणो एवं स्मृतियों ने गुरू रूप मे ब्रह्मनिष्ठ, ज्ञान एवं भगवत् कृपा की इच्छा वाले 'ब्राह्मण' को माना है। आचार्य निम्बार्क ने भी वेदोपनिषदो[1] की ही भांति भगवतकृपा की इच्छा रखने वाले तथा उसी भाव मे निमग्न रहने वाले वास्तविक ब्रह्मविद्यावादी को ही आचार्य कहा है।[2]

सनकादि ऋषियों द्वारा प्रवर्तित आचार्य परम्परा मे देवर्षि नारद के शिष्य निम्बार्काचार्य माने गए हैं। नारद ने उपनयन संस्कार के समय स्वयं उपस्थित होकर श्री निम्बार्क को 'गायत्रीमंत्र' 'अष्टादशाक्षरी' 'ब्रह्मविद्या' तथा 'भक्ति सूत्र' का उपदेश दिया था।

'गीता' में भी ज्ञान, विज्ञान (ब्रह्मतत्व का ज्ञान) एवं ईश्वर–गुरू तथा शस्त्र पर विश्वास ये तीन ब्रह्म ज्ञानी के स्वाभाविक गुण कहे गए हैं। यही गुण गुरू या आचार्य के भी है अर्थात् ब्रह्मज्ञानी ही आचार्य है।

श्रीमद् भगवतं में एक कथा है, "जीव रूपी अर्जुन को जब मृत ब्राह्मण बालकों के अमृतत्व को जानने की अभिलाषा हुई तो भगवान श्री कृष्ण जो कि अर्जुन के सहचारी सखा है, उन्होंने अर्जुन के साथ पश्चिम दिशा की ओर अपने चार घोडों वाले दिव्य रथ पर बैठकर प्रयाण किया। उस मार्ग पर बडा अंधकार था, उस मार्ग को प्रकाशित करने वाले सहस्रों सूर्यो के समान सुदर्शन थे। उस प्रकाशित मार्ग में जीव ने भोग के आसन पर सुखासीन पुरूषोत्तम को देखा, वह पर ज्योति रूप की प्राप्ति थी। उस प्रकाशमान स्थल पर सुदर्शन मूर्तिमान रूप से विराजते हैं। परब्रह्म श्री कृष्ण

---

[1] सद्गुरूमेवाभिगच्छेत् समित्याणिः श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ

[2] ....भगवत्प्रसादेप्सुना तद्दर्शनेच्छा लम्पटेनाचार्यैक देवेन श्री गुरूभक्त्ये क हार्देन ... ब्र० सू० वे० पा० सौ० 1/1/1 का वाक्यार्थ

ने वहा जाकर अपने ही अनन्त रूप भूमा की वदना की। भूमा की सुदीर्घ आठ भुजाए थी।"

इस कथा का रहस्य ही श्री निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैत सिद्धान्त है। इस कथा मे अर्जुन को 'ब्रह्म ज्ञान का जिज्ञासु' 'जीव' माना गया है, जो मृत ब्राह्मण बालको अर्थात् अज्ञान से समाविष्ट ब्रह्म जन्य जीवो के अमृतत्व को जाने की इच्छा रखता है। पश्चिम मार्ग जीव का भोगमार्ग है। इस भोग मार्ग मे जीव को आनन्द की प्रतीति होती है, किन्तु यह आनन्द अन्धकार पूर्ण अल्पानन्द ही है। प्रकाश की ओर ले जाने वाले गुरू ही हैं, जो निरन्तर भगवत भक्ति में लीन रहते है। उनके शरणागत होकर जीव गुरू से प्रार्थना करके ही उस प्रकाश को प्राप्त कर सकता है। वे गुरू सुदर्शन हैं जो अधकार मे प्रकाश करके जीव का मार्ग प्रशस्त करते हैं। उस प्रकाश से प्रकाशमान जीव परमात्मा के समान ज्योति को प्राप्त कर 'हंस' हो जाता है। गुरू एवं ब्रह्म को पूर्ण आनन्दमय जानने वाला जीव ही अमृतत्त्व प्राप्त करने में समर्थ होता है। यथा, श्वेताश्वतरोपनिषद् एवं मुण्डकोपनिषद में भी इसी प्रकार से कहा गया है।

'सर्वाजीवे सर्व संस्थे वृहते अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्म चक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्तस्तेनामृतत्वमेति।।'(श्वे० 1/6)

अर्थात् सब जीवों के आश्रयभूत विस्तृत ब्रह्म चक्र में जब यह ज्ञान स्वरूप हस जीवात्मा घुमाया जाता है, तब वह स्वयं को एवं अपने प्रेरक परमात्मा को भिन्न मानकर उसी परमात्मा में संलग्न हो जाता है, तथा अमृतत्व प्राप्त कर लेता है।

'यदा पश्यति पश्यते रूक्मवर्ण कर्तारमीश पुरूष ब्रह्मयोनिम्।

तदा विद्वान्पुण्य पापे विधूय निरंजनः परमं साम्युपैति।।' (मु०3/1/3)

जब यह जीवात्मा सबके नियन्ता परब्रह्म के तत्व का साक्षात्कार कर लेता है तब पुण्य–पाप से छूट कर परमात्मा के समान प्रकाशवान् हो जाता है।

इन दोनो श्लोको में ब्रह्म एव जीव का द्वैताद्वैत भाव कहा गया है। यही सिद्धान्त आचार्य निम्बार्क का भी है।

जब जीवात्मा जगत् का भोक्त स्वयं को समझता है, तभी उसकी आसक्ति होती है, यही अंधकार है। इसी आसक्ति को परमात्मा की ओर लगाने से प्रकाश होता है। तब सांसारिक भोग सीमित होकर [अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चिन्त, अहकार) उनमें संलग्न नहीं होता] निश्चित ही प्रकाशमय अमृतत्व की प्राप्ति हो जाती है। अन्तःकरण में 'हस' रूप 'ईश्वर' का निवास माना जाता है उस ईश्वर की प्राप्ति के लिए अन्तःकरण की वृत्ति को सत्यभाषण, तप एव ब्रह्मचर्य द्वारा ब्रह्मचिन्तन मे प्रेरित करना चाहिए। यही निम्बार्काचार्य 'उपासनीय नितरां जनैः सदाः'[1] द्वारा भी कहते है। वे स्वय सख्य भाव से युगल सरकार श्री राधा–कृष्ण की उपासना मे निरन्तर लीन रहा करते थे।

प्रकाशमय अन्तःकरण रूपी वृन्दावन में भोगासीन पुरूषोत्तम श्री कृष्ण की सेवा ही आसक्ति से मुक्ति है। अन्तःकरण चतुष्ट्य–मन,बुद्धि,चित्त एवं अहंकार– ये ही चार दिव्य घोडे है। इनका ही मार्ग, ब्रह्मचक्र सुदर्शन के

---

[1] दशश्लोकी – 5 वा श्लोक

अवतार माने गए निम्बार्काचार्य उपासना द्वारा प्रशस्त करते है। इसी को सख्य भाव मे 'तत्सुखन्सुखित्व भाव' कहा गया है। अन्तःकरण चतुष्ट्य को प्रकाशमय, अनन्त, अष्टभुजी सर्वेश्वर रूप भूमा में लगाना ही जीवन की सार्थकता है। यही आचार्य निम्बार्क का 'द्वैताद्वैत' सिद्धान्त है।

निम्बार्काचार्य ब्रह्म–जीव के मध्य भेदाभेद अथवा द्वैताद्वैत सम्बन्ध मानते है। रामानुजाचार्य की भांति–निम्बार्क भी चित्, अचित् एवं ईश्वर इन तीन तत्वो को मानते हैं। जीव अवस्था भेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी रहता है और अभिन्न भी। जब जीवात्मा कर्म सस्कारो के अधीन रहकर मलिन रहता है, तक वह ब्रह्म से भिन्न रहता है। तथा भगवद् भक्ति उसका वास्तविक स्वरूप प्रकट होने पर उस प्रकाशक परमात्मा के समान जीवात्मा भी प्रकाशमान होकर उसके साथ अभेद हो जाता है। आचार्य निम्बार्क इसके लिए समुद्र–तरग अथवा सूर्य एव उसकी रश्मि का उदाहरण देते हैं। चित् एव अचित् रूप सम्पूर्ण जगत् अपने कारण ब्रह्म मे भिन्न–भिन्न सम्बन्ध मे स्थित रहते हैं। जैसे सर्प की कुण्डली एव विस्तार मे भेदाभेद।

भेदाभेदवाद का यह सिद्धान्त दार्शनिक जगत् मे अत्यन्त प्रचीन है। शकरोत्तर वेदान्ताचार्यो में भास्कर का मत इनके मत से कुछ साम्य रखता है।

ब्रह्म का स्वरूप– निम्बर्काचार्य ब्रह्म का स्वरूप चतुष्पाद स्वीकार करते है।
(1) अक्षर (2) ईश्वर (3) जीव (4) जगत्

अक्षर –ये ब्रह्म के सत्, चित् एव आनन्द स्वरूप की सज्ञा है। इस स्वरूप में ब्रह्म कर्तृ–कर्म रहित, एक, अद्वितीय, निर्गुण, अक्षरादि रहता है। श्रुति, स्मृति का ब्रह्म सूत्र मे भी इसके प्रमाण उपलब्ध होते है।[1]

ईश्वर – सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म ही अचिंत्य, विचित्र सस्थान सम्पन्न, नाम रूप विशिष्ट इस जगत् की सृष्टि, स्थिति एव लय सम्पन्न करता है। वह जगत् का निमित्त एव उपादान कारण है। इस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी, सर्वरूप की 'ईश्वर' सज्ञा है।[2]

जीव – ब्रह्म स्वय ही अपने स्वरूप भूत चित्त को अनन्त रूप से प्रसारित करके अपने ही आनन्द स्वरूप इस जगत् के प्रत्येक अंश मे अनुप्रविष्ट रहता है। पृथक रूप से प्रविष्ट उनके चिदश समूह को जीव नाम दिया गया है।[3]

जगत – ब्रह्म के जिस रूप के प्रत्येक अश मे उसी के अनन्त चिदश प्रविष्ट हुए हैं, उसके उसी स्वरूप का नाम जगत् है।[4]

श्रुति और भी स्पष्ट रूप से ब्रह्म को चतुष्पाद कहती है। 'अनन्त -मस्तक' पुरूष का एक पाद है। अन्य तीन पाद– अक्षर, ईश्वर एवं जीव आद्यृत (मृत्यु कर्म रहित) स्वप्रकाश में विद्यमान है।

---

[1] एतद्वै तदक्षर गार्गि। ब्राह्मणो अभिवदन्त्य स्थूलमनण्वह्रस्वदीर्घम् .. . वृह० 3/8/8
तथा अक्षरमम्वरान्तघृते (ब्र० सू० 1/3/10)

[2] (क) यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ..(तैति० उप० 3/1)
(ख) जन्माद्यस्य यत ब्रह्मसूत्र 1/1/2

[3] (क) तदैक्षत् बहुस्या प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत् (छ० 6/2/2)
(ख) अशो नाना व्यपदेशदन्यथा चापि (2/3/42)

[4] (क) सोऽकायमत् बहुस्या प्रजायेयेति सा तपोऽतप्यत् तपस्तदव इद सर्वेमसृजत् यदिद कि च तत् सृष्टवा तदेवनु प्रविशत् (तैति० 2/6/1)
(ख) आत्मकृते प्ररिणामान् (1/46 ब्र० सू० निम्बार्क भाष्य)

निम्बार्क समस्त पदार्थ – निम्बार्काचार्य सम्मत तीन तत्त्व है– चित्, अचित् एव ईश्वर।

श्रीकृष्ण ही सर्वेश्वर ब्रह्म है। परमात्मा, परब्रह्म, नारायण, पुरूषोत्त्म, माधव केशव, भगवान, हरि इत्यादि इन्ही की संज्ञाए है। राधा इनकी आह्लादिनी शक्ति है। 'दशश्लोकी' मे श्रीकृष्ण को व्युहागिनी कहा गया है। राधा के साथ भगवान श्री कृष्ण ही दृष्टि, स्थिति एव लय के लिए सत्त्व, रजस् एव तमस् गुणो का आश्रय लेकर ब्रह्मा, विष्णु, महेश का रूप धारण करते हैं।[1] ईश्वर इन सबसे परे है। इन क्लेश विकारों एव प्राकृतिक गुणो से रहित भगवान श्रीकृष्ण हि परब्रह्म हैं। ज्ञानादि छह गुणों से युक्त हैं। सर्वश्रेष्ठ होने से परमात्मा ही वरेण हैं, जीवात्मा भगवान श्रीकृष्ण को ग्रहण करके, उनसे असंश्लिष्ट ही तद्वत हो जाए, तभी उसकी मुक्ति है। वेदो में 'गायत्री' श्रीकृष्ण रूप कही गयी है।[2]

ईश्वर ही जगत् का निमित्त एव उपादान कारण हैं। निमित्त कारण, क्योकि वह जीवात्मा को अपने–अपने कार्यो मे फलों के साथ संयुक्त करते है तथा सूक्ष्म चित् एव अचित् शक्तियो की अभिव्यक्ति द्वारा सृष्टि रचना के उपादानकारण है।[3]

ईश्वर के पर, व्युह, विभव, अन्तर्यामी, चर्या सभी स्वरूप निम्बार्काचार्य द्वारा स्वीकार किये गए है। अर्चावतार में राधा के साथ इनका पूर्ण स्वरूप

---

[1] स्वभावतोऽपास्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम्। व्यूहागिन ब्रह्म वर वरेण्य ध्यायेय कृष्ण कमलेक्षण हरिम् ।। – दशश्लोकि ।

[2] गायत्री हि वरेण्य

[3] यच्चकिचिन्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रुयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत् सर्व व्याप्य नारायण स्थित. ।। सिद्धान्त जाह्नवी, पृ० 53

होता है। श्रीकृष्ण सर्वेश्वर है, तो श्रीराधा सर्वेश्वरी। पुराणो मे वर्णित लीला रूप से कृष्ण का दाम्पत्य भाव, वस्तुतः लौकिक दाम्पत्य से नितान्त विलक्षण है[1] यह शक्ति एव शक्तिमान का अविनाभाव सम्बन्ध है। यहाँ राधा का अर्द्धांगिनी स्वकीया भाव है, क्योकि वामांग मे रहने का अधिकर पत्नी को ही है।[2] श्री राधा प्रेम का अधिष्ठात्री देवी हैं। श्री निम्बार्काचार्य श्रीकृष्ण के वामाग मे अभिन्न रूप से विराजमान श्री राधा की अद्वैत भाव के साथ नित्य मुक्त रूप में उपासना करते है।[3] ये राधा ब्रह्म स्वरूप के अनुसार रूप धारण कर रहती है।[4]

श्री राधिका को ही गुरू स्वरूप माना जाता है।[5] श्री कृष्ण स्वयं कहते है 'मेरी प्रिया राधिका को ही परम देवता गुरू स्वरूप जानो, इसी के आगे पीछे हजारो सखियाँ रहती है।' जीव सखीभाव से ही श्री कृष्ण की सेवा मे उपस्थित होकर उस परब्रह्म के घनानन्द रूप का स्वाद ले सकता है। बिना राधिका के कृष्ण अर्चन का अधिकार नही है। निम्बार्काचार्य का मानना है कि समस्त वैष्णवों को राधिका अर्चन अवश्य करना चाहिए। इस युगल स्वरूप की उपासना ही मोक्षदायक है।

---

[1] (क) तरयाज्जोतिरभूदद्वेधा राधामाधव रूप कम् सम्मोहन तन्त्र
(ख) अगेतु वामे वृषभानुजा .....कामदाम् ।। – दशश्लोकी वेदान्त कामधेनु श्लोक 1

[2] स वै नैव रेमे तस्मादेकाकीन् रमते सद्वितीयमैच्दत् स रममे वातमन द्वैधा पात य ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम् – वृह० उप० 1/4/3

[3] राधा कृष्णात्मको नित्य कृष्णो राधात्मको ध्रुवम् – ब्रह्म वैवर्त पुराण कृष्ण खण्ड।

[4] सातु साक्षान्महालक्ष्मी कृष्णो नारायण प्रभु नैतयोर्विधतेभेद· स्वल्पोऽप मुनि सतय इय दुर्गा हरीरूद्र· कृष्ण शक्र इय शची सावित्रीयं हरि ब्रह्मा धुमोर्ण सौ यमो हरि – पद्म पुराण पाताल खण्ड 50/55-56

[5] इय तुमत् प्रिय विद्धि राधिका परदेवता। अस्याश्चपरित· यश्चात् सख्य शत सहस्रशः।।
पद्मपुराण, पाताल खण्ड 51/73

जीव – निम्बार्काचार्य जीव को ईश्वर का अंश स्वीकार करते है। किन्तु यह अंशाभाव अवयव अथवा विभाग नहीं, अपितु उसका शक्ति रूप है।[1] ईश्वर सर्वशक्तिमान अंशी है, जीव उनका शक्ति रूप अश रूप है। जीव को आचार्य ज्ञान स्वरूप भी मानते है। जीव ज्ञान का आश्रय एवं ज्ञाता भी है। वह एक ही काल मे ज्ञान स्वरूप तथा ज्ञानाश्रय दोनों हो सकता है, यथा सूर्य प्रकाशमान एवं प्रकाश का आश्रय दोनो है। जीव का गुण है 'ज्ञान', इस जीवात्मा का अपने गुण 'ज्ञान', से ऐसा ही सम्बन्ध है, जैसा कि धर्मी का सम्बन्ध धर्म के साथ होता है, यह अभेद एवं भेद दोनो है। जीव कर्ता भी है, प्रत्येक दशा में जीव मे कर्तृव्य का सद्भाव है। 'कुर्वन्नेह कर्माणि जिजीवेच्छतं समाः' 'स्वर्ग कामो यजेत्' इत्यादि श्रुतियाँ संसार दशा में जीव के कर्तृव्य का प्रतिपादन करती हैं। 'मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीत्' 'शान्तं उपासीत्' इत्यादि श्रुतिवाक्य मुक्तावस्था मे भी उपासना का प्रतिपादन करते है, जिससे उक्त अवस्था में भी जीवात्मा का कर्तृव्य सिद्ध होता है। जीव अपने ज्ञान एवं भोग की प्राप्ति के लिए स्वतन्त्र न होकर ईश्वराश्रित है। मुक्तावस्था में भी वह ईश्वराधीन ही रहता है। निम्बार्काचार्य जीव को अणु परिमाण वाला मानते है तो भी ज्ञानरूपी गुण की सर्व व्यापकता को धारण किये रहने से शरीर मात्र में सुख–दु:ख का अनुभव करने में सक्षम है। जीवों की सख्या असख्य होने से वे अनन्त कहे गए है।[2] अनादि माया से ग्रसित होने के कारण यह जीवात्मा अपने नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप को समझ नहीं

---

[1] अशोहि शक्तिरूपो ग्राह्य – वेदान्त कौस्तुभ 2/3/42

[2] ज्ञान स्वरूप हरेरधीन शरीर सयोग वियोग योग्यम्। अणु हि जीव प्रति देहभिन्न ज्ञातृत्व यमनन्तमाहुः।।

पाता। भक्त ही इस स्वरूप को जान सकते है, उन पर जब ईश्वर की कृपा होती है।

यह जीव बद्ध एवं मुक्त रूप से दो प्रकार के है। बद्ध जीव मुमुक्ष एव बुभुक्षु , तथा मुक्त जीव मुक्त एवं मुक्त रूप है।[1]

जगत – निम्बार्काचार्य जड जगत् के तीन मुख्य वर्ग मानते है–

(1) अप्राकृत (2) प्राकृत (3) काल[2]

जिसकी उत्पत्ति मूल भूत आधार प्रकृति से नही हुई है,'अप्राकृत' है जैसे भगवान का लोक, जिसे श्रुतियॉ परमव्योम्, विष्णु पद आदि नाम से अभिहित करती है,। रामानुजाचार्य इसे शुद्ध सत्त्व मानते हैं। ये ईश्वर की नित्य विभूति के आधार स्वरूप है। सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों वाली प्रकृति से उत्पन्न हुए पदार्थो को 'प्राकृत' कहा जाता है। महत्तत्त्व से लेकर पचम महाभूत तक सम्पूर्ण भौतिक जगत् इसके अन्तर्गत आता है। प्रकृति की माया, प्रधान इत्यादि अनेक संज्ञाएं है।

काल अचेतन पदार्थ है। यह जगत् के समस्त परिणामो का जनक, तथा उपाधियो से युक्त होने से अनेक है। यह जगत् का नियामक होते हुए भी ईश्वर द्वारा नियम्य है। यह काल स्वरूप से नित्य है तथा कार्य रूप से अनित्य है। सूर्य की परिभ्रमण क्रिया ही उपाधि है, जिस पर जगत् का समस्त परिगणन निर्भर है।

---

[1] अनादि माया परियुक्त रूप त्वेन विदुवे भगवत् प्रसादात् । मुक्त च बद्धकिल बद्धमुक्त प्रभेद बाहुल्यमथापि बोध्यम्।।

[2] अप्राकृत प्राकृतरूपक च कालस्वरूप तद चेतन मत। माया प्रधानापि पद प्रवाच्च शुक्लादि भेदाश्च समेपितत्र।।

ब्रह्म-जीव सम्बन्ध एवं बंध का कारण – जीव, जगत् एवं ईश्वर तीनो तत्वो का पारस्परिक सम्बन्ध नितान्त एकत्व तथा अभेद परक नही है किन्तु परस्पर सर्वथा भिन्न भी नहीं है। निम्बार्काचार्य मानते है कि यदि परमात्मा, जीवात्मा एव जगत् से अभिन्न होता तो उसकी सर्वव्यापकता नही होती। ईश्वर भी जीवात्मा तथा जगत् की भाति परिमित परिणाम वाला होता। अतएव ब्रह्म एव जीव–जगत् के सम्बन्ध मे भेद तथा अभेद दोनो ही यथार्थ है। जीवात्मा तथा जगत् ब्रह्म से भिन्न भी है क्योकि उनके स्वरूप तथा गुण ब्रह्म से भिन्न है। वे स्वतन्त्र रूप से अपना अस्तित्व रखने मे अक्षम होते है, तथा ब्रह्म के आश्रित रहते है। इस प्रकार इनका भेद पृथक तथा आश्रयत्व का द्योतक है एवं अभेद स्वतन्त्र अस्तित्व के अभाव का द्योतक है, जो भिन्न है वह एकात्मक भी है।

जीव का विशुद्ध, नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्त स्वरूप अपने कर्म के कारण आवृत्त हो जाता है। निम्बार्काचार्य मानते है कि ईश्वर की दो शक्तियाँ 'निग्रह' एवं 'अनुग्रह' है। श्री- कृष्ण अपने क्रीडा हेतु कुतूहलवश जीव के बंध के लिए निग्रह शक्ति का प्रयोग करते हैं इसके द्वारा जीव के आनन्दादि गुणो का तिरोधान हो जाता है। आकार के तिरोधान से अणुत्व, ऐश्वर्य के तिरोधान से अकर्तृत्व, विज्ञान के तिरोधान से अकिचित कर्म अज्ञता होती है।

साधन भक्ति के निरन्तर अभ्यास से ही ब्रह्म की अनुग्रह शक्ति प्राप्त होने पर जीवात्मा बंधनों से मुक्त होकर परमात्मा की समता प्राप्त करता है। अनुग्रह शक्ति भगवद् कृपा है।

मोक्ष का स्वरूप – निम्बार्काचार्य के मत में जीवात्मा की मुक्ति ही प्रधान है। भक्त के प्रति प्रभु की वत्सलता एव हितमत्व की निरन्तर कामना ही मुक्ति मे परम सहायक है।[1] इसे ही वेदान्त में 'क्रममुक्ति' कहा गया है। इस अवस्था मे जीव के सचित एव क्रियमाण् दोनो प्रकार के कर्मो के बंधन टूट कर केवल प्रारब्ध कर्मो का भोग शेष रहता है, जो शरीर नाश तक बना रहता है।[2] तदुपरान्त शरीरांत होने पर जीवात्मा परमात्मा –धाम मे अपने स्वाभाविक रूप में प्रकट होती है।[3] जीव परमात्मा के समान गुणों वाला होकर उसी की भॉति तेज स्वरूप, अपहत पाम्पा इत्यादि गुण युक्त सारूपा 'मुक्ति' प्राप्त करता है। परब्रह्म के प्रकाश से जीव को सर्वज्ञता प्राप्त होती है।[4] मुक्त जीव अपहत्पाप्मा व चैतन्य दोनों ही रूपों का होकर सत्य संकल्पवान् हो जाता है। तथा सर्वत्र स्वतन्त्र हो जाता है।[5] सृष्टि के सम्पर्क से रहित हो जाता है। परं ज्योति प्राप्ति के अनन्तर जीवात्मा की पुनरावृत्ति नही होती।

मोक्ष के साधन – निम्बार्काचार्य ज्ञान (विद्या) एवं कर्म दोनों को एक साथ मोक्ष के साधन के रूप मे स्वीकार करते है। अनासक्त कर्म के अनुष्ठान की प्रधानता मानी गयी है। बादरायणाचार्य की भाति निम्बार्काचार्य भी मानते है कि गुहस्थ धर्म के साथ अन्य आश्रमों का भी समान रूप से अनुष्ठान कराना

---

[1] सहृदय सौमनस्यमविद्वेष कृष्णोमिवः । अन्यो अन्यमभिर्ध्यत वत्स जातमिवाध्य।। – अथर्ववेद 3/10/1

[2] तस्य तावदेव चिर यावम विमोक्षेऽथ सपत्स्ये : छान्दो० उप० 6/14/211

[3] य आत्माऽपहतपाप्मा।

[4] वेदान्त पारिजात सौरभम् – निम्बार्काचार्य – 4/4/4

[5] स स्वराट् भवति – छान्दो० उप० 7/25/211

चाहिए। आश्रमो यज्ञों का विधिवत् पालन के साथ शमदमादि अन्तरग साधन भी अपनाने चाहिए।[1] मोक्ष मार्ग के अनुगामी ब्रह्म विद्याभ्यासी उपासक को विद्या के अंगभूत यज्ञादि का अनुष्ठान आवश्यक है।

उपासना सन्यास मार्ग की अपेक्षा रखती है। गीता अनासक्त गृहस्थ को ही उपासक एव सन्यासी कहती है। कलिकाल मे गृहस्थाश्रम ही साधन माना गया है।[2] यज्ञादि कर्मानुष्ठान, शमदमादि साधन की भाति 'मौन' भी ब्रह्म विद्या का सहयोगी माना गया है।[3] अनासक्त भाव से कर्मो का पालन ही 'मोक्ष' का मार्ग प्रशस्त करता है। इनके पालन से भगवद् भक्ति की भावना मे दृढता आती है। इस प्रकार निम्बार्काचार्य मानते है कि 'ज्ञान' एव अनासक्त भाव से किया गया 'कर्म' 'भक्ति' के पूर्वनियत साधन हैं।

भक्ति मार्ग – मोक्ष की प्राप्ति में भक्ति को अन्तिम साधन माना गया है।[4] प्रेमा भक्ति ही उत्तम परा भक्ति है। दूसरी साधनरूपा वैधी भक्ति है। भक्ति की प्रक्रिया मे ईश्वर कृपा सर्वोच्च है जो सर्वोत्त्म आत्मसमर्पण के पश्चात् ही प्रेम व श्रद्धा रूप में प्राप्त होती है।

मोक्ष की प्राप्ति के लिए उत्तम गुरू का आश्रय आवश्यक माना गया है। निम्बार्काचार्य श्री राधा जी को ही सर्वोत्तम गुरू मानते है। उन्होंने देवर्षि नारद को भी अपने गुरू स्वरूप स्वीकार किया है। गुरू की कृपा एव साधनों

---

[1] तस्मादेव विच्छातोदात उपरतस्तितिक्षु समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मान पश्येद्– वृह० 4/4/23

[2] आश्रमाणा कलावेको गृहमेघो विशिष्टे ...ज्ञान वैराग्य ही नैस्तु सन्यासोस्त गमिष्यति – भविष्य पुराण।

[3] यथा–यथा सदाग्यासान् मनस स्थिरता भवेत्। वायुवाक्काय दृष्टीना स्थिरता च तथा–तथा।

[4] अचिनोति च शास्त्रार्थमाचारेस्था प्यत्यपि। स्व यममाचरते यस्तु स आचार्य उदाहृत।

के अनुष्ठान पूर्वक मन के संयत होने पर अन्तःकरण की वासना की ग्रन्थि, जो जीवात्मा में स्वत्व रूप में रहती है, छूट जाती है। तब करूणागार प्रभु की शरणागत पर असीम कृपा होती है। ईश्वर कृपा से प्राप्त प्रेमा भक्ति ही उत्तम अथवा पराभक्ति कही गयी है। ये भक्ति की सिद्धावस्था है।

मध्वाचार्य का जीवन वृत्त एवं कृतित्व

आचार्य मध्व को आनन्दतीर्थ एव पूर्णप्रज्ञ भी कहा जाता है। ये वायु के अवतार माने जाते है। डा० भण्डारकर ने मध्व की जन्म तिथि उनके 'महाभारत तात्पर्य–निर्णय' ग्रन्थ मे उल्लेख के आधार पर सन् 1199 अथवा शक 1119 बतायी है। यह तिथि मठ की सूची में भी उल्लिखित है। मध्व की यही जन्म तिथि ग्रियर्सन एव कृष्ण स्वामी अय्यर द्वारा भी स्वीकृत की गयी है।

यद्यपि मध्व के जीवन के सम्बन्ध मे कोई प्रामाणिक स्रोत प्राप्त नही होते तथापि उनके एक शिष्य त्रिविक्रम के पुत्र नारायण भट्ट द्वारा रचित 'मध्व विजय' एव 'मणि मंजरी' मे आख्यानात्मक एवं अर्ध पौराणिक रूप मे मध्व की जीवन चरित प्राप्त होता है।

मध्व लध्यगेह भट्ट के पुत्र थे जो श्रृगेरि से लगभग 40 मील पश्चिम मे स्थित उडिपि के निकट रजतपीड मे रहते थे। श्रृगेरि में शकराचार्य का सुप्रसिद्ध मठ था। उडिपि अब भी दक्षिण कतारा मे मध्व मत का प्रमुख केन्द्र है। रजतपीठ ग्राम जहाँ मध्व ने जन्म लिया था, सम्भवत· आधुनिक कल्याणपुर ही था। मध्वाचार्य अच्युतप्रेक्ष के शिष्य थे। दीक्षा के समय उन्हे पूर्णप्रज्ञ नाम प्राप्त हुआ तथा तत्पश्चात् 'आनन्द तीर्थ' नाम मिला। वे दोनों दी नामो से प्रसिद्ध है। पहले तो उन्होंने शाकराद्वैत का अध्ययन किया, किन्तु शीघ्र ही स्वयं का विचार तन्त्र विकसित किया जो शंकराचार्य के मत का प्रबल विरोधी था।

उन्होने अपने पूर्वाचार्यो द्वारा लिखित इक्कीस 'भाष्यो' का खण्डन किया। रजतपीठ मे एक बार अपने गुरू अच्युत प्रेक्ष से मिलने हेतु आए शंकराद्वैत मत के एक महान विद्वान को शास्त्रार्थ मे परास्त किया। फिर वे अच्युतप्रेक्ष के साथ दक्षिण मे गए और विष्णु मगल नगर मे पहुचे। यहॉ से वे दक्षिण दिशा को गए और अनन्तपुर (आधुनिक त्रिवेन्द्रम) पहुचे। यहॉ उनका श्रृगेरि मठ के शकरानुयायियो से लम्बा शास्त्रार्थ हुआ। वे धनुष्कोटि तथा रामेश्वरम् भी गए तथा श्री विष्णु की उपासना की। राह मे उन्होने कई विरोधियो को परास्त किया तथा रामेश्वरम् मे चार माह तक निवास किया, तत्पश्चात् उडिपि लौट आए। इस प्रकार दक्षिण मे स्वय को एक विद्वान के रूप मे प्रतिष्ठा दिलाकर उत्तरी भारत का पर्यटन प्रारम्भ किया। वे गगा पार क़रके हरिद्वार गए। वहॉ से वे बदरिकाश्रम गए, जहॉ उनकी व्यास से भेट हुई मानी जाती है। कहा जाता है कि व्यास ने उन्हे शकराचार्य के मिथ्या 'भाष्य' के खण्डनार्थ 'ब्रह्मसूत्र' पर एक भाष्य लिखने का आदेश दिया था। उन्होने कई शंकर मतानुयायियो, शोभन भट्ट त्रिविक्रम पडित इत्यादि का मत परिवर्तन किया। उडिपि लौटने पर उन्होने अपने गुरू अच्युतप्रेक्ष को अपने सिद्धान्तो से प्रभावित कर उन्हें अपना मतानुयायी बना लिया। जीवन के अन्तिम वर्षो मे मध्व ने पुन. उत्तर की तीर्थ यात्रा की और वहॉ व्यास से मिले। वे उन्यासी वर्षो तक जीवित रहे और सम्भवत शक 1198 अथवा सन् 1276 मे परलोक वासी हुए।

मध्व रचित सैतीस (37) ग्रन्थ माने जाते है, इनका सक्षिप्त वर्णन निम्नवत् है।

(1) ऋग्भाष्य – जो ऋग्वेद के अध्याय 1/1-40 पर टीका है।

(2) क्रमनिर्णय – ऐतरेय ब्राह्मण अध्याय 4/1-4 ऐतरेय आरख्यक अध्याय 4/1 एव उसमे उद्घृत वैदिक ऋचाओ के सम्यक् उच्चारण एव क्रम के सम्बन्ध में विवेचन है।

(3) ऐतरेयोपरिषद्–भाष्य
(4) तैत्तिरीयोपनिषद्–भाष्य
(5) ईश्वावास्योंपनिषद् – भाष्य
(6) काठकोपनिषद्–भाष्य
(7) मुण्डको पनिषद्–भाष्य
(8) माण्डूकोपनिषद्– भाष्य
(9) प्रश्नोपनिषद्–भाष्य
(10) केनोपनिषद–भाष्य
(11) महाभारत–तात्पर्य निर्णय
(12) भगवत् गीता भाष्य
(13) भगवद् गीता तात्पर्य निर्णय
(14) भागवद् तात्पर्य निर्णय
(15) ब्रह्मसूत्र भाष्य (पूर्ण प्रज्ञ भाष्य)
(16) ब्रह्मसूत्र अनुभाष्य
(17) ब्रह्मसूत्र अनुव्याख्यान
(18) ब्रह्मसूत्रानुव्याख्यायन निर्णय
(19) प्रमाण लक्षण
(20) कथा लक्षण
(21) उपाधि खण्डन
(22) मायावाद खण्डन
(23) प्रपंच मिथ्यानुमान खण्डन
(24) तत्वोद्द्योत
(25) तत्व विवेक
(26) तत्व सस्थान
(27) विष्णु तत्व निर्णय
(28) तत्रसार संग्रह
(29) कृष्णामृत महार्णव
(30) यति प्रणव कल्प
(31) सदाचार स्मृति
(32) जयन्तीनिर्णय/जयन्ती कल्प
(33) यमकः भारत
(34) नृसिह नखस्तोत्र
(35) द्वादश स्तोत्र
(36) सन्यास पद्धति
(37) वेदान्त वार्तिक

मध्व की 'महाभारत तात्पर्य निर्णय' बत्तीस अध्यायो की छन्द बद्ध रचना है। उसमे आचार्य ने स्वीकार किया है कि चार वेद , पाचरात्र, महाभारत, मौलिक रामायण, व ब्रह्मसूत्र ही केवल प्रामाणिक श्रुति मूल पाठ है। तथा इनके विरोध में जो कुछ भी है वह असत्य है। इसके द्वितीय अध्याय में महाभारत के मुख्य उपदेशो का साराश है।

'भागवत् तात्पर्य निर्णय' मे मध्व भगवत् पुराण के बारह स्कन्धो मे से कुछ महत्वपूर्ण श्लोको का चयन करते है, और अन्त मे भागवत् के सत्य मत के रूप मे अपने मत का सक्षिप्त साराश देते है।

मध्व की 'गीता तात्पर्य' गद्य एवं पद्य मे लिखी गई रचना है, जिसमे मध्व के मतानुसार 'गीता' का सार तत्व दिया गया है। यह गीता के अठारह अध्यायो का क्रमिक साराश है। इसके अतिरिक्त 'गीता भाष्य' नामक रचना मे कुछ महतवपूर्ण श्लोको पर क्रमबद्ध से टीका की गयी है।

मध्व ने 'ब्रह्म' पर 'ब्रह्सूत्र भाष्य' की रचना की जो लगभग 2500 सूत्रो की एक रचना है तथा इसकी टीका संक्षिप्त एव संकेतात्मक है।

मध्व ने 'ब्रह्म सूत्र' अनुव्याख्यान में ब्रह्म को निर्दिष्ट करने वाले ओऽकार को ज्ञात करना आवश्यक माना है, जो समस्त वेदो का अभिप्राय है।

मध्वाचार्य के उत्तराधिकारियो की एक लम्बी सूची है, जिसमे स्वय मघ्वाचार्य से लेकर सत्ववित् तीर्थ (शक् 1804अथवा सन् 1882) तक 35 गुरूओ का नाम सम्मिलित है। बलदेव विद्याभूषण ने अपने 'ब्रह्म सूत्रभाष्य' (गोविन्द भाष्य) के प्रारम्भ मे उनका उल्लेख किया है।

जयतीर्थ (14 वी शताब्दी) और व्यास तीर्थ (15वीं शताब्दी) माध्व मत के प्रकाण्ड विद्वान माने गऐ है। जयतीर्थ ने माध्व भाष्य पर 'तत्व प्रकाशिका' टीका तथा अनुव्याख्यान पर 'न्याय सुधा' टीका लिखी तथा 'प्रमाण पद्धति' नामक मौलिक ग्रन्थ की रचना की। व्यासतीर्थ ने 'तत्व प्रकाशिका' पर 'तात्पर्य चन्द्रिका' टीका लिखी है तथा 'न्यायामृत' एव 'तर्क ताण्डव' उनकी अन्य रचनाएं है। न्यायामृत मे द्वैत–अद्वैत सम्प्रदायों में तर्क युद्ध का आरम्भ किया जिसके कारण दोनो ही सम्प्रयायो मे उद्भट् दार्शनिक साहित्य का खण्डन मण्डन होता रहा। न्यायामृत का खण्डन मधुसूदन सरस्वती ने 'अद्वैत सिद्धि' मे किया है जिसके

उत्तर स्वरूप रामाचार्य ने अपनी 'न्यायामृत' तरगिनी टीका लिखी। इसका खण्डन ब्रहमानक सरस्वती ने अद्वैत सिद्धि पर लिखी 'अद्वैत चन्द्रिका' टीका मे किया।

द्वैतवाद सिद्धान्त

मध्वाचार्य उग्र द्वैतवादी आचार्य है, तथा अमिश्रित द्वैत के पोषक है। अद्वैत वाद अथवा मायावाद को वे बौद्ध शून्यवाद का विकृत औपनिषद सस्करण मानते है। उनके अनुसार मायावादी का ब्रह्म, एव शून्यवादी का शून्य एक ही है। अद्वैत मतानुयायियो को वे 'मायि दानव' भी कहते है।

मध्व दर्शन मे पदार्थों की सख्या दस मानी गयी है–

(1) द्रव्य (2) गुण (3) कर्म (4) सामान्य (5) विशेष

(6) विशिष्ट (7) अंशी (8) शक्ति (9) सादृश्य (10) अभाव।

(1) द्रव्य बीस हैं। परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत, आकाश, प्रकृति , त्रिगुण, महत्, अहंकार, बुद्धि, मनस्, तन्मात्र, भूत, ब्राह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल एवं प्रतिबिम्ब। (2) 'गुण' भी अनेक माने गए है, जिनमे वैशेषिक दर्शन सम्मत गुणो के अतिरिक्त शम, दम, कृपा, तितिक्षा, बल, लज्जा, सौन्दर्य, गाम्भीर्य, शौर्य, औदार्थ आदि मानसिक गुण भी समाविकृ हैं। (3) कर्म तीन प्रकार का है– विहित, निषिद्ध, उदासीन। उदासीन कर्म परिस्पन्दात्मक है। जिसमे वैशेषिक के पचविध कर्मो के अतिरिक्त अनेक अन्य कर्म भी सम्मिलित है। (4) नित्य तथा अनित्य एवं जाति तथा उपाधि भेद से 'सामान्य' दो प्रकार का माना गया है। (5) भेदभाव होने पर भी भेद व्यवहार का निर्वाह करने वाले पदार्थ को विशेष कहते है, ये विशेष अनन्त होते है। परमात्मा में भी विशेष के कारण भेद प्रतिपाद्य है। (6) विशेषण से संयुक्त पदार्थ विशिष्ट होता है। (7) समस्त अवयवविशिष्ट पदार्थ को 'अँशी' कहते है। (8) 'शक्ति' चार प्रकार की होती है– (i) अचिन्त्य शक्ति, जो भगवान मे स्थित रहस्मय रूप है, (ii) कारण शक्ति, अथवा सहज शक्ति जो स्वभावत समस्त वस्तुओ मे स्थित रहती है तथा जिसके

द्वारा वे समस्त प्रकार के परिवर्तनो को उत्पन्न कर सकती हे, (iii) किसी वस्तु मे नवीन प्रक्रिया के द्वारा उत्पन्न की गयी एक शक्ति जो 'आधेय शक्ति' कहलाती है, यथा मूर्ति मे की गयी प्रतिष्ठा; (iv) शब्दो की महत्वपूर्ण शक्ति (पाद शक्ति) जो वाचक–वाच्य सम्बन्ध रूपी है तथा मुख्या एव परममुख्या भेद से दो प्रकार की होती है। (9) अनुमान 'सादृश्य' के आधार पर होता है तथा भिन्न होता है। (10) न्यायदर्शन की भांति ही 'अभाव' चार प्रकार का माना गया है– प्राग्भाव, प्रध्वसाभाव, अत्यन्ताभाव, अन्योन्याभाव। अन्योन्याभाव भेद स्वरूप है अैर भेद सभी वस्तुओ का स्वरूप माना गया है।

पंचविधभेद – मध्वाचार्य भेद को वस्तुओ का स्वरूप मानते है। यह जगत् सत्य है तथा प्रत्येक पदार्थ अन्य समस्त पदार्थो से सर्वथा भिन्न है। मध्वाचार्य पञ्चविध भेद स्वीकार करते हैं, जिनके ज्ञान को वे मोक्ष – साधक मानते है। ये है

(i) ईश्वर एव जीव का भेद,

(ii) एक जीव एवं अन्य जीव का भेद,

(iii) ईश्वर एव जड जगत् का भेद,

(iv) जड जगत् के एक पदार्थ का अन्य पदार्थो से भेद,

(v) जीव एव जड जगत् का भेद।

इन पचविध भेदो को स्वीकार करने के कारण ही मध्वाचार्य का दर्शन भेदवादी सिद्धान्त कहलाता है। इनके कारण ही ब्रह्म तथा जीव की भिन्नता स्थापित की जा सकती है। ईश्वर स्वामी है तथा जीव उसका दास, जीव अपनी सीमाओ मे रहते हुए ईश्वर की भक्ति द्वारा भगवत्कृपा को प्राप्त करके मुक्ति का अधिकारी बन पाता है। मोक्षावस्था मे भी ईश्वर जीव भेद तथा एक जीव का अन्य जीव से भेद एव उनके भोगो मे भी तारतम्य बना रहता है।

द्वैतमत मे मान्य सिद्धान्तो को इस एक पद्य द्वारा सक्षेप मे कहा गया है।–

"श्रीमन्मध्वमतो हरि परतर सत्य जगत् तत्वतो।
भेदा जीवगणा हरेनुचरा नीचोच्चभाव गता ।।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत् साधन।
ह्यक्षादित्रितय प्रमाणमखिलाम्नायैकवेधो हरि ।।

ईश्वर अथवा ब्रह्म

आचार्य मध्व एकमात्र ब्रह्म की ही स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करते है। ईश्वर ही परमात्मा, परम सत्ता श्री विष्णु हैं। ये सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथ लय का नियन्त्रण स्वाधीन रहकर करते है। वही नियन्ता है तथा समस्त कल्याण गुण सम्पन्न है। वे शरीरी होने पर भी नित्य, परिपूर्ण एवं स्वतन्त्र है। ये एक होते हुए भी नानाविध अवतार ग्रहण करते है तथा उनके ये अवतार भी उन्ही की भांति परिपूर्ण होते हैं। सभी चेतनाचेतन उनके अधीन रहते है।

श्रीभगवान की 'लक्ष्मी' शक्ति है। ये उनसे भिन्न होते हुए भी उन्ही के अधीन हैं। परमात्मा के समान लक्ष्मी भी नित्य मुक्त और अप्राकृत दिव्यदेह सम्पन्न है तथा देश काल में व्यापक है। किन्तु लक्ष्मी गुणो मे भगवान से कुछ न्यून होती है।

मध्वाचार्य ईश्वर को सगुण, सविशेष, साकार रूप मे ही स्वीकार करते है। आचार्य ने ईश्वर मे दो प्रमुख विशेषताएँ स्वीकार की है। (i) सर्वगुण पूर्णत्व एव (ii) सर्वदोष गन्ध–विधुरत्व। इनके कारण ही ईश्वर की महानता एव ऐश्वर्य प्रतिपादित होता है।[1] इस प्रकार से मध्व ने ईश्वर को पूर्ण,स्वतन्त्र, निसीम कहा है जो देशकाल एव गुण सभी से परे है।[2] वेदो के अध्ययन के द्वारा ईश्वर के

---

[1] अतोऽशेषगुणोन्नद्र निर्दोष यातदेव हि तावदेवेश्वरो नामः ... . ।' – पूर्ण प्रज्ञभाष्य
[2] देशत कालतश्चैव गुणतश्च त्रिधा तति सा समस्तः हरेरवे .... ।' – मध्व गीता भाष्य 2/17

स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु उसका स्वरूप वस्तुत अवर्णनीय है, सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं है। सर्वोपरि ब्रह्म सब प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान से परे है।

जीव– परमेश्वर से उत्पन्न होने के कारण जीव की भी नित्य सत्ता है, किन्तु नित्य होते हुए भी ईश्वराधीन है। क्योकि परमात्मा से व्याप्त है। ईश्वर ही समस्त जीवो का नियन्ता है। समस्त जीवों मे ईश्वर 'अन्तर्यामी' रूप मे शासन करता है। नित्य होते हुए भी इनकी औपाधिक उत्पत्ति मानी गयी है। आत्मा अणु कहा गया है। किन्तु यह हृदयस्थ जीव अणु होते हुए भी अपने ज्ञान रूपी गुण के कारण समस्त शरीर में व्याप्त रहता है जैसे कि मलयागिरि चन्दन की एक बूद समस्त शरीर को शीतल एवं सुगन्धित करती है। जीव की शक्ति अत्यन्त सीमित है तथा उसका कर्तृत्व ईश्वराधीन है। जीव ब्रह्म का अंश है। अंशत्व के आधार पर ही जीव–परमात्मा का भेदाभेद माना जाता है। 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' वैदिक मन्त्र भी जीव के अंशत्व का बोध कराता है।

आत्मा (जीव) स्वभाव से आनन्दरूपा है किन्तु अपने पूर्व कर्मो के कारण भौतिक शरीरो से सम्बद्ध होने से सुखदु:ख के अधीन है। आनन्द की भांति ही यह अन्य सभी गुणो– बल, ओज, अखण्ड इत्यादि से युक्त होते हुए भी मलिनता राहित्पर्यन्न नाना जन्मो में भ्रमण करती रहती है। उसके ये सभी गुण मोक्षावस्था मे ही व्यक्त होते है।

आचार्य मध्व जीव की सख्या बाहुल्य स्वीकार करते हैं। ये जीव की दो प्रमुख कोटियाँ मानते है। – मुक्त एव वद्ध। मुक्त जीवों मे देव, ऋषि, पितर, नर है। इनमे देवता सर्व प्रकाश, ऋषिगण एवं पितृगण अन्त: प्रकाश तथा नर अथवा मनुष्य वहिप्रकाश होते है। बद्ध जीव के भी तीन प्रकार माने गए है (i) मुक्तियोग्य– जो अपनी आन्तरिक प्रवृत्ति के कारण मोक्ष प्राप्ति के लिए पहले से निश्चित है। इनकी सात्विक आत्मा स्वर्ग को प्राप्त करती है। (ii) नित्य सासारिक

जीव–जो अनादि काल से अनन्त काल तक ससार चक्र में घूमते रहते हैं। ऐसी आत्माएँ राजस् गुण वाली है। (iii) तमोयोग्य, ये जीवात्माएँ नरक मे जाती है।

कोई भी दो जीव स्वरूप मे एक समान नही होते। प्रत्येक जीव अपना वैशिष्ट्य बनाए हुए पृथक् रहता है। जीव का यह भेद मुक्तावस्था मे भी विद्यमान रहता है।

जीव - ईश्वर सम्बन्ध

शास्त्रों मे जीव तथा ईश्वर के आध्यात्मिक सम्बन्धो को अनेक सकेतो एवे प्रतीको से व्यक्त किया गया है। मध्वाचार्य जीव ब्रह्म सम्बन्धी विचारो को एक अलग रूप में स्वीकार करते है, रामानुज एव शकर से व्यतिरिक्त रूप में मध्वाचार्य ने जीव के बिम्बप्रतिबिम्बभाव रूप को ऋग्वेद के आधार पर ग्रहण किया है। "रूप रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय" – ऋग्वेद 7/47/18

मध्वाचार्य इस सम्बन्ध को जीव तथा ब्रह्म के नित्य सहवर्तित्व के आधार पर स्वीकार करते है, क्योंकि जीव अपने अस्तित्व, चैतन्य एवं सक्रियता के लिए ब्रह्म पर आश्रित है। मध्वाचार्य बिम्बप्रतिबिम्बभाव में कोई वाह्योपाधि स्वीकार नहीं करते, इसके विपरीत आचार्य शकर जीव को अविद्या के कारण दृष्टिगोचर होने वाला ब्रह्म का मिथ्या प्रतिरूप कहते हैं, जिसका ज्ञानावस्था में निषेध हो जाता है।[1] यही शकराचार्य एव मध्वाचार्य के बिम्बप्रतिबिम्बभाव में भेद है। छाया एवं पुरूष मे भेद की भॉति बिम्बप्रतिबिम्ब में भेद रहता है। ब्रह्म सर्वगुण सम्पन्न है किन्तु जीव अल्पज्ञ। मध्व मानते है कि जीव के प्रतिबिम्ब होने मे उपाधि नहीं होती, जबकि दर्पण आदि के प्रतिबिम्ब मे दर्पण रूप उपाधि की आवश्यकता होती है।

---

[1] जीवत्व चमृषा ज्ञेय रज्जवा सर्पग्रहो यथा– शकराचार्य अपरोक्षनुभूति 43।

जीव का बंध

मध्वाचार्य मानते है कि जीव अनादि काल से ईश्वराधीन होकर प्रपंच मे ससरण करते हैं। प्रत्येक महाप्रलय की समाप्ति पर ईश्वर उन्हे सृष्टि मे प्रादुर्भूत करते हैं किन्तु इसमे ईश्वर का कोई स्वार्थ नही होता। भगवान केवल उपभोग के द्वारा सचित कर्माशयो का क्षय करने के लिए उन्हे ये अवसर प्रदान करते है। जब जीवो का आध्यात्मिक विकास समुचित रूप से हो जाता है तब वे आत्मज्ञान अथवा मोक्ष को प्राप्त करते है।

जीव का बध परिकल्पित न होकर वास्तविक है। मध्व स्पष्टत कहते है कि स्वय प्रकाश जीवात्मा में भी परमेश्वर की इच्छा से परमेश्वर विषयक एव स्व–धर्मविषयक अज्ञान सर्वथा असभव है।[1] जीव का यह अज्ञान भी वास्तविक है क्योकि मध्व मानते हैं कि जो भी प्रमा का विषय हो वह वास्तविक हो। चूकि बधन प्रमाण का विषय है, अतएव वास्तविक है। ईश्वरेच्छा पूर्वक इस बंध का निराकरण सम्भव है।[2]

समस्त वेन्दान्ताचार्यो मे एकमात्र मध्वाचार्य ही सृष्टि मे ईश्वर का प्रयोजन स्वीकार करते है। यद्यपि उन्होने भी ईश्वर को आप्तकाम कहा है, तथापि जीवात्माओ के प्रति परोपकार भावना द्वारा वे जगत् की सृष्टि करते है। जीवात्मा का अपनी ईश्वराधीनता इत्यादि धर्मो के प्रति अज्ञान को ही मध्व बध का कारण मानते है तथा यह अज्ञानोत्पत्ति भी ईश्वरेच्छाधीन है।

जगत्

वस्तुत एक रूप प्रतीत होने वाली प्रकृति भिन्न– भिन्न तत्वो से मिलकर बनी है, जो सूक्ष्मावस्था मे है। जब ईश्वर एव जीव द्वारा इसका प्रयोग होता है तब यही विकसित होकर दृश्यमान जगत् के रूप में परिवर्तित हो जाती है।

---

[1] स्वप्रकाशस्यापि जीवस्य परमेश्वररेच्छया परमेश्वरे, स्वधर्मेषु च अज्ञानमसभवत्वेन

[2] तथा विधस्यापि बन्धस्य निवृत्ति वक्ष्यामः – न्याय सुधा।

प्रकृति ही सृष्टि का उपादान कारण मानी गयी है। मध्वाचार्य मानते है कि प्रकृति द्वारा निर्मित इस नाना रूपात्मक जगत् मे ईश्वर अन्तर्यामी रूप से निवास करता है। अव्यक्त प्रकृति से सृष्टि के विकास के मध्यवर्ती 24 पदार्थ माने गए हैं। महत् अहकार, बुद्धि, मन, दशेन्द्रियॉ, पंच ज्ञानेन्द्रियो के विषय एवं पच महाभूत। ये सभी अपने विकास के पूर्व प्रकृति के अन्दर सूक्ष्म रूप मे स्थित रहते है। 'अविद्या' प्रकृति का ही एक रूप है।

प्रमाणत्रय

मध्वचार्य ज्ञान के साधनभूत तीनो प्रमाणो को स्वीकार करते हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द। उपमान को वे अनुमान की ही कोटि में रखते है। इनका विवेचन अष्टम अध्याय 'द्वैतवाद' मे किया जाएगा।

मोक्ष का स्वरूप

साधन के द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार हो जाने पर प्रारब्ध एव सचित कर्माशयो का क्षय हो जाता है तथा क्रियमाण कर्मों के सस्कार भी नहीं बनते। इस प्रकार साधक प्रारब्ध कर्मोपभोग के पश्चात् ईश्वर को प्राप्त करता है। मुक्त जीव परज्योति को प्राप्त कर अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करता है।[1] मोक्षावस्था दु:ख, वासना, कष्टरहित एव आनन्द से युक्त है। इसमे अनुभूत आनन्द कभी क्षीण नही होता।[2] परमात्मा के ही भोगो, मोद, प्रमोद, आनन्द का मुक्त जीव उपभोग करता है।

मोक्ष के साधन

मध्वाचार्य परम्परानुसार ही मोक्ष की प्राप्ति मे, कर्म, ज्ञान एव भक्ति तीनो प्रकार के साधनो की आवश्यकता स्वीकार करते हैं। कर्म को ज्ञान का साधन एवं

---

[1] पर ज्येतिरूप सपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते इति।

[2] विरजो ब्रह्म लोको न येषु जिह्य अनृत न माया चेति।

सहयोगी मान कर तथा ज्ञान को भक्ति के एक घटक के रूप मे स्वीकारते है। मध्वाचार्य ईश्वर प्राप्ति के शास्त्रोक्त कर्मकाण्ड के सम्पादन पर बल देते है। दैवी कृपा की प्राप्ति के लिए ईश्वर की पूजा अनिवार्य तथा प्राथमिक आवश्यकता है।

मध्वाचार्य ज्ञान एव भक्ति तथा ज्ञान एव कर्म तथा परस्पर तीनो (ज्ञान, भक्ति, कर्म) को एक दूसरे का पूरक मानते है। यद्यपि बाद मे वे भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ स्थान देते है।

जिस प्रकार शास्त्रोक्त, वेदोक्त कर्मो के साथ वर्णाश्रम धर्म के कर्म भी अनुष्ठेय है, उसी प्रकार भक्ति के लिए ज्ञान की उपस्थिति भी अनिवार्य है। ज्ञान सम्पन्न गुरू ही अपने शिष्य को भगवत् स्वरूप के अनुकूल शिक्षा प्रदान करने मे समर्थ हो सकता है।

मोक्ष के लिए ज्ञान को अनिवार्य रूप से स्वीकार करते हुए भी मध्वाचार्य मुक्ति विषयक सिद्धान्त मे सर्वोच्च स्थान भगवत्कृपा को देते है। यह भगवत्कृपा ईश्वर के माहात्म्य एवं उनकी अनन्य भक्ति द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है।[1]

आचार्य वल्लभ का जीवन वृत्त एवं कृतित्व

उत्तर भारत मे कृष्ण भक्ति के प्रचार–प्रसार मे आचार्य वल्लभ का महत्वपूर्ण योगदान है। श्री रामानुजाचार्य ने भक्ति तत्त्व से अनुप्राणित वैष्णव वेदान्त की जिस प्रभावशाली और लोकप्रिय परम्परा का प्रारम्भ किया था, वल्लभाचार्य उस वैष्णव परम्परा के अन्तिम प्रमुख आचार्य है। यद्यपि कृष्ण भक्ति परम्परा मे आचार्य चैतन्य महाप्रभु भी वल्लभाचार्य के ही समकालीन थे, किन्तु उन्होने शास्त्रीय रूप की अपेक्षा श्री कृष्ण प्रेम के विह्वल रूप का ही मुख्यतया वर्णन किया है।

आचार्य वल्लभ का दार्शनिक मतवाद 'शुद्धाद्वैतवाद' नाम से जाना जाता है। इन्होने ईश्वरानुग्रह पर आधारित एक स्वतन्त्र भक्ति सम्प्रदाय

---

[1]यतो नारायण प्रसाद मृते न मोक्ष· न च ज्ञान बिना अत्यर्थ प्रसाद अतो ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्या – पूर्णप्रज्ञ भाष्य 1/1/1/

'पुष्टिमार्ग' का प्रवर्तन किया। तत्त्वदृष्टि से जिसे हम 'शुद्धाद्वैतवाद' जानते है, वही साधना भक्ति के क्षेत्र मे 'पुष्टिमार्ग' कहलाता है। वल्लभाचार्य ने भक्ति के शास्त्रीय विवेचन के साथ ही उसके व्यावहारिक रूप का भी प्रचार किया।

आचार्य वल्लभ का जन्म आन्ध्र प्रदेश के काकॅरवाड ग्राम मे निवास करने वाले कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का अध्ययन करने वाले, बेल्लनाडु शुद्ध श्रोत्रिय ब्राह्मण श्री लक्ष्मणभट्ट के यहॉ हुआ था। इनके जन्म काल के विषय मे विद्वानो में मतभेद है।

डा0 राधाकृष्णन वल्लभाचार्य का जन्म काल 1401 ई0 स्वीकार करते है।[1] एस0 एन0 दास गुप्ता के मतानुसार आचार्य वल्लभ आचार्य का जन्म 1481 ई0 मे हुआ था।[2] एन0 जी0 घोष द्वारा लिखित 'वल्लभाचार्य की रूपरेखा' का अनुसरण करते हुए ग्लेसनेप्प उनकी जन्म तिथि 1479 ई0 मानते है, किन्तु सभी परम्परागत विवरण एकमत से इनका जन्म काल सवत् 1535 (1481ई) के वैशाष मास में कृष्ण पक्ष की एकादशी स्वीकार करते है, जो अधिक समीचीन है।[3]

वल्लभाचार्य लब्धख्याति प्राप्त प0 यज्ञनारायण भट्ट की वंश परम्परा के थे। ऐसी मान्यता है कि यज्ञनारायण के 32 सोमयज्ञों की पूर्ति के पश्चात् भगवान श्रीकृष्ण ने साक्षात् दर्शन देकर, सौ सोमयाज्ञो की पूर्ति के उपरान्त उनके कुल में पुत्र रूप मे जन्म लेने का वर दिया।

यज्ञनारायण के प्रपौत्र गणपति भट्ट के पुत्र श्री बालभट्ट थे। ये अत्यन्त विद्वान थे। इनके पुत्र लक्ष्मणभट्ट के पुत्र वल्लभाचार्य हुए । लक्ष्मणभट्ट अति प्रसिद्ध विद्वान थे। अपने पूर्वजो द्वारा लिए गये सोमयज्ञों के व्रत को पूर्ण करके लक्ष्मणभट्ट ने पूर्णाहुति के लिए सवा लाख ब्राह्मणो के भोज का सकल्प लिया एवं सपरिवार काशी (बनारस) मे निवास करने लगे।

---

[1] भारतीय दर्शन, vol II डा एस राधाकृष्णन, पृ0 757
[2] भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग 4 – S.N Dasgupta –पृ0 325
[3] भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग 4 – S.N Dasgupta –पृ0 325

जब लक्ष्मणभट्ट बनारस नगर पर मुगलो के आक्रमण का समाचार पर कर वहाँ से अपने परिवार सहित अपने ग्राम अग्रहार के लिए पलायन कर रहे थे, वही मार्ग मे ही रायपुर जिले के चम्पारण्य ग्राम में, सवत् 1535 के वैशाष मास मे कृष्ण पक्ष की एकादशी को रात्रि की प्रारम्भिक घडी मे, एक वृक्ष के नीचे यल्लम्मागरु ने एक अष्टमासीय पुत्र को जन्म दिया। शिशु को मृत समझ कर उसे एक वृक्ष के कोटर मे छोड कर लक्ष्मण भट्ट आगे चले गए। रात्रि मे दोनो पति–पत्नी को भगवान ने स्वप्न मे दर्शन देकर कहा कि तुम्हारे कुल मे मेरा जन्म हो चुका है। प्रात दोनों स्वप्न को सत्य मानकर पुन उस वृक्ष तक आए। वहाँ अद्भुत रूप से बालक को अग्नि वृत्त से समावृत्त होकर दिव्यलक्षण सम्पन्न देखा।[1] वही बालक वल्लभाचार्य कहलाए। उन्हे वैश्वानर का अवतार भी कहा जाता है।[2]

काशी का उपद्रव शान्त होने पर ये लोग पुनः काशी मे हनुमान घाट पर निवास करने लगे वही पर कुशाग्र बुद्धि वल्लभाचार्य के समस्त सस्कार सम्पन्न हुए। आठ वर्ष की अवस्था मे उपनयन संस्कार के पश्चात् वे कुल पुरोहित श्री विष्णुचित्त के पास विद्याध्ययन के लिए भेजे गए। इनका वेदाध्ययन अनेक विद्वान शिक्षको त्रिरमल्लय, अन्धनारायण दीक्षित और माधवयतीन्द्र की देख रेख मे सम्पन्न हुआ। बाल्यकाल मे हीं उन्हे 'बाल सरस्वती वाक्पति' की उपाधि मिली। किशोरावस्था तक उन्होने वेदों, पुराणो एव दार्शनिक ग्रन्थो का अध्ययन समाप्त कर पूर्ण विद्वता प्राप्त कर ली थी। अपने अध्ययन काल मे ही इन्होने 'ब्रह्मवाद' जो 'शुद्धाद्वैत' नाम से प्रसिद्व हुआ, का प्रवर्तन कर दिया।

बारह वर्ष की अल्पायु में ही पिता का देहावसान होने के पश्चात् वे तीर्थयात्रा के लिए निकल पडे। इन्होने अपने जीवनकाल मे भारत वर्ष की तीन परिक्रमाएँ की । उनके दामोदर, शम्भू, स्वभू, स्वयंभू अनेक शिष्य हुए।

---

[1] श्री वल्लभाचार्य, एम0,सी0 पारिख, पृ0 – 3

[2] वल्लभ दिग्विजय, यदुनाथ, पृ0 7–8

वल्लभाचार्य प्रमुख तीर्थो एव धार्मिक स्थानो मे शुद्धाद्वैत एव पुष्टि मार्ग का प्रचार करते हुए सवत् 1546 के अन्त मे उज्जैन गए। वहॉ से स0 1548 मे विजयनगर पहुंचे वहॉ अपने मामा के यहॉ उन्हें विजयनगर के राजा कृष्णदेव के दरबार मे होने वाले शास्त्रार्थ की सूचना मिली। इस शास्त्रार्थ मे शांकर मतानुयायियो ने मध्व मतानुयायियो को पराजित कर दिया। इसके पश्चात् शाकर मतानुयायियो का शास्त्रार्थ आचार्य वल्लभ के साथ हुआ। शास्त्रार्थ ब्रह्म के सविशेष स्वरूप की समस्या पर था। विष्णुस्वामी सम्प्रदायी होने के नाते वल्लभ ने ब्रह्म के सविशेष स्वरूप के पक्ष मे तर्क देकर अट्ठाइस दिनो तक चले शास्त्रार्थ मे सभा के समस्त आचार्य को परास्त कर विजय प्राप्त की । इस प्रकार ब्रह्मवाद या शुद्धाद्वैतवाद मत की स्थापना हुई। इस समय आचार्य मात्र 13–14 वर्ष के थे। राजा कृष्णदेव ने उनका कनकाभिषेक कर उनका शिष्यत्व स्वीकार किया तथा उन्हें 'जगद्गुरू श्रीमद् आचार्य' की उपाधि से विभूषित किया।[1] राजा ने आचार्य से स्वय को शरण में लेने की प्रार्थना की, तब आचार्य ने उन्हें शरणाष्टक मन्त्र "श्री कृष्णः शरण मम." की दीक्षा दी और वैष्णव मत के अभिज्ञान स्वरूप तुलसी काष्ठ की माला प्रदान की । इस प्रकार यह प्रथम यात्रा इन्होने सात वर्षो मे पूर्ण की।

द्वितीय यात्रा वल्लभाचार्य ने उन्नीस वर्ष की अवस्था मे सं0 1554 मे प्रारम्भ की जो सवत् 1559 मे पूर्ण हुई। इस यात्रा काल मे वे पण्डरपुर गए, वहॉ विट्ठनाथजी ने उन्हें दर्शन देकर विवाह की आज्ञा दी, जिससे पुष्टिमार्ग का समुचित प्रचार–प्रसार हो सके। कई स्थानो का भ्रमण करते हुए वे द्वारका, पुष्कर, वृन्दावन आदि गए और पुन बनारस (काशी) लौट आए। सवत् 1562 के आषाढ मास में 28 वर्ष की अवस्था मे श्री देवभट्ट की पुत्री महालक्ष्मी के साथ उनका विवाह हुआ।

---

[1] श्री वल्लभाचार्य, एम0 सी0 पारिख, पृ0 89.

विवाह के छ माह बाद ही वे तृतीय चरण की यात्रा पर निकल पडे। वैद्यनाथ होते हुए वे द्वारका चले गए। फिर बदरिकाश्रम, वृन्दावन, होकर बनारस आए। बैद्यनाथ मे श्रीनाथ जी ने वल्लभाचार्य को आज्ञा दी कि ब्रज मे आकर मेरी सेवा–विधि निश्चित करे, अतएव आचार्य ने वैसा ही किया। तब जगन्नाथपुरी, द्वारका आदि की यात्रा करके पुन· ब्रज लौटकर श्रीनाथ जी के दर्शन को गए। अन्त मे यह प्रयाग मे स्थित अरैल क्षेत्र मे आए, जहॉ इनके एक शिष्य सोमेश्वर ने इनसे यही सपरिवार निवास करने का अनुरोध किया। तब तृतीय परिक्रमा पूर्ण होने के पश्चात् इन्होंने अरैल को ही अपना निवास स्थान बनाया। उनके पुत्र विट्ठलनाथ जी का जन्म सवत् 1572 मे हुआ था। शेष जीवन मे आचार्य वल्लभ सन्यासी हो गए। विट्ठलनाथ जी ने आगे चलकर शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय का और अधिक सवर्धन किया।

आचार्य वल्लभ जीवन पर्यन्त धर्म प्रचार में लगे रहे। 31 वर्ष की अल्पायु में ही भारत की तीन परिक्रमाएँ कर ली थीं जो इनके व्यक्तित्व के विकास मे तो सहायक बनी ही, साथ ही शुद्धद्वैतवाद एवं पुष्टिमार्ग के प्रचार मे अत्यधिक सहायक सिद्ध हुईं। सम्पूर्ण भारत का भ्रमण करते हुए कृष्ण–भक्ति के प्रचार हेतु इन्होने अनेक स्थानो पर श्रीकृष्ण–मदिरों का निर्माण करवाया। अनेक स्थानो पर श्रीमद्भागवत् के अनेक पारायण किये तथा पुष्टिमार्ग के प्रचार हेतु श्रीमद्भगवत् गीता को सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत कराया। जिन स्थानो पर ये पारायण हुए वे स्थान 'बैठक' कहे जाते है। ये 'बैठके' चित्रकूट, काशी, जगन्नाथपुरी, हरिद्वार, सिद्धपुर, विद्यानगर, द्वारका, चरणाद्रि, चम्पारण्य, आदि 84 स्थानो पर है। ऐसी मान्यता है कि आचार्य ने 84 ही ग्रन्थ लिखे एवं इनके 84 प्रमुख शिष्य हुए।

सवत् 1587 मे 52 वर्ष की अल्पायु मे आचार्य ने काशी मे जलसमाधि ग्रहण पर अपने पार्थिव शरीर का त्याग कर दिया।

इस प्रकार आचार्य वल्लभ ने 'शुद्धाद्वैतवाद' की स्थापना की। वल्लभाचार्य ने उपनिषदो के विशुद्व अद्वैतवादी पाठो पर बल दिया और ब्रह्म

को अभेदात्मक, स्वय से एकरूप व गुणो से एकरूप माना। आचार्य वल्लभ ने प्रेमलक्षणा निर्गुण भक्ति का प्रचार किया। वल्लभाचार्य ने सगुण और निर्गुण भक्ति को व्यावहारिक रूप देने के लिए पुष्टिमार्ग की स्थापना की और एक विशिष्ट सेवा मार्ग का निरूपण किया। उन्होने शकराचार्य के मायावाद का खण्डन किया एव ब्रह्म के शुद्व अद्वैत रूप को मानते हुए भावना के निर्गुण एव सगुण दोनो रूपो को स्वीकार करते हुए भगवदनुग्रह के लिए आसक्तिरहित भक्ति को ही सर्वोत्कृष्ट माना। आचार्य के मतानुसार केवल भगवतत्कृपा ही मोक्ष का सर्वोच्च साधन है, यही प्रपत्ति मार्ग है।

अपने समय के विद्वानों में आचार्य अत्यन्त आदरणीय माने जाते थे। वे अत्यन्त उदार एव निस्पृह थे। अपने धनाढ्य भक्तो द्वारा प्रदान किए गए धन को वे भगवत्सेवा हेतु साधु एवं दरिद्रों मे वितरित करवा देते थे।

यद्यपि आचार्य वल्लभ अपने सिद्धान्त को भगवत्कृपा का सर्वश्रेष्ठ एव सरलतम उपाय कहते थे, किन्तु उनका अन्य धर्मो सिद्धान्तो से कभी भी द्वेष नही रहा। अनेक शास्त्रार्थो मे विजय प्राप्त करके भी वे गर्व नही करते थे। अपने स्नेही स्वभाव के कारण वे अत्यन्त लोकप्रिय थे। जातिभेद व छुआछूत मे उनका विश्वास नही था। ईश्वर की भक्ति मे प्रत्येक जाति वर्ग के व्यक्तियो को समान अधिकार थे।

कृतित्व

उन्होने अनेक ग्रन्थो की रचनाएँ की। उनकी रचनाएँ सस्कृत भाषा मे थी, तथापि उन्होने अपने शिष्यो को ब्रजभाषा मे रचना का आदेश दे रखा था, जिससे उनके विचार जनसाधारण की समझ मे भी आए। सूरदास, कुम्भनदास, कृष्णदास तथा परमानन्ददास वल्लभाचार्य के शिष्य थे तथा नन्ददास, चतुर्भजदास, गोविन्द स्वामी, छीतस्वामी श्री विट्ठलनाथ के शिष्य थे। ये सभी अष्टछाप' कवि कहलाते हैं' इन्हे यह नाम श्री विट्ठलनाथ ने दिया।

आचार्य वल्लभ ने अपने सिद्धान्तो की पुष्टि हेतु अनेक ग्रन्थो की रचना की। ऐसी मान्यता है कि इनके ग्रन्थो की सख्या 84 है। इनमे मौलिक ग्रन्थो के साथ ही स्वरचित ग्रन्थो पर लिखी गई टीकाओ का भी सम्मोल्लेख है। 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' के रचयिता डा० दीनदयालगुप्त के अनुसार अब इनके 30 ग्रन्थ ही प्राप्त होते है। जिनमे 4 ग्रन्थ सिद्धान्त की दृष्टि से विशेष महत्व के है। ये है– अणु भाष्य, तत्त्वदीप निबन्ध, श्रीमद्भागवत[1] पर 'सुबोधिनी' टीका, षोडश ग्रन्थ।

1. **अणु भाष्य** बादरायण कृत ब्रह्मसूत्रो पर आचार्य वल्लभ द्वारा रचित भाष्य है। इसमे अन्य मतों की समीक्षा करके 'शुद्धाद्वैतवाद' का प्रतिपादन है।

परन्तु पूर्ण अणु भाष्य आचार्य वल्लभ द्वारा रचित नही है। तृतीय अध्याय के द्वितीय पाद के 34 वे सूत्र तक आचार्य वल्लभ विरचित है, शेष भाग पर उनके पुत्र आचार्य विट्ठलनाथ द्वारा भाष्य किया गया है।

आचार्य वल्लभ द्वारा रचित वृह्दभाष्य का भी उल्लेख मिलता है, एव आज के 'अणुभाष्य' के रूप को उसी वृह्दभाष्य का सूक्ष्म रूप कहा जाता है। कुछ विद्वानो का मत है कि आचार्य वल्लभ द्वारा वास्तविक विशद भाष्य या तो नष्ट हो चुका है, अथवा अभी तक अप्राप्य ही है, एव अणु भाष्य उसी का सूक्ष्म सकलन है।

अणु भाष्य 'शुद्धाद्वैत' सिद्धान्त का प्रवर्तक ग्रन्थ है। इस पर अनेक टीकाएँ भी लिखी जाती रही है। इनमे सबसे महत्तवपूर्ण पुरूषोत्तम जी महाराज विरचित 'भाष्य प्रकाश' टीका है। 'अणु भाष्य' और 'भाष्य प्रकाश' दोनो के ऊपर गोपेश्वार महाराज द्वारा प्रणीत' 'रश्मि' टीका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमे अणु भाष्य के साथ–साथ 'भाष्यप्रकाश' की भी व्याख्या है।

2 **तत्त्वार्थदीपनिबन्धं** आचार्य वल्लभ विरचित दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ तत्त्वार्थदीपनिबन्ध है। शुद्धाद्वैत के सिद्धान्तो का स्वरूप स्पष्ट करने वाला यह

---

[1] कही–कही भागवत पुराण S.N.Dasgupta

आचार्य का मौलिक ग्रन्थ है। इसमे कारिकाऍ है, एव इन कारिकाओ पर आचार्य वल्लभ ने स्वय 'प्रकाश' नामक टीका की है। इसके अतिरिक्त पुरूषोत्तम जी महाराज की 'आवरण भग' टीका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

इस ग्रन्थ मे तीन प्रकरण हैं – शास्त्रार्थ प्रकरण, सर्व निर्णय प्रकरण एवं भागवतार्थ प्रकरण। शास्त्रार्थ प्रकरण मे शुद्धाद्वैत मत का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। इसकी रचना श्रीभदवत्गीता के आधार पर हुई है। आचार्य के मतानुसार शास्त्रार्थ का अर्थ गीतार्थ ही है– 'शास्त्रार्थो गीतार्थ[1] इसमे प्रमाण का आश्रय लेकर ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप, जीव के अणुत्व, अंशत्व एव ब्रह्म से भिन्न रूप प्रपच, श्री कृष्ण भक्ति आदि विषयो का सम्यक् विवेचन है।

'सर्वनिर्णय प्रकरण' में आचार्य ने ज्ञान, कर्म और भक्ति के साधन, स्वरूप एव फल का दार्शनिक निर्णय का विवेचन किया है। पुष्टिमार्ग, मर्यादामार्ग, तथा ज्ञानमार्ग के स्वरूप एवं उनकी आचार पद्वतियो का विवेचन भी प्राप्त होता है।

'भगवतार्थ प्रकरण' मे भागवत पुराण के प्रत्येक स्कन्ध के वर्ण्य विषय का सार प्राप्त होता है। आचार्य वल्लभ ने 'हदय मे भगवत्भाव के दृढीकरण हेतु श्रीमद्भागवत् का पूर्णतः अर्थ ज्ञान ही प्रमुख साधन माना हैं। श्रीमद्भागवत् के प्रतिपाद्य का 'शास्त्रार्थ प्रकरण' में सक्षेप निरूपण देकर भगवतार्थ प्रकरण' मे उसी को विस्तार दिया है।[2]

सुबोधिनी श्रीमद् भागवत् के प्रथम, द्वितीय, दशम एव एकादश स्कन्धो पर आचार्य वल्लभ रचित टीका है। इसमे एकादश स्कन्ध की व्याख्या पूर्ण नही है। ये टीका मात्र होते हुए भी भागवत् के विषय का सर्वाधिक सुन्दर एव सूक्ष्म व्याख्यान प्रस्तुत करती है। 'सुबोधिनी' पर 'सुबोधिनी लेख' और

---

[1] तत्वदीपनिबन्ध प्रकाश– शास्त्रार्थ प्रकरण, पृ0 22। एव 'एक शास्त्रं देवकीपुत्रगीतम्'– तत्व 0 कारिका 4

[2] शास्त्रार्थस्य सक्षेपरूपत्त्वाद् विस्तारार्थ भागवद्रूपम्, तृतीय प्रकरण, यत्र भागवत निरूप्यते– त0 दी0 शा0 प्र0 प्रकाशकारिका।

'सुबोधिनी–योजन निबन्ध योजन' नामक एक अन्य टीका भी है। पुरूषोत्तम की 'सुबोधिनी प्रकाश' टीका भी लिखी गयी है।

षोडश ग्रन्थ

आचार्य वल्लभ प्रणीत ग्रन्थो मे षोडश ग्रन्थो का विशिष्ट स्थान है। ये सोलहो प्रकरण ग्रन्थ है। ये मौलिक है, इनमे विभिन्न विषयो पर स्तुति एव सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है। इनमे शुद्धाद्वैतवाद के भाव गाम्भीर्य का समावेश है।

इन लघु ग्रन्थो मे सर्वप्रथम **'सन्यास निर्णय'** का उल्लेख किया जाता हैं। ये 22 श्लोकों से निर्मित है। जिनमें तीन प्रकार के सन्यास का विवेचन है– 'कर्ममार्गका सन्यास', 'ज्ञानमार्ग का सन्यास' तथा 'भक्ति मार्ग का सन्यास'। इस पर 7 टीकाएँ प्राप्त होती है, जो गोकुलनाथ, रघुनाथ, गोकुलोत्सव, दो गोपेश्वरो, पुरूषोत्तम एव उत्तरवर्ती वल्लभ की है। इनमे गोकुलनाथ तथा रघुनाथ विट्ठलनाथ के क्रमश चौथे एव पाचवे पुत्र थे। द्वितीय पुत्र गोविन्दराज के पुत्र कल्याण राज थे, गोकुलोत्सव इनके छोटे भाई थे।

'सन्यास निर्णय' ग्रन्थ मे सन्यास ग्रहण करने के निर्णय के साथ सन्यास के स्वरूप, साधन कर्त्तव्य, परिणाम आदि पर विचार किया गया है।

साढे सात[1] श्लोको वाले प्रकरण ग्रन्थ **सेवाफल** मे आचार्य वल्लभ ने पुष्टिमार्गीय और मर्यादामार्गीय जीवो को भगवत् उपासना द्वारा प्राप्त होने वाले फलो का उल्लेख किया है। इन फलो की प्राप्ति मे बाधक तीन अन्तराय – उद्वेग, प्रतिबन्ध और भोग का भी प्रसगानुसार उल्लेख किया है। इस पर कल्याण राज की टीका प्राप्त है।

आचार्य वल्लभ की **'भक्तिवर्द्धिनी'** ग्यारह श्लोको की एक लघु पुस्तिका है। इसमे भक्ति के साधनो का मुख्यतया विवेचन है। प्रेम की तीन अवस्थाओ

---

[1] आठ श्लोक – भारतीय दर्शन का इतिहास भाग– 4 S.N DAS GUPTA

प्रेम, आसक्ति और व्यसन की स्थितियो तक भक्ति के क्रमिक विकास का विवेचन प्राप्त होता है।

'यमुनाष्टक' पवित्र नदी यमुना की स्तुति मे नौ श्लोको का लघु ग्रन्थ है। इसमे आचार्य वल्लभ ने कहा है कि सुख और दु.ख की निवृत्ति, जगत मे ये दो ही प्रमुख पुरूषार्थ है, दो अन्य 'धर्म' और 'अर्थ' गौण पुरूषार्थ है, क्योंकि अर्थ द्वारा धर्म की प्राप्ति हो सकती है और धर्म के द्वारा काम (सुखादि) की प्राप्ति हो सकती है। मोक्ष की प्राप्ति 'विष्णु–कृपा' से संभव है।

'सिद्धान्तमुक्तावली' भक्ति पर इक्कीस श्लोको का एक प्रकरण ग्रन्थ है। सिद्धान्त दृष्टि से यह बहुत महत्तवपूर्ण ग्रन्थ है। इसमे बताया गया है कि ईश्वर के प्रति सर्व वस्तुओ के परित्याग पर बल देते हुए सेवक को सदैव भगवत्सेवा मे रत रहना चाहिए। इसमे भगवत्सेवा के प्रकार, महत्त्व तथा पुष्टिमार्गीय भक्ति के ज्ञान के हेतु साधन और फल का विवेचन है। सेवा तीन प्रकार की होती है तनुजा, वित्तजा, मानसी (तन, धन, मन)। आचार्य के मतानुसार मानसी सेवा ही भक्ति है। इसी ग्रन्थ मे आचार्य ने ब्रह्म के पुरूषोत्तम एव अक्षर स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए पुष्टिमार्गीय, मर्यादामार्गीय और ज्ञानमार्गीय साधको की स्थिति का भी वर्णन किया है।

पुष्टिप्रवाह मर्यादाभेद आचार्य के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो मे से एक है। ये पच्चीस श्लोको का एक प्रकरण ग्रन्थ है। इसमे आचार्य जीवो के वर्गीकरण को बताते है सर्वप्रथम पुष्टि, प्रवाह और मर्यादा मार्गो का स्वरूप विवेचन द्वारा साधना मार्गो मे जीवो को भी पुष्टि जीव, प्रवाह जीव और मर्यादा जीव रूप से वर्गीकृत करते है। अहकारजन्य, देशज, कालज, दुष्कर्म जन्य और संयोगज ये जीव के पॉच स्वाभाविक दोष कहे गए है। ईश्वर के प्रति सर्व समर्पण द्वारा ही भोग का अधिकार है। यह ग्रन्थ पूर्णरूप में प्राप्त नहीं है। इसके अन्तिम कुछ श्लोक नही प्राप्त है।

सिद्धान्त रहस्यं मुख्यत भक्तिपरक ग्रन्थ है। साढे आठ श्लोको वाले इस ग्रन्थ मे पुष्टि मार्ग एव आत्म निवेदन की विधि है। पुष्टि मार्ग मे दीक्षित साधक के आचारव्यवहार तथा भक्तो के कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय है।

बालबोध मे कुल 20 श्लोक है, जिसमे अन्तिम अपूर्ण है । यह ज्ञान निरूपक ग्रन्थ है। इसमे पुरूषार्थ चतुष्ट्य का वर्णन है। आचार्य वल्लभ के अनुसार भक्ति के लिए जीवकृत प्रयत्न नही अपितु भगवदिच्छा अथवा ईश्वरानुग्रह अपेक्षित है। भक्ति मे भगवत्सेवा ही धर्म, भगवान ही अर्थ, भगवद्दर्शन की इच्छा ही काम, तथा भगवान का अनन्य भजन ही मोक्ष है। शरणागति, आत्म निवेदन, तथा अहन्ताममता निवृत्ति की उपयोगिता को बताया गया है।

नवरत्न एक नौ श्लोकों का गन्थ है, जिसमे सर्व वस्तुओं के ईश्वर के प्रति त्याग एव समर्पणभाव को महत्त्व दिया गया है। आचार्य ने पुष्टिमार्गीय जीव को कठिन परिस्थितियों मे रहने पर भी भगवत्सेवा के प्रति समर्पित रहने, चिन्ता, दु खादि का परित्याग करने को कहा है।

अन्तःकरण प्रबोध ग्यारह श्लोको का एक ग्रन्थ है जिसमे आचार्य अन्त करण को सम्बोधित करके, समस्त चिन्ताओ के परित्याग पूर्वक, भगवान की आज्ञा पालन को कहते है। आत्म परीक्षण एवं क्षमा के लिए ईश्वर से प्रार्थना करने को कहते है।

विवेक धैर्याश्रय मे सत्रह श्लोक है। इसमें आचार्य ने 'विवेक' व धैर्य' की स्वरूप समीक्षा की है। विवेक का तात्पर्य है वह ज्ञानी की ईश्वरेच्छा ही महत्त्वपूर्ण है उसकी इच्छा के बिना किसी को कुछ भी प्राप्त नही होता। तथा 'धैर्य' का तात्पर्य है त्रिविध तापो को अनुद्विग्न भाव से सहना।

श्री कृष्णाश्रय मे दस श्लोको मे भगवान कृष्ण पर निर्भर रहने की आवश्यकता का विवेचन है। देश, काल, वित्त, धर्म, मन्त्र आदि सभी नाशवान है एकमात्र श्री कृष्ण का आश्रय ही सिद्धि देता है।

चतु:श्लोकी नामक प्रकरण ग्रन्थ मात्र चार श्लोको वाला है। इसमे जीव का प्रमुख कर्त्तव्य भगवान की निरन्तर सेवा बतलाया गया है। सर्वात्मना आत्मसमर्पण पूर्वक भक्ति ही जीव के दु:खभाव का एकमात्र साधन है। अन्य सभी साधन अल्पकालिक फलप्रदाता कहे गए है।

जलभेद इक्कीस श्लोको से युक्त जल के प्रकारो की भाति ही वक्ताओ के प्रकारो का विवेचन करते हुए भक्ति की पद्धतियो का प्रतिपादन करता है।

पंचपद्यानि नामक पाच श्लोको वाले प्रकरण ग्रन्थ मे आचार्य ने श्री कृष्ण गुण श्रवण के भक्तो की उत्तमता को कहा है।

निरोधलक्षणम् नामक प्रकरण ग्रन्थ मे बीस श्लोको मे निरोध की स्वरूप समीक्षा की है। 'सासारिक कामो मे लगी हुई दुष्ट इन्द्रियों के हित के लिए समस्त वस्तुओ का श्री जगदीश्वर भगवान् श्री कृष्ण चन्द्र के साथ सम्बन्ध कर देना ही सर्वोत्तम हैं।'[1] 'श्री भगवान के प्रताप से विषयो मे स्थिर विराग उत्पन्न हो जाता है। प्रभु के गुणो के सुख का अनुभव होने पर किसी समय मे भी दु:ख की प्रतीति नही हो सकती।'[2] 'इस प्रकार ज्ञानमार्ग से भगवद्गुणगान को परमश्रेष्ठ मानकर द्वेष ओर लोभ रहित होकर सदैव प्रभु का गुणगान करना ही सर्वश्रेष्ठ है।'[3]

आचार्य वल्लभ रचित ये समस्त ग्रन्थ शुद्धाद्वैतवाद – पुष्टिमार्ग प्रतिपादन मे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखते है। यद्यपि आचार्य ने अन्य अनेक ग्रन्थो की भी रचना की किन्तु सिद्धान्तत: उनका अधिक योगदान नहीं है वे सभी अधिकांशत: पूजा – पद्वति एवं भक्ति परक स्तुति – स्तोत्रों से युक्त हैं।

---

[1] ससारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै। कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्नईशस्य योजयेत् ।। 12 ।।

[2] भगवद्धर्म सामर्ध्याद् विरागो विषये स्थिर । गुणैर्हरे सुखस्पर्शान्न दु:ख भाति कर्हिचित् ।। 15 ।।

[3] एवं ज्ञात्वा ज्ञान मार्गादुत्कर्षो गुणवर्णने। अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीया सदा गुणा ।। 16 ।।

आचार्य वल्लभ के पुत्र, पौत्रो एव प्रपौत्रो आदि परवर्ती आचार्यों ने इन ग्रन्थो पर अनेक टीकाएँ एवं भाष्य लिखे जो शुद्धाद्वैत– सिद्धान्त को और पुष्ट करने मे सहायक है।

आचार्य वल्लभ का शुद्धाद्वैतवाद

वल्लभ सम्प्रदाय शुद्धाद्वैत अथवा पुष्टिमार्ग कहलाता है। 'शुद्धाद्वैत' शब्द शुद्ध एव अद्वैत दो पदो से मिलकर बना है– शुद्धयो अद्वैतम् अर्थात् शुद्ध जगत और जीव का ब्रह्म से अद्वैत। जगत् एव जीव शुद्ध ब्रह्म के ही रूप है एव ब्रह्म से अभिन्न है। 'शुद्ध' का तात्पर्य है–माया सम्बन्ध रहित[1] एव अद्वैत का तात्पर्य है सजातीय–विजातीय–स्वगत भेद रहित[2]। शकर वेदान्त सम्मत अनिर्वचनीय माया से रहित होकर शुद्ध ब्रह्म है। वह त्रिविध भेद रहित अद्वय तत्त्व है।

इसे पुष्टिमार्ग भी कहा गया है। पुष्टि का अर्थ है भगवान का अनुग्रह श्रीमद्भागवत् में पोषण या पुष्टि को भगवदानुग्रह बताते हुए इसे ही मोक्ष का एकमात्र कारण माना गया है।[3] पुष्टिमार्ग ज्ञान, कर्म आदि से निरपेक्ष है। यहाँ शरणागति के अतिरिक्त अन्य कोई साधन अथवा यत्न नही है। साधन विघ्न उत्पन्न करते है। मात्र अनुग्रह द्वारा ही साध्य होने से यह मार्ग मर्यादा मार्ग से भिन्न है।[4]

ब्रह्म का स्वरूप

वल्लभाचार्य के मतानुसार ब्रह्म निर्गुण एव सगुण दोनो है। वह सर्वधर्म विशिष्ट भी है एव विरूद्ध धर्माश्रय भी। ब्रह्म मे विरूद्ध धर्मो की स्थिति स्वाभाविक है, मायिक नही। ब्रह्म कार्य एव कारण दोनो रूपो मे शुद्ध है। श्री कृष्ण भगवान ही परब्रह्म है। वे एक भी है, अनेक भी है। निर्विशेष निर्गुण भी है, सविशेष सगुण भी है। वे सच्चिदानन्द, अनन्त है। जिस प्रकार एक ही

---

[1] माया सम्बन्ध रहित शुद्धमित्युच्यते बुद्धै– शुद्धाद्वैतमार्तण्ड पृ. –27
[2] सजातीय विजातीय स्वगत द्वैत वर्जितम्– तत्त्वार्थदीप 1/66।
[3] पोषण तदनुग्रह –भागवत 2/10/4
[4] पुष्टि मार्गोऽनुग्रहैक साध्य प्रमाणमार्गाद् विलक्षण – अणुभाष्य 4/4/9

सर्प कुण्डली आदि को धारण कर कुण्डली रूप ही दिखाई देता है, परन्तु वस्तुत दोनो मे अभेद है, इसी प्रकार ब्रह्म भी भक्त की इच्छा के अनुरुप अनेक रूप धारण करता है। वह अपने सच्चिदानन्द स्वरूप का अपनी इच्छारूपी शक्ति द्वारा विविध अशो मे आविर्भाव एवं तिरोभाव करते हुए जड–जगत्, चेतन जीवो एव अन्तर्यामी नियामक के रूप मे अभिव्यक्त होता है। ब्रह्म की यह अभिव्यक्ति स्वाभाविक है, काल्पनिक नहीं। अतएव यह जगत् एव जीव ब्रह्म रूप होने से सत् एव नित्य है। माया ब्रह्म की वास्तविक सहायिका शक्ति है जो उन्ही मे स्थित रहती है। अविद्या इस माया का भ्रान्तिजनक पक्ष है। इसी के द्वारा जीवो मे ज्ञान का तिरोभाव एवं अज्ञान का आविर्भाव होता है।

वल्लभ मत मे ब्रह्म त्रिरूप माना गया है। आधिदैविक परब्रह्म, आध्यात्मिक अक्षर ब्रह्म एव आधिभौतिक जगत्। श्रीमद्भगवत् गीता जगत् अथवा प्रकृति को क्षर पुरूष एव आत्मा को अक्षर पुरूष तथा परब्रह्म को क्षरातीत एव अक्षर से उत्तम होने से पुरूषोत्तम कहती है।[1] अक्षर ब्रह्म विशुद्ध ज्ञानस्वरूप है एव ज्ञान मार्ग द्वारा इसी की प्राप्ति सम्भव है। पुरूषोत्तम ब्रह्म अखण्डानन्द परिपूर्ण है तथा उसकी प्राप्ति अनन्य भक्ति से पुष्टिमार्ग द्वारा होती है।

सच्चिदानन्द भगवान रमण करने की इच्छा होने पर एक से अनेक रूपों में अभिव्यक्त होकर जगत् , जीव, अन्तर्यामीं रूपों में अभिव्यक्त होते है। यह विकारयुक्त परिवर्तन नही है। वल्लभाचार्य इसे 'अविकृत परिणाम' कहते हैं। कार्य ब्रह्म एवं कारण ब्रह्म दोनो शुद्ध ब्रह्मरूप एक है। जगत् एव जीव सत्य तथा नित्य हैं। सच्चिदानन्द भगवान के अविकृत सदंश से जड जगत् का निर्गमन होता है, इनमें सदश का आविर्भाव तथा चिदंश एव आनन्दाश का तिरोभाव रहता है।

---

[1] भगवद्गीता 8/21–22 तथा 15 –18

जीव का स्वरूप

भगवान के अविकृत चिदंश से जीवो का निर्गमन होता है, जीवों मे सदंश एव चिदश का आविर्भाव एव आनन्दाश का तिरोभाव रहता है। जीव अणुरूप है, ज्ञाता है और ज्ञानाश्रय भी है। जीव मे आनन्द के तिरोभाव से ही दु:ख रहता है।

जीव अनेक है एवे उनके प्रकार भी अनेक है। इनमे ससारी, शुद्ध एव मुक्त ये तीन भेद मुख्य हैं। अविद्यायुक्त जीव संसारी है, ये दो प्रकार का है दैव एव असुर। दैव जीव भी मर्यादामार्गीय एव पुष्टिमार्गीय होते है। अविद्या रहित जीव शुद्ध होते है। जब भगवदनुग्रह से जीव में तिरोहित आनन्दांश का आविर्भाव होता है तब वह मुक्त होकर भगवान के आनन्द का अनुभव करता है।

ज्ञानमार्गीय विशुद्व ज्ञान स्वरूप अक्षर ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। किन्तु आनन्दस्वरूप पुरूषोत्तम की प्राप्ति तो पुष्टिमार्गीय भक्तो को होती है। ब्रह्म के अविकृत आनन्दाश से अन्तर्यामी निर्गमित होते हैं। जिनमें सत्, चित् एव आनन्द तीनो का आविर्भाव रहता है। ये अन्तर्यामी जीवो के नियामक होते हैं।[1] प्रत्येक जीव का एक नियामक होता है। अन्तर्यामी की संख्या भी उतनी ही होती है जितनी जीवो की अर्थात् ये भी अनेक होते है। परन्तु सच्चिदानन्द स्वरूप होने से वस्तुतः ब्रह्मरूप ही होते है। ब्रह्म इन अन्तर्यामियो का भी अन्तर्यामी है। वह अपने विजातीय जड जगत् सजातीय जीव एव स्वगत अन्तर्यामी इन तीनों रूपों मे अनुस्यूत है। वह इन तीनो का अन्तर्यामी है।[2] अपने परात्पर स्वरूप में पुरूषोत्तम श्री कृष्ण ही परब्रहम है।

---

[1] सच्चिदानन्द रूपेभ्यो यथायथं जडाश्चिदंशजीवबन्धनपरिकरभूता· सदशा. जीवाश्चिदशाबन्धनीया आनन्दा शास्तनियामका अन्तर्यामिनश्च विस्फुलिगन्यायेन व्युच्चरन्ति– 'अणुभाष्य प्रकाश' पृव – 161–162

[2] सजातीया जीव विजातीया जडा स्वगता अन्तर्यामिन त्रिष्पदि भगवान अनुस्यूत–तत्त्वार्थदीप प्रकाश 1/66

जगत् का स्वरूप

वल्लभ दर्शन जगत् प्रपच एव ससार मे एक विलक्षण भेद स्वीकार करता है। यह जगत् या प्रपच सच्चिदानन्द भगवान की इच्छा से उनके सदश से आविर्भूत होने के कारण ब्रह्म रूप होने से सत्य एव नित्य है तथा उत्पत्ति–विनाश रहित है।

जगत् के विपरीत संसार या जीव का जन्ममरण चक्र अविद्या कल्पित है। यह अविद्या पंचपर्वा है – (1) जीव का स्वरूपाज्ञान, (2) देहाध्यास, (3) इन्द्रियाध्यास, (4) प्राणाध्यास, (5) अन्त करणाध्यास।

अविद्या ससार का कारण है। ज्ञान के उदय होने पर अविद्या निवृत्ति के साथ ही ससार का भी विनाश हो जाता है किन्तु ब्रह्मरूप होने से जगत् अथवा प्रपच का कभी नाश नही होता। जगत् प्रपच न प्रकृति जन्य है, न परमाणु जन्य न विवर्तरूप है। अपितु उस भगवान का कार्य है जो उनके सदंश से आविर्भूत है। कार्य होने से अविकृत भगवद्रूप ही है।

रामानुजाचार्य जीव को चिदणुद्रव्य के रूप मे ईश्वर से भिन्न सत्ता मानते है किन्तु ईश्वर के विशेषण अथवा अंश रूप मे वह ईश्वर से अभिन्न भी है। मध्वाचार्य के अनुसार जीव ईश्वराश्रित है एव ईश्वर द्वारा नियम्य है, तथापि स्वरूपत ईश्वर से भिन्न है। निम्बार्काचार्य के अनुसार जीव अणु रूप है एवं ईश्वराधीन होने से ईश्वर से भिन्न है, किन्तु शक्ति रुप अंश मे ईश्वर से अभिन्न है। वल्लभाचार्य मानते है कि जीव ईश्वर के अविकृत चिदाश से आविर्भूत होने के कारण भगवद्रूप है। किन्तु आनन्दाश के तिरोभाव के फलस्वरूप एव ऐश्वर्यादि गुणों के तिरोभाव एव अविद्या के कारण स्वयं को ईश्वर से भिन्न समझता है।

मोक्ष का स्वरूप

मर्यादा मार्ग या वैदिकमार्ग मे कर्म, ज्ञान एवं उपासना के द्वारा भक्ति प्राप्त की जाती है एव उसका लक्ष्य 'सायुज्य मुक्ति है।[1] पुष्टिमार्ग मे भक्ति को ईश्वर के अनन्य प्रेम द्वारा उनके प्रति आत्मसमर्पण माना गया है। इसमे ईश्वरानुग्रह के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नही रहता। भक्ति का स्थायी भाव प्रेम है। भगवान के माहात्म्य के ज्ञान सहित उनके प्रति सुदृढ सर्वातिशायी प्रेम ही भक्ति कहा जाता है तथा केवल उसी से मुक्ति सम्भव है, अन्यथा नही।[2] प्रेमपूर्ण कृष्ण भगवान की सेवा ही भक्ति है।[3] जब चित्त समाधि की भॉति भगवान में लीन होकर एकरस हो जाए, तो वह भगवदाकार, चित्त सेवा रूप है।[4]

किन्तु वल्लभ मत मे भक्ति को अपरोक्ष ज्ञान में फलित नही माना गया है। मात्र भगवद्सायुज्य भक्ति का चरम लक्ष्य नहीं है, अपितु रसरूप भगवान की रसमय सेवा ही भक्ति का चरमोंत्कर्ष है। भगवान प्रसन्न होकर मुक्त भक्त को अपने स्वरूप मे प्रवेश करा कर स्वयं आनन्दानुभव करते है एव उसे रसमय सेवा के लिए अपने निकट स्थापित कर लेते हैं।[5]

भक्ति का स्वरूप

आचार्य वल्लभ 'भक्ति' को ही परमपुरूषार्थ रूप मोक्ष की प्राप्ति का अनन्य साधन स्वीकार करते है। उपनिषदे जहॉ यह वर्णित करती है कि ज्ञान द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है, वहाँ उनका आशय यह है कि ज्ञान द्वारा भक्ति की तथा भक्ति द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है। भक्ति द्वारा अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होती है। नारद ने भक्ति सूत्र मे 'भक्ति से प्राप्त आनन्द को

---

[1] मुक्तात्मा परमात्मा के समस्त भोगों का उपभोग करता है – सायुज्यमन्ये स तु मोक्ष उक्तः –भाष्यार्थ दर्शन, पृ0 572।

[2] महात्म्य ज्ञान पूर्वस्तु सुदृढ सर्वतोऽधिक.। स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा –तत्त्वार्थदीप, पृ0 65

[3] श्री कृष्णविषयिणी प्रेमपूर्विका सेवाभक्ति. – भक्तिमार्तण्ड, पृ 79।

[4] समाधाविव भगवदेकतान चेत सेवारूपम् – भक्ति मार्तण्ड, पृ0 81।

[5] विद्वन्मण्डन – पृ0 110।

गूंगे क स्वाद की भॉति बताया है। भक्ति शब्द का शब्दिक अर्थ माना गया है चित्तवृत्ति का अविच्छिन्न रूप से अपने इष्ट मे लगे रहना।[1] आचार्य वल्लभ के अनुसार 'भक्ति' शब्द का प्रत्ययार्थ है 'प्रेम' तथा धात्वार्थ है 'सेवा'।[2] सेवा का प्रेम सहित होना ही भक्ति है। भक्ति मे प्रेम की अपेक्षा सर्वप्रमुख है। नारद अपने भक्ति सूत्र में ईश्वर में परम प्रेम को ही भक्ति कहते है।[3] नारद पाचरात्र के अनुसार श्री कृष्ण के प्रति प्रेमपूर्वक मनोवृत्ति का अविच्छिन्न प्रवाह भक्ति है।[4] विट्ठलाचार्य का मानना है – 'भक्तिपदस्य शक्ति· स्नेहवा' ।

वल्लभाचार्य की अभीष्ट भक्ति पद वाच्य सेवा तीन प्रकार की है तनुजा, वित्तजा एवं मानसी। शरीर द्वारा की जाने वाली सेवा 'तनुजा' है, धनादि द्वारा की गयी सेवा 'वित्तजा' एवं मन से की गयी सेवा 'मानसी' है। प्रथम दोनो प्रकार क्रियात्मक हैं तथा मानसी सेवा भावरूप है। यही प्रधान तथा वास्तविक भक्ति है। वल्लभाचार्य श्री कृष्ण सेवा के विधान मे मानसी सेवा को सर्व श्रेष्ठ बताते है।[5] यही मानसी सेवा 'साध्यरूपा' भी है किन्तु यह स्थिति सभी को अनायास प्राप्त नहीं होती, अपितु इसकी प्राप्ति के लिए साधना की आवश्यकता होती हैं मानसी सेवा की सिद्धि हेतु आचार्य तनुजा एवं वित्तजा सेवाओ का विधान करते है।[6] यह मानसी भक्ति अत्यन्त प्रेमरूपा है, इसी को आचार्य 'रामानुरागा' या 'प्रेमलक्षणा' भक्ति भी कहते है। श्रीमद्भागवत् में प्राप्त सगुणा भक्ति एव निर्गुणा भक्ति के सिद्धान्तो मे निर्गुणा भक्ति यही मानसी सेवा का ही स्वरूप है। यही भक्ति शब्द के मुख्यार्थ के रूप मे अभीष्ट भी है

---

1 भक्तिसूत्र, नारद, पृ0 52।
2 तत्त्वदीप निर्णय–प्रकाश व्याख्या, वल्लभाचार्य।
3 सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा, भक्ति सूत्र, नारद 1/2
4 मनोगतिरविच्छन्ना हरौ प्रेमपरिप्लुता, अभिसन्धिविर्निमुक्ताभक्ति·–नारद पाचरात्र।
5 कृष्णसेवासदा कार्या सा मानसी परामता– सिद्धान्तमुक्तावली (श्लोक 1) वल्लभाचार्य
6 चेतस्तत्प्रवण सेवा तस्सिद्वयै तनुवित्तजा।

यह भक्ति स्वय फलस्वरूपा होने से भक्तो का साध्य भी है। इस प्रकार शुद्धाद्वैत मत भक्ति को साध्य एव साधन दोनो मानता है। आचार्य वल्लभ मानसी भक्ति को ही 'पराभक्ति' अथवा 'साध्य भक्ति' मानते हैं एवं तनुजा, वित्तजा तथा श्रवणादि अंगो को इस पराभक्ति का साधन स्वीकार करते है। भक्ति के उदय के लिए ईश्वर की महिमा का ज्ञान होना आवश्यक माना गया है। 'ईश्वर के महात्म्य ज्ञान पूर्वक सुदृढ़ एवं सर्वतोऽधिक स्नेह ही भक्ति है।[1] इनके अभाव मे भक्ति सम्भव ही नही ।

वल्लभाचार्य भक्ति को ही ईश्वर प्राप्ति का सबसे सरल एवं सुगम मार्ग स्वीकार करते हैं। ज्ञानमार्ग द्वारा अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति होती है जो कि परब्रह्म पुरूषोत्तम की ही एक अभिव्यक्ति है। इसी प्रकार मन्त्र, जप, पूजादि द्वारा लौकिक विषयो से लेकर स्वर्गादि अनेक फलो की प्राप्ति होती है, किन्तु ईश्वर प्राप्ति उनके द्वारा सम्भव नही, एकमात्र भक्ति द्वारा ही ईश्वर प्राप्य है।[2]

अन्य साधनों से जो कुछ प्राप्त हो सकता है वह सब कुछ भक्ति द्वारा प्राप्त है किन्तु भक्ति से जिस साध्य की सिद्धि होती है वह अन्य किसी साधन से संभव नही।[3] इसलिए भक्तिमार्ग पुरूषोत्तम प्राप्ति के सभी साधनो मे श्रेष्ठतम है किन्तु भक्तिमार्ग मे प्रवेश के लिए ईश्वर का अनुग्रह भाजन होना ही अपेक्षित है। शुद्वाद्वैत_मत में ईश्वर का यह अनुग्रह 'पुष्टि' कहलाता है।

समस्त भक्ति सम्प्रदायों मे 'नवधा भक्ति' को साध्य भक्ति के साधन के रूप मे माना गया है। इसे ही प्राय· 'साधन भक्ति' कहा जाता है। नवधा भक्ति के अनुष्ठान से साधक का चित शुद्व होता है तभी उसके हदय मे

---

[1] महात्म्यज्ञान पूर्वस्तु स्दृढ सर्वतोअधिक·। स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया भुक्तिर्न चान्यथा11 – त0 दी0 नि0 शाव प्रव 42।

[2] ना अह वे दैने तपसा न दानेन न चेष्यया । शकय एवंविधो दृष्टु द्रष्टवानस्मि माम् गाथ।। भक्त्या त्वन्यया शक्य अह्मेवविधोअर्जुन। ज्ञातु द्रष्टु च सत्त्वेन प्रवेष्टु च परन्तय।। न्गीता ।।/53–54

[3] सत्कर्म भि – —भद भक्तो लभतेअजसा इति सु भक्तिसाध्य नाअन्येन सिद्धयन्त्ययाध्य भक्तेरान्युपगिकमिति कथना . . कल्प तरू स्वीाव त्व ज्ञापनाय चोक्तम् । – भक्ति हस, पृ0 27

ईश्वर का माहात्म्य ज्ञान उचित होता है। नवधा भक्ति के नौ अग इस प्रकार है–

(1) श्रवण – ईश्वर के नाम, रूप, गुण तथा उसके दिव्य कर्मो को श्रद्धापूर्वक सुनना 'श्रवण' कहलाता है। यह चित शुद्धि मे विशेष सहायक होता है।

(2) कीर्तन – ईश्वर के रूप, नाम, गुणो का गायन 'कीर्तन' कहलाता है। कृष्ण लीला का भी गायन होता है। गायन के साथ इसमे वाह्य एव नृत्य का भी समावेश रहता है।

(3) स्मरण – भगवच्चरित्र की स्मृति 'स्मरण' है।

(4) पादसेवन – भगवच्चरणो मे अनुराग ही 'पादसेवन' है।

श्रवण, कीर्तन एव स्मरणद्वारा ईश्वर के माह्त्म्य का ज्ञान हो कर जीव के अहंकार का बोध होता है, तथा पादसेवन द्वारा जीव के अहकार का नाश होता हैं

(5) अर्चन – श्रद्धापूर्वक भगवान के स्वरूप की पूजा 'अर्चन' है। ध्यान के दृढीकरण के लिए मूर्त आलम्बन की पूजा की जाती है।

(6) वन्दन – स्वय से श्रेष्ठ के गुणो का गान 'वन्दन' है। अपने आराध्य भगवान की विनम्रतापूर्वक स्तुति ही वन्दन है। इससे उसके माहात्म्य का भी अनुभव होता है।

(7) दास्यभाव – भगवान को स्वामी तथा स्वय को उनका सेवक मानकर उनकी आराधना करना दास्य भक्ति है। जीव ईश्वराश होने से न्यून है। वल्लभाचार्य एव रामानुजाचार्य दोनों ही ब्रह्म 'जीव के मध्य स्वामी सेवक भाव मानते है।

(8) सख्यभाव – ईश्वर को सखा मानकर की जाने वाली भक्ति सख्य भक्ति है यथा अर्जुन – कृष्ण अथवा सुदामा – कृष्ण का सम्बन्ध।

(9) आत्मनिवेदन – यह नवधा भक्ति की चरम परिणति है। भक्ति के प्रथम आठ अनुष्ठानो से ईश्वर का माह्ात्म्य ज्ञान पूर्णतः होने पर साधक का

चित्त भक्ति मे स्थिर हो जाता है, तब उसके हृदय मे जो समर्पण की भावना का जन्म होता है वही 'आत्म निवेदन' है।

वल्लभाचार्य स्वीकार करते हैं कि नवधा भक्ति[1] द्वारा चित्तशुद्धि होने पर भगवत्प्रेम उत्पन्न होता है। अपने ग्रन्थो मे आचार्य इस प्रेमोत्पत्ति का कारण स्वीकार करते है।[2] वे इस नवधा भक्ति को 'मर्यादा भक्ति' के लिए ही स्वीकार करते है। पुष्टि भक्ति के लिए इस अनुष्ठान की अपेक्षा नही रहती पुष्टि भक्तों को स्वय ही ईश्वर की कृपा प्राप्त रहती है।

नवधा भक्ति की अपेक्षा भक्त को तभी तक रहती है जब तक उसके हृदय मे भगवत्प्रेम उत्पन्न नही होता।[3] षडविद्या भक्ति[4] का विधान आचार्य संसारी भक्तो के लिए करते है। पुष्टि मार्गीय भक्तों मे भी श्रवण, कीर्तन, अर्चन, वन्दन इत्यादि की प्रवृत्ति देखी जाती है। अन्तर मात्र इतना ही रहता है कि इसमे श्रवणादि का साधनरूपत्व नही होता, न ही ये भक्ति के अग माने जाते हैं।

पुष्टिमार्ग

वल्लाभाचार्य का सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैतवाद' कहलाता है तथा वे जिन साधन पद्धति का प्रवर्तन करते है वह 'पुष्टिमार्ग' है। अर्थात् आचार्य का सैद्धान्तिक मत शुद्धाद्वैतवाद या ब्रह्मवाद है तथा व्यावहारिक रूप 'पुष्टिमार्ग'।

पुष्टिमार्ग में आचार्य साधनहीन जीवो के हितार्थ मार्ग दर्शन देते है। पुष्टि का तात्पर्य है 'पोषण' अथवा 'अनुग्रह'।[5] आचार्य के मत में पुष्टि स्वतन्त्र भगवद् अर्थ है जो कृपा, अनुकम्पा इत्यादि शब्दवाच्य है।[6] इस मार्ग

---

[1] श्रवण कीर्तन विष्णो स्मरण पादसेवनम्।अर्चन वन्दन दास्य सख्यमात्मनिवेदनम्।।
इति पुसाअर्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नव लक्षणा। क्रियते भगवत्यद्धा
तन्मन्येऽधीतमुत्तम।।–श्रीमद्भागवत् 7/5/23–24

[2] विशिष्टरूप वेदार्थ फल प्रेम चसाधनम्। तत्साधन नवधा भक्ति .. .।। 2/218

[3] अचतुराणामेव षड्विद्या भक्ति रूपता। सुबोधिनी टीका (भगवत्)

[4] कीर्तन, स्मरण, ईक्षण, वन्दन, श्रवण, अर्हण–यह षड्विद्या भक्ति है।

[5] पोषण तदनुग्रह–श्रीमद् भागवत्।

[6] अनुग्रहश्च धर्मान्तरमेव न तु फलदित्सा कृपानुकम्पादि शब्दाना स वाच्य ।

मे भगवदनुग्रह ही नियामक है[1] 'पुष्टि प्रवाह मर्यादा भेद' ग्रन्थ में आचार्य वल्लभ का मानना है कि पुष्टि का अनुमान उसके भक्ति रूपी कार्य से होता है, इसका स्वरूप व्यक्त नही होता।[2]

भक्ति मार्ग का अधिकारी वही है, जिस पर भगवत्कृपा हो। वल्लभाचार्य जीव के कल्याण के लिए मार्गत्रय का विधान करते हैं–

(1) प्रवाहमार्ग– इस मार्ग मे जीव ससार के प्रवाह मे पडकर सुख दु खादि द्वन्द्वो मे फसने पर भी ईश्वर प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील रहता है।

(2) मर्यादा मार्ग – वेद विहित कर्मो के अनुसरण द्वारा ज्ञान प्राप्ति हेतु प्रयत्न करना 'मर्यादा' है। यह मर्यादा मार्ग साधन मार्ग है। ये साधक ज्ञान एव कर्म सम्पादन द्वारा मोक्ष प्राप्त कर अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति मे सुख प्राप्त करते है।[3]

(3) पुष्टिमार्ग – यह मार्ग अन्य दोनो से विलक्षण मार्ग है। यह भगवान के अनुग्रह मात्र से ही साध्य होता है। ईश्वर के प्रति निष्काम प्रेम भाव से भगवान को आत्मसमर्पण के द्वारा अनुग्रह प्राप्त करना ही मुख्य लक्ष्य रहता है। समस्त विषयो के परित्याग के साथ देहादि का सर्वथा समर्पण ही पुष्टिमार्ग मे अपेक्षित है।[4]

इन मार्गत्रय के सम्बन्ध में आचार्य वल्लभ का मानना है कि सर्ग परम्परा की अविच्छिन्नता प्रवाह है तथा उसकी उत्पत्ति भगवान के मन मे हुई है। यह व्यामोह बहुल है। मर्यादा की उत्पत्ति उनकी वाणी से हुई है और यह वेद परक है तथा पुष्टि की सृष्टि भगवद् शरीर से हुई है, वह

---

[1] अनुग्रह पुष्टिमार्गो नियामक इतिस्थिति ।

[2] भक्तिमार्गस्य कथानत् पुष्टिरस्तीति निश्चय– पुष्टिप्रवाहमर्यादा भेद–वल्लभाचार्य।

[3] अतएव पुष्टिमार्गेऽङ्गीकृतस्य ज्ञानादिनैरपेक्ष्य मर्यादा।

[4] समस्त विषयत्याग सर्वभावेनयत्र हि। समर्पण व देहादे पुष्टिमार्ग. कथ्यते ।।
पुष्टिमार्गलक्षणानि, हरिरायवाङ मुक्तावली, 19।

रसपूर्ण व प्रेमात्मक है।[1] आचार्य वल्लभ सुबोधिनी मे पुष्टिमार्ग को लौकिक वैदिक मार्गों से श्रेष्ठ बताते है।[2]

जिस जीव का वरण भगवान मर्यादा मार्ग में करते है उसे मर्यादा भक्ति तथा जिसका वरण पुष्टिमार्ग मे करते है उसे पुष्टि भक्ति प्राप्त होती है। भगवान सृष्टि के पूर्व काल में ही यह निश्चित कर लेते है।[3] इस प्रकार भगवदानुग्रह रूप पुष्टि के परिणामस्वरूप जब भक्त भगवदुन्मुख हो जाता है तो वही स्थिति प्रेमाभक्ति कही जाती है।

आचार्य वल्लभ 'भक्ति' का सर्वोच्च प्राप्य श्री कृष्ण को स्वीकार करते है भगवदीयता के साथ ही आचार्य रामानुजाचार्य की भॉति शरणागति को विशेष महत्व देते हैं।

गौड़ीय सम्प्रदाय

उत्तर भारत की वैष्णव परम्परा मे श्री निम्बार्काचार्य एवं श्री वल्लभाचार्य के अनन्तर अन्तिम वैष्णव सन्त के रूप मे श्री चैतन्य महाप्रभु का नाम है। श्री चैतन्य ने विष्णु पुराण, हरिवंश पुराण, भागवत् और ब्रह्मवैवर्तपुराण में दिये गए कृष्णविषयक वर्णन से अत्यधिक आकृष्ट होकर, श्री कृष्ण लीला को अपने व्यक्तित्व एव आचरण में ही समाहित कर लिया। यद्यपि मान्यताओं के अनुसार निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्य भी राधा का वेश बनाकर स्वय को प्रिया मानकर श्री कृष्ण की भक्ति प्रियावत् भाव से करते थे। किन्तु श्री चैतन्य ने श्रीकृष्ण नाम सकीर्तन को भक्ति का परमश्रेष्ठ साधन बनाया। इसे वैष्णवो की भक्ति परम्परा को एक नया स्वरूप मिला।

श्री चैतन्यदेव का जीवनवृत्त एवं कृतित्व

श्री चैतन्यदेव आचार्य वल्लभ के अवर समकालीन माने गए है। उनका आविर्भाव ईसवी सन् 1486 मे हुआ माना जाता है। उनका जीवन चरित

---

[1] आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन, डा राजलक्ष्मी वर्मा।
[2] लौकिक वैदिक मार्गापेक्षया पुष्टिमार्ग उत्कृष्ट – सुबोधिनी
[3] अणु भाष्य 3/3/29

उनके समकालीन एव उत्तरवर्ती प्रशसकों एव रचनाकारो की रचनाओं द्वारा प्राप्त होता है। किन्तु इनमें 'दर्शन' पक्ष से अधिक उनकी चरित लीला एव श्रीकृष्ण की 'प्रेमारूप भक्ति' पर ही प्रकाश डाला गया है। वस्तुत. वृन्दावन दास की 'चैतन्य भागवत्' और कृष्णदास कविराज की 'चैतन्य चरितामृत' श्री चैतन्य महाप्रभु की जीवन–कथा सम्बन्धी महत्वपूर्ण कृत्तियॉ है। कृष्णदास कविराज प्रणीत 'जीवनी' चैतन्य महाप्रभु के जीवन की सबसे महत्वपूर्ण रूचिकर 'संकीर्तन काल' के 'दार्शनिक' एव 'शिक्षाप्रद' तत्वो पर प्रकाश डालती है। यहॉ 'श्री चैतन्य महाप्रभु' के जीवन–चरित का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

आधुनिक कलकत्ता से लगभग 72 मील दूर त्रिभुवन पावनी भगवती गंगा के पूर्वी तट पर 'नवद्वीप' नामक नगर है। लगभग 500 वर्ष पूर्व ये नगर ब्राह्मणो, वणिको, वैष्णव भक्तो से युक्त 'सस्कृत विद्या' का सर्वश्रेष्ठ केन्द्र था। वर्तमान काल में इसे 'श्री मायापुर' नाम से भी जाना जाता है।

उस समय समस्त भारत वर्ष मे लोदी वंश का शासन था। बगाल भी मुसलमान शासकों द्वारा शासित हो रहा था। सुल्तान हुसैन शाह द्वारा बंग देश मे अराजकता, विद्रोह, नरसहार का माहौल बना हुआ था। वही उडीसा मे सूर्यवशी राजा श्री पुरूषोत्तम का राज था। यद्यपि बगाल के अधिकांश लोगो की आर्थिक अवस्था सम्पन्न थी, किन्तु वर्णाश्रम धर्म की स्थिति खराब हो रही थी। हिन्दु समाज मुसलमानो एवं बौद्धो के प्रभाववश उच्चस्वर से कीर्तन–पूजन का विरोधी बन गया था। हरिकीर्तन करने वाले पारमार्थिक वैष्णवो को उपहास का पात्र बना दिया जाता था।

ईसा की 11वी शती के मध्य मे नवद्वीप सेनवशी राजाओ की राजधानी था। सेन राजाओ के अध.पतन के बाद नवद्वीप मुसलमान शासको के अधीन हो गया।

चौदहवी शती मे इस 'नवद्वीप' मे महत् महिमावान श्री अद्वैताचार्य निवास किया करते थे। वे समाज की स्थिति देखकर भगवान से इसकी रक्षा

हेतु अवतार के लिए प्रार्थना करते रहते थे। वही वेदविद्या पारगत, महानैयायिक श्री जगन्नाथ अपनी पत्नी 'शचीदेवी' के साथ गगा के निकट 'नवद्वीप' मे आकर निवास करने लगे। वे 'न्याय विद्यापीठ' मे न्यायशास्त्र के अध्यापक थे। उनके ज्येष्ठ पुत्र 'श्री विश्वरूप', जो कि 'सकर्षण' के अवतार माने जाते है, अल्पायु मे ही सन्यास ग्रहण करके गृहत्याग कर चले गए थे। सन् 1486 ई0 की फाल्गुन मास की पूर्णिमा को श्री मिश्र के यहा 'श्री चैतन्यदेव' का आविर्भाव हुआ। इस समय समस्त वातावरण 'फाग' मे मानो आनन्दमय हो रहा था। विश्व मे 'हरि–ध्वनि' मुखरित सी होने लगी थी। महापुरूषो के सभी लक्षण उस शिशु मे विद्यमान थे। उसका वर्ण 'गौर स्वर्णमय' था। अतएव वे बाल्यकाल मे 'गौराग' कहलाए। इसके अतिरिक्त इनका विधिवत नामकरण द्वारा 'विशम्भर' नाम रखा गया। प्यार से इन्हे 'निमाई' बुलाया जाता था। इन्हे 'गोर सुन्दर' या 'श्री गोरहरि' नाम से भी अभिहित किया गया है। कुछ भक्त इन्हें 'श्रीराधा जी' का अवतार मानते है। उनकी शैशव लीला भी असाधारण शिशु की भांति, परम चमत्कार पूर्ण, वात्सल्ययुक्त है। रोने पर केवल 'हरि–बोल' ध्वनि ही इन्हे शान्त करने मे सक्षम थी। इस प्रकार सदा से ही इन्होने 'हरि–कीर्तन' मे मग्न रहकर लोगो को भी इसका महत्व बताया।

ये भागवत्–कथा से विशेष प्रभावित थे तथा विष्णु–पूजा मे इनका चित्त निमग्न रहा करता था। अपने ज्येष्ठ भ्राता के द्वारा गृह त्याग करने के बाद ये अपने माता–पिता की एकमात्र सन्तान रह गए।

श्री चैतन्य के आर्विभाव–काल में नवद्वीप कई ऐसे वैष्णवो का निवास स्थान बना हुआ था, जो भारत के अन्यान्य भागो से प्रवासित हुए थे। श्रीवास पण्डित, श्रीराम पण्डित, चन्द्रशेखर, मुरारि गुप्त, पुण्डरीक, विद्यानिधि, अद्वैताचार्य आदि ऐसे ही विद्वान वैष्णवाचार्य थे। इस प्रकार समस्त वातावरण एक ऐसे महान अग्निस्फुर्लिंग के लिए तैयार था, जिसे दहनशील सामग्री मे फेकना श्री चैतन्य का कार्य था।

श्री चैतन्य अपने बाल्यकाल मे ही तरह–तरह से दार्शनिक शिक्षाए दिया करते थे। जैसे कभी माता को पार्थिव वस्तुओ की अनित्यता एव श्रीमद् भागवत् को ही नित्य वस्तु' का ज्ञान देना। ईश्वर अथवा श्री विष्णु सम्बन्धित वस्तुओ को परम शुचि तथा शुचिता–अशुचिता मानव की कल्पना मात्र कहा।

श्री चैतन्य अपने अध्ययन काल मे अत्यन्त मेघावी छात्र थे। वे व्याकरण का अध्ययन करने के लिए श्री गगा दास पडित, की पाठशाला मे भेजे गए। अल्पायु में ही व्याकरण, अलकार शास्त्र, न्यायशास्त्र, आदि पर इनका पूर्ण अधिकार हो गया। दस वर्ष की आयु मे ही इन्हे 'पडित' की उपाधि से विभूषित कर पाठशाला मे अध्यापक नियुक्त कर दिया गया। उनके रूप एव ज्ञान से 'नदिया' के सभी नर–नारी मुग्ध रहा करते थे। श्री मुरारि गुप्त, कमलाकान्त, कृष्णानन्द, श्रीनिवास पण्डित, वासुदेव दत्त, मुकुन्द दत्त, लेखक जगाई, श्री गर्भपण्डित, गोविन्द, श्रीधर, दामोदर, चन्द्रशेखर, सजय, पुरूषोत्तम, विजय, वक्रेश्वर, सनातन, हृदय, मदन आदि उनके साथी एव सहपाठी थे। श्री मुरारि गुप्त इनसे उम्र मे बडे थे। वे एक गभीर विद्वान तथा कुशल वैद्य थे। श्री निमाई से उनका अक्सर वाद–विवाद हो जाया करता, किन्तु अन्त मे मुरारिगुप्त हार जाया करते। तब वे श्री निमाई को एक अतिमर्त्य पुरूष का आविर्भाव मानने लगे।

ऐसी एक मान्यता है कि अपने अध्ययन काल मे श्री निमाई ने न्याय शास्त्र की एक टीका की रचना की थी। उनके सहपाठी श्री रघुनाथ शिरोमणि ने भी 'दघीति' नामक एक न्याय शास्त्र की टीका लिखी। जो आज भी न्यायविदो मे प्रसिद्ध है। 'दधीति' की प्रसिद्धि के लिए श्री निमाई ने उससे भी श्रेष्ठ अपनी टीका गंगा मे प्रवाहित कर दी। इसी बीच उनके पिता श्री जगन्नाथ का देहावसान हो गया।

माताश्री के आग्रह से श्री निमाई का विवाह श्री वल्लभमिश्र की पुत्री लक्ष्मी देवी के साथ हुआ। श्री लक्ष्मी देवी श्री गौर नारायण की श्री शक्ति हैं। श्री निमाई तब नवद्वीप के चडीमंडप मे व्याकरण का अध्यापन कार्य करने

लगे। इस समय तर्क–वितर्क, शास्त्रार्थ सूत्रो की विभिन्न प्रकार से व्याख्या आदि इनके प्रिय शौक थे। कुछ समय पश्चात् श्रीमती लक्ष्मी देवी का स्वर्गवास हो गया।

अपनी माता के पुन आग्रह पर श्री निमाई का विवाह राज पण्डित श्री सनातन मिश्र की पुत्री 'विष्णु प्रिया' से हुआ। विष्णुप्रिया जी भू–शक्ति स्वरूपा अतएव परम सहनशील स्नेही थी। वे गृहस्थाश्रम धर्म का यथायोग्य पालन करते हुए नियमित रूप से विष्णु पूजन हेतु सामग्री–तुलसी पुष्पादि की यथासमय व्यवस्था करती थी, जिससे श्री निमाई को सुखानुभूति होती थी।

अपने पिता का श्राद्ध करने हेतु श्री निमाई 'गया' धाम' की यात्रा पर गए तथा वहाँ अपने पितरो का श्रद्धापूर्वक पिण्डदान किया। वहाँ उनका साक्षात्कार 'श्रीईश्वरपुरी' से हुआ। ईश्वरपुरी 'माधवेन्द्रपुरी' के शिष्य तथा महाभागवत् थे। श्री निमाई ने ईश्वरपुरी से 'द्वादशाक्षर श्री कृष्ण मन्त्र' की दीक्षा लेकर इन्हें अपना गुरू नियुक्त किया। इस घटना के द्वारा श्री चैतन्य ने महाभागवत–सदगुरू का दर्शन एवं पादाश्रय ग्रहण ही सर्वश्रेष्ठ तीर्थफल बताया है। गुरू की कृपा से ही मोक्ष के साधन की प्राप्ति सम्भव है। इसके पश्चात् श्री कृष्ण मन्त्र का जाप करने से उन्हे श्री राधा–कृष्ण के विलास का दर्शन होने लगता।

गया धाम से लौटने के बाद से श्री निमाई सदैव श्री कृष्ण सकीर्तन मे मग्न रहने लगे। उनकी चापल्यता, तर्क–विर्तक का स्थान धीरता और गंभीरता ने ले लिया था। कृष्ण विरह मे अनवरत क्रन्दन, कृष्ण–कृष्ण पुकारना और वैराग्य भावना उनमे आ गई थी। अध्यापन काल मे भी उनके मुख से 'श्री कृष्ण' के अलावा दूसरा कोई शब्द नही निकलता था। हरिनाम' शब्द सुनते ही श्री निमाई का वाह्य–ज्ञान लुप्त होकर भगवत् भक्ति प्राप्त होने लगती। पढाते समय सूत्र, वृत्ति, टीका आदि सभी मे केवल कृष्ण नाम

की ही व्याख्या करने लगे। उनका सारा जीवन ही कृष्णमय हो गया 'कि भोजने, कि शयने, किवा जागरणे। कृष्ण बिनु प्रभु आर किछु न बाखाने।।'

उन्होने अपनी माता एव पत्नी को भी कृष्ण नाम महिमा बताकर उसी का जाप करने की शिक्षा दी। उन्हे अपना अध्यापन कार्य भी छोडना पड गया। उन्होने अपने छात्रों से कहा कि 'श्री कृष्ण–नाम सकीर्तन मे ही अध्यापन कार्य की पूर्णता और सफलता है। छात्रो द्वारा श्री कृष्ण–नाम सकीर्तन की व्याख्या एव रीति पूछे जाने पर कहा–

'हरये नमः कृष्ण यादवाय नम।
गोपाल गोविन्द राम श्री मधुसूदन।।'

ये श्री कृष्ण–नाम व्याख्या ही श्री निमाई का प्रथम सकीर्तन माना जाता है। सकीर्तन के समय श्री कृष्ण–भक्ति मे महाप्रभु प्रेमाविष्ट होकर हाथ से ताली बजाते हुए नृत्य–मुद्रा में बीच मे खडे हो जाते और उनके शिष्यो की छोटी सी मण्डली खोल, करताल, मृदग आदि वाद्यो के साथ उन्हे घेरकर सकीर्तन किया करती।

श्री श्रीवास के गृह–आंगन मे श्री अद्वैताचार्य, श्री हरिदास, श्री पुण्डरीक, विद्याविधि, गोविन्द घोष, मुकुन्द घोष, संजय आदि विद्वान प्रतिदिन सांयकाल एकत्र हो कर नाम सकीर्तन, उच्च्व स्वर मे किया करते थे। आज भी 'श्रीवास आगन' महाप्रभु चैतन्य की 'सकीर्तन रासस्थली' के नाम से प्रसिद्ध है।

श्रीवास पण्डित की निष्ठा एव त्याग भावना को आदर्श रूप मे स्थापित कर श्री महाप्रभु ने गृहस्थ मनुष्य एव हरि भजन परायण गृहस्थ के स्वरूप की भिन्नता को स्पष्ट किया। उनके मतानुसार दोनो प्रकार को गृहस्थो का स्वरूप एक होते हुए भी अन्तर्निष्ठा भिन्न–भिन्न प्रकार की होती है। वैष्णव गृहस्थ का ससार कृष्ण का संसार है। वह सदा ही कृष्ण मे मग्न रहता है। उसे किसी प्रकार की लालसा नही रहती। जबकि साधारण गृहस्थ माया के ससार मे रहकर कर्त्तापन का अभिमानी हो जाता है।

कृष्ण के ससार का अर्थ हरि नाम संकीर्तन का ससार है। समस्त शोक मोह आदि अनात्म धर्मव्यापार श्री कृष्ण की सेवा मे अनुकूल दृष्टिगोचर होते है।

विश्व मे श्री चैतन्य का जो सकीर्तन–धर्म प्रचार फैला वह वैष्णव गृहस्थ कृष्ण भक्त श्रीवास के भजनमय गृह आगन से आरम्भ हुआ माना गया है। श्री श्रीवास पण्डित ने श्री महाप्रभु के सकीर्तन यज्ञ मे अपना सर्वस्व आहूत कर दिया था।

संकीर्तन काल मे ही श्रीवास आंगन मे एक बार महाप्रभु श्री चैतन्य मे भक्तावेश के साथ भगवतावेश भी प्रकट हुआ था, ऐसा उनके अनुयायियो का मानना है। उनका ये अद्‌भुत भावावेश सात प्रहर तक चला। अतएव इसे 'सात प्रहरिया भाव' या 'महाप्रकाश' कहा जाता है।

इसी प्रकार श्री महाप्रभु ने कई दिनों तक श्रीवास आगन में सकीर्तन क्रम किया, किन्तु उनका उद्‌देश्य था जन–जन में युग धर्म सकीर्तन का प्रचार करना। उन्हीं दिनों में श्रीमाधवेन्द्रपुरी के एक और शिष्य श्री नित्यानन्द नवद्वीप आए। इनके आगमन और संग से श्री निमाई में सन्यास लेने की इच्छा जाग्रत हुई। उन्होने श्री हरिदास ठाकुर एव नित्यानन्द प्रभु को नदिया धाम में श्री कृष्ण नाम प्रचार हेतु भेजा। धीरे–धीरे समस्त नवद्वीप का घर–घर सकीर्तन ध्वनि से गूंजने लगा। श्री महाप्रभु ने अनेको नास्तिको, दुष्ट प्रवृत्ति मनुष्यो, ब्राह्मणो, मायावादियों का विचार बदलकर उन्हे श्रीकृष्ण नाम सकीर्तन का उपदेश देकर उनका उद्धार किया।

श्री गौर हरि महाप्रभु स्वभावतः परम सहृदयी थे। अभी भी कुछ स्वाभिमानी पण्डित एव नास्तिक वर्ग उनका विरोध कर रहे थे। अतएव वही गौर हरि ने सन्यास ग्रहण का विचार कर ही लिया। चूंकि बिना त्याग का महान आदर्श रखे, जीवोद्धार सम्भव नही हो सकता। उन्होंने एकान्त में श्री नित्यानन्द को अपने इस विचार से अवगत करा कर, 'करवा' के श्री केशव भारती से सन्यास ग्रहण की दीक्षा लेने की इच्छा जाहिर की।

चौबीस वर्ष की अवस्था मे माघमास के शुक्ल पक्ष को मकरसक्रान्ति के दिन उन्होने श्री केशव भारती से सन्यास मन्त्र लेकर दीक्षा ग्रहण की। श्री निमाई जगत् मे सर्वत्र कृष्ण नाम प्रचार से जगत् को चैतन्य करेगे, अतएव उनका नाम 'श्री कृष्ण चैतन्य' हो गया।

सन्यासी वेश मे वे अपने सन्यास गुरू श्री केशव भारती व अन्यान्य भक्तो के साथ सकीर्तन' करते हुए भी श्री कृष्ण की खोज मे वन–वन घूमने लगे। वे नवद्वीप भी आए और वहॉ के निवासियो को कृष्णानुसधान का आदेश दिया। 'शान्तिपुर' मे गगा को यमुना समझकर उसकी स्तुति करते हुए वे अद्वैताचार्य के घर श्री नित्यानन्द, श्री मुकुन्द एव श्री हरिदास ठाकुर के साथ ठहरे। वहॉ अपनी माता शची देवी से भी भेंट की तथा भिक्षा ग्रहण की। तत्पश्चात् माता की आज्ञानुसार श्री नित्यानन्द, श्री मुकुन्द, श्री जगन्नाथ, श्री दामोदर तथा ब्रह्मानन्द के साथ श्री जगन्नाथ धाम मे नीलॉचल आ गए।

श्री जगन्नाथ जी के मंदिर के कलश का दर्शन करके श्री चैतन्य प्रेमोन्मत्त होकर मदिर के भीतर अकेले ही दौड पडे तथा मूर्ति का दर्शन करके चेतनाशून्य हो भूमि पर गिर पडे वहीं उडीसा के तत्कालीन महाराज श्री प्रतापरूद्र के सभापति, महामायावादी, निर्विशेषवादी पण्डित श्री वासुदेव सार्वमौन भट्टाचार्या से उनकी भेट हुई। उन्होने श्री चैतन्य का श्री जगन्नाथपुरी मे रहने का प्रबन्ध कर दिया। इस प्रकार श्री चैतन्य महाप्रभु अन्यान्य कृष्ण भक्तो के साथ 'पुरी' मे निवास करने लगे। वे प्रतिदिन श्री जगन्नाथ देव की मूर्ति का दर्शन करते एवं प्रेमाविष्ट होकर कृप्यभाव मे विह्वल हो नृत्य–गान करते ।

श्री वासुदेव सार्वभौम भट्टाचार्या आचार्य शकर के मायावाद भाष्य के अनुयायी होकर निर्विशेषवादी हो गए थे। श्री गोपीनाथ आचार्य चैतन्य के परम भक्त तथा श्री सार्वभौम के शालक (पत्नी के भाई) थे। वे श्री सार्वभौम को श्री चैतन्य से मिलवाने ले गए। गोपीनाथ श्री चैतन्य को 'स्वय भगवान'

मानते थे। ऐसा ही उन्होने श्री सार्व भौम को भी बताया। किन्तु निर्विशेषवादी श्री सार्वभौम ने इसे स्वीकार न करके तर्क–वितर्क किया। किन्तु गोपीनाथ ने भी तर्क देकर कि 'परमेश्वर की कृपा के बिना परम–तत्त्व नही नही जाना जा सकता और उसकी माया से आच्छन्न जीव अपनी जड ज्ञानेन्द्रिय के पाण्डित्य प्रदर्शन द्वारा उसे नही जान सकता' श्री सार्वभौम को चुप करा दिया। उस समय श्री सार्वभौम 80 वर्ष के थे।

फिर भी श्री सार्वभौम ने श्री कृष्ण चैतन्य को बाल सन्यासी समझ कर उन्हे वेदान्त श्रवण का अनुरोध किया एव सात दिन तक निरन्तर शाकर वेदान्त की शिक्षा दी। आठवे दिन श्री चैतन्य को ज्ञान की परीक्षा के लिए कहा तब श्री चैतन्य नें श्रीमद् भागवत् के सिद्धान्तों के द्वारा शांकर भाष्य के मायावाद का खण्डन किया तथा श्रीमद् भागवत् को ही अकृत्रिम ब्रह्मसूत्र भाष्य बताया। श्री सार्वभौम ने श्री चैतन्य का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया।

श्री सार्वभौम ने तत्काल ही श्री चैतन्य महाप्रभु की स्तुति मे 100 श्लोको की रचना की। जिनमें कुछ श्लोक तो भक्तो में मौखिक रूप मे गाए जाते है। श्री चैतन्य ने श्री सार्वभौम को मुक्ति के सर्वश्रेष्ठ साधन के रूप मे 'कृष्ण–नाम सकीर्तन' मन्त्र दिया। श्री सार्वभौम जैसे प्रतिष्ठित निर्विशेषवादी वेदान्ती का वैष्णव भक्त बन जाना महाप्रभु चैतन्य के भक्ति आन्दोलन के लिए महत्त्वपूर्ण कदम था। इसके पश्चात् तो समस्त उडीसा मे श्री चैतन्य का प्रभाव फैल गया। तदनन्तर राजा गजपति प्रतापरूद्र ने भी इनका शिष्यत्व ग्रहण किया।

श्री चैतन्य ने फिर दक्षिण की यात्रा आरम्भ की। जिसमे उन्हें दो वर्षो का समय लगा। श्री चैतन्य की कृपा–महिमा नवद्वीप एव नीलाँचल की अपेक्षा दक्षिण भारत मे कही अधिक दिव्य रूप मे प्रकट हुई। उनके कीर्तन–श्रवण, प्रेमालिगन आदि द्वारा अनेक महाभागवत वैष्णव हुए। उन सबने गाव–गाव, नगर–नगर जाकर कृष्ण नाम का प्रचार किया। श्री चैतन्य भ्रमण करते हुए जिसके घर भिक्षा करते उन्ही को कृष्ण–कथा का उपदेश

देकर उसका प्रचार करने को कहते थे। उन्हे प्रेमावेश मे दिशाओ एव रात–दिन का भी ज्ञान नही रहता था।

कूर्मदेश से होते हुए कुछ दिनो में महाप्रभु गोदावरी नदी के किनारे पहुचे। वहॉ गोष्पद नामक तीर्थ घाट के निकट श्री चैतन्य का मिलन 'श्री राय रामानद' से हुआ। ये राय रामानन्द जी विद्यानगर के पालन कर्त्ता तथा श्रीसार्वभौम से परिचित थे। श्री सार्वभौम ने श्री चैतन्य से इनकी विद्वता का वर्णन करके मिल कर आने को कहा था। श्रीराय रामानन्द के मुख से श्री चैतन्य महाप्रभु ने साध्य–साधन निर्णय का विस्तृत वर्णन कराया। जो श्री चैतन्य के दार्शनिक पक्ष का अद्भुत परिचय देता है। श्री चैतन्य ने कहा– "अपनी इन्द्रियो की प्रीति की इच्छा का नाम ही 'काम' है– और श्री कृष्ण की इन्द्रिय प्रीति की इच्छा ही अप्राकृत 'प्रेम' है। यही प्रेम ही परम पुरूषार्थ है। यही साध्य वस्तु है जिसे प्राप्त करने के उपरान्त अभिलाषा की चिर निवृत्ति हो जाती है। साध्य वस्तु का बोध शास्त्र के बिना सम्भव नही है।' इसलिए महाप्रभु ने श्रीरामानन्दजी से प्रमाण सूचक श्लोक के साथ साध्य–निर्णय का विस्तृत रूप व्यक्त करवाया।

वही दक्षिण यात्रा में उन्होने बौद्ध धर्म एव शैव धर्म पर भी विजय प्राप्त करके इन्हे वैष्णव परम्परा मे दीक्षित किया। इसके अनन्तर श्री चैतन्य तिरूपति, विष्णुकॉची, आदि स्थानो पर होते हुए श्रीरगक्षेत्र पहुचे। ये श्री सम्प्रदाय के प्रवर्तक रामानुजाचार्य का क्षेत्र है। यहॉ व्यकट भट्ट नामक वैष्णव ब्राह्मण तथा उसके दो भाई विमलभट्ट और प्रबोधानन्द सरस्वती तथा एकमात्र पुत्र श्री गोपाल भट्ट गोस्वामी महाप्रभु का आश्रय लेकर श्री कृष्ण भक्त बन गए। श्री गोपाल भट्ट उन छ गोस्वामियो में से रहे है कि जिन्होने वृन्दावन जाकर श्री चैतन्य देव के मत का प्रचार किया। श्री प्रबोधानन्द सरस्वती ने 'चैतन्य–चन्द्रामृत' नामक ग्रन्थ की रचना की थी।

कर्नाटक जाकर महाप्रभु परमानन्दपुरी से मिले। वहॉ से दक्षिण मदुरा, पाण्ड्य देश, ताम्रपर्णी नदी, मालाबार होते हुए त्रिवाकुर राज्य में 'पयस्विनी

नदी' के किनारे आए। वहाँ श्री केशव मन्दिर मे कुछ भक्तों के साथ मिलकर 'ब्रह्मसहिता' ग्रन्थ के 'पंचमाध्याय' का प्रणयन किया। इस ग्रन्थ मे थोडे ही अक्षरो में समस्त वैष्णव सिद्धान्त लिपिबद्ध है यह ग्रन्थ समस्त वैष्णव सिद्धान्तों के शास्त्रों का सार है।

श्रृगेरी पीठ के तत्कालीन शकराचार्य से मिलते हुए वे उडिपी आए। वही श्री मन्मध्वाचार्य के द्वारा श्री नर्तक गोपाल की श्री विग्रह की स्थापना की गई है। श्री चैतन्य ने उसे देखकर अत्यन्त प्रेमाविष्ट हो नर्तन–कीर्तन किया। ये श्री मन्मध्वाचार्य 'श्री गौराग गौडीय सम्प्रदाय के आदि गुरू माने जाते है।

पढरपुर जाकर श्री चैतन्य ने श्री विठ्ठल देव–द्विभुज श्री कृष्ण विग्रह स्वयभू के दर्शन किये। यही श्री चैतन्य के ज्येष्ठ भ्राता श्री विश्वरूप 'शकरारन्य' निवास करते थे। बाद मे उन्होने वहीं समाधि ले ली थी। पढरपुर में ही श्री माधवेन्द्रपुरी के शिष्य श्रीरंगपुरी, श्री ज्ञानदेव, श्री नामदेव, एकनाथ और तुकाराम जी ये सभी श्री विठ्ठलदेव के भक्त निवास करते थे।

माना जाता है कि तुकाराम जी को स्वप्न में श्री चैतन्य देव से 'राम–कृष्ण–हरि' महामन्त्र मिला था। पढरपुर में 'वारककी' नामक वैष्णव सम्प्रदाय है, जिसमें 'कृष्ण–नाम–सकीर्तन' को परम साधन स्वीकार किया गया है।

'कृष्णवेण्वा' नदी के किनारे श्रीमद्‌विल्वमगल प्रणीत 'श्रीकृष्णकर्णामृत' ग्रन्थ का सग्रह कर, उसकी प्रतिलिपि बनवाकर श्री चैतन्य कोल्हापुर, नासिक, पंचवटी, आदि स्थानो का भ्रमण करते हुए पुनः विद्यानगर आए। वहाँ श्री राय रामानन्द को 'ब्रह्मसंहिता'–पंचमोध्याय' तथा 'श्रीकृष्ण कर्णामृत' ये दोनो ग्रन्थ प्रदान कर 'अलालनाथ' होते हुए पुरी लौट आए।

श्री चैतन्य के दो वर्षो के दक्षिण भ्रमण के बाद पुरी लौटने पर भक्तगण अत्यन्त प्रसन्न हुए। ये समाचार 'नवद्वीप' भी पहुँचा। वहॉ से भी

लोग श्री चैतन्य से मिलने आए। कुछ दिनो बाद श्री रायरामानन्द श्री विद्यानगर का राज–काज छोडकर श्री चैतन्य के पास पुरी आकर रहने लगे।

श्री जगन्नाथ रथयात्रा' के समय नवद्वीप वासियो के साथ 'श्री अद्वैताचार्य' आदि वैष्णव भी पुरी आए। रथयात्रा के समय प्रभु चैतन्य गुण्डिचा मदिर धोने का कार्य स्वय करते। श्री चैतन्य का मत था कि "यदि कोई सौभाग्यवान श्री कृष्ण को अपने हृदय सिहासन पर बैठाने की इच्छा करता है तो सबसे पहले उसे अपने हृदय के मल को साफ करना आवश्यक है। बहुत दिनो से सचित नाना प्रकार के भोग–विलास और त्याग की अभिलाषा रूपी कूडे–कर्कट को झाड–बुहार कर, उसे फेककर श्री कृष्ण सुखानुसधान रूपी शीतल जल से हृदय को धोकर निर्मल, शान्त और भक्ति द्वारा उसे उज्जवल बनाने पर ही श्री जगन्नाथ देव यहॉ आकर आसन ग्रहण करते है।" रथयात्रा के समय भगवान जगन्नाथ की सवारी यही आकर लगभग एक सप्ताह ठहरकर वापस लौटती है।

रथयात्रा के बाद पुरी मे कुछ काल व्यतीत कर महाप्रभु ने वृन्दावन जाने की इच्छा से रामकेलि ग्राम आए। तत्कालीन मुसलमान शासक 'हुसैन शाह' के दो मन्त्री 'श्री सनातन' और श्रीरूप, जो क्रमश 'साकर मलिक' और 'दबीरखास' उपाधि रूप से प्रसिद्ध थे, भक्तिभाव से श्री चैतन्य का दर्शन करने आए। उनके साथ उनके छोटे भाई श्री अनुपम (कही–2 वल्लभ) और उनका पुत्र श्री जीव भी साथ मे थे। श्री चैतन्य ने तीनो भाइयो श्री सनातन, श्री रूप, श्री वल्लभ को अपनी शरण मे ले लिया। श्री जीव ही बाद मे श्री जीव गोस्वामी कहलाए जिन्होने गौडीय मत का भरपूर प्रचार किया। किन्तु भक्तो की अपार भीड साथ में रहने के कारण श्री चैतन्य आगे वृन्दावन तक नही जा पाए और पुरी लौट आए।

कुछ दिनो पुरी में रहकर पुनः एक रात्रि के समय श्री बलभद्र के साथ 'झारखण्ड के वन्यप्रदेश से होते हुए श्री चैतन्य वृन्दावन के लिए निकल पडे। मार्ग मे पडने वाले पशु, पक्षी, वृक्ष, लताऍ, पर्वतश्रृखलाऍ सभी को अपने

श्रीकृष्ण नाम सकीर्तन से प्रेमोन्मत्त करते हुए श्री चैतन्य बढते चले गए। वृन्दावन पहुच कर वहॉ सभी तीर्थ–वनो का दर्शन कर वे 'प्रयाग' आए। राह मे 'बिजली खॉ' नामक मुसलमाल शासक तथा उसके 'मौलाना' को श्री चैतन्य ने 'कुरान' के सिद्धान्तो के द्वारा भक्ति–तत्त्व के रहस्य का उपदेश देकर अपनी शरण मे ले लिया। ये मौलाना 'रामदास' कहलाए तथा 'बिजली खॉ' एव उसके अन्य साथी 'पठान–वैष्णव' के नाम से विख्यात हुए। बिजली खॉ को महाभागवत् की उपाधि भी मिली।

श्री सनातन और श्री रूप ने श्री चैतन्य का दर्शन करते ही राजकार्य का त्याग करके भगवत्कथा का संकल्प ले लिया था। 'प्रयाग' मे 'श्रीरूप' श्री वल्लभ के साथ आकर श्री चैतन्य से मिले। उस समय 'श्री सनातन' को गौड नरेश ने कैद कर रखा था।

अडैल ग्राम मे निवास कर रहे शुद्धाद्वैतवाद प्रवर्तक आचार्य वल्लभ भी श्री चैतन्य से मिलने आए। उन्हे श्रीमद्भागवत् मे वर्णित भगवान श्री कृष्ण की लीलाओं में अखण्ड आस्था थी। श्री वल्लभाचार्य भी कृष्ण भक्ति मे पुष्टिमार्ग का प्रचार कर रहे थे।

श्री महाप्रभु ने प्रयाग मे अपने निवास स्थान पर अत्यन्त भीड जान कर श्री रूप के साथ 'दशाश्वमेघ घाट' पर जाकर श्री रूप गोस्वामी मे ज्ञान–शक्ति का संचार कर उन्हे श्री 'कृष्णतत्त्व' की शिक्षा दी। जो 'श्री रूप शिक्षा' नाम से विख्यात है। ये शिक्षा 'भागवत्' का तत्त्वसार है फिर श्री चैतन्य श्रीरूप को वृन्दावन जाने की आज्ञा देकर स्वयं काशी चले गए।

काशी में श्री सनातन भी कैद–मुक्त होकर पहुँच गए। वहॉ वे शरीर के कष्टों को भोगते हुए मधुकरी भिक्षा के बल पर कृष्ण–भक्ति मे निमग्न हो जीवन यापन करने लगे। श्री चैतन्य महाप्रभु ने श्री सनातन को भी कृष्ण तत्त्व सार की शिक्षा दी। 'श्री रूप शिक्षा' एव श्री सनातन शिक्षा' श्री चैतन्य के 'अचिन्त्य भेदाभेदवाद' को प्रदर्शित करती है। श्री चैतन्य देव ने 'श्रीमद् भागवत् को वेदान्त का 'अकृत्रिम भाष्य' माना है।

श्री सनातन को वैष्णव स्मृति शास्त्र 'श्री हरिभक्ति विलास' की रचना करने का आदेश दिया तथा उसके विषयो को स्वय सूत्ररूप मे निर्देशित किया। तत्पश्चात् उन्हे भी श्री रूप तथा श्री वल्लभ के पास वृन्दावन भेज कर श्री चैतन्य पुरी लौट आए।

श्री चैतन्य ने परम अद्वैती श्री प्रकाशानन्द को मायावाद से हटाकर परम कृष्ण भक्त बनाया। श्री प्रकाशानन्द पर श्री चैतन्य का प्रभाव उनकी 'वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली' से स्पष्ट दीखता है जिसमे विवर्तवाद का खण्डन करके शक्ति परिणामवाद की स्थापना की गई है।

छ वर्षो तक समस्त भारत मे भ्रमण करते हुए श्री चैतन्य देव ने अचिन्त्यभक्ति, कृष्ण नाम संकीर्तन का प्रचार किया। इनकी अन्तिम भ्रमण यात्रा वृन्दावन थी। वहॉ श्री सनातन एव श्री रूप को नियुक्त करके पुरी लौट कर शेष 18 वर्ष उन्होने वही श्री जगन्नाथ धाम मे व्यतीत किये। महाप्रभु के निवास–स्थान को 'गभीरा' मन्दिर के नाम से जाना जाता है। श्री चैतन्य देव श्री राधाभाव मे निरन्तर विभावित होकर श्री कृष्ण प्रेम रस का आस्वादन किया करते थे। वे कभी–कभी श्री कृष्ण विरह मे रूदन एव प्रलाप करते। अन्तिम समय में महाप्रभु की श्री कृष्ण विरह वेदना चरमावस्था को पहुॅच गई। तब कभी वे दीवार से अपना मुह रगडते कभी भूमि पर गिर पडते। कभी भागने लगते। उस समय उनके निकट श्री गोविन्द, श्री स्वरूप दामोदर और श्रीराय रामानन्द रहते थे और श्री चैतन्य की सेवा किया करते थे। श्री चैतन्य श्रीराधिका भाव से कृष्ण–विरह मे अत्यन्त कातर होकर गान करते थे–

रामानन्देर कृष्णकथा, स्वरूपेर गान।
विरह–व्यथाय प्रभुर राखये प्राण।।

'हा–कृष्ण! हा–कृष्ण! कहकर महाप्रभु उठकर भागने लगते थे। मुर्छित हो जाने पर 'कृष्ण–कृष्ण–नाम सकीर्तन' ही उन्हें चेतना दिलाती थी। कृष्ण विरह की व्याकुलता तीव्र से तीव्रतर होती जा रही थी। स्वरचित 'शिक्षाष्टक'

के श्लोक, महाकवि जयदेव कृष्ण गीत–गोविन्द, चण्डीदास अथवा विद्यापति की पदावली, श्रीमद्भागवत् आदि के श्लोको का गान करते हुए श्री चैतन्य मे श्री राधिका भाव उत्तरोत्तर बढते जा रहे थे।

इसी समय श्री अद्वैताचार्य ने नवद्वीप से जगदानन्द पण्डित के द्वारा महाप्रभु को एक प्रहेलिका रूप पद भेजा। जिसका तात्पर्य था कि अवतीर्ण होने का उद्देश्य अब पूर्ण हो चुका है। इसके बाद श्री चैतन्य की विरह–दशा और भी गम्भीर हो गई। उनके अगों से दिव्य ज्योति प्रकट होने लगी।

कुछ कथाओ–मान्यताओं के अनुसार वे अकेले ही श्री जगन्नाथ जी के मंदिर की ओर दौड़े। भक्तो ने भी उनका अनुसरण किया। वे जगन्नाथ जी की मूर्ति के पास चले गए। फिर उनका आलिगन कर उसी मूर्ति में लीन हो गए।

इस प्रकार 48 वर्षो तक उन्होने कृष्ण–प्रेम–भक्ति का सकीर्तन रूप मे प्रचार किया और अपने सत्वरूप मे जाकर अवस्थित हो गए।

श्री चैतन्य देव के दार्शनिक विचार

श्री चैतन्य महाप्रभु ने यद्यपि अपने दार्शनिक विचारों के परिप्रेक्ष्य मे किसी प्रकार की कृति या रचना का प्रणयन नही किया है। तथापि उनका दार्शनिक सिद्धान्त 'अचिन्त्यभेदाभेद' के नाम से प्रसिद्ध है।

श्री चैतन्य महाप्रभु के अनुसार वेदान्त का मत है ब्रह्म, चिद्विलास, सविशेष, सच्चिदानन्दमय विग्रह रूप है।

"वेदान्त मते ब्रह्म सरकार निरूपण।
निर्गुण व्यतिरेके तेहो ह्य सगुण।।"[1]

---

[1] चै० च० भा० 25 परि० 53. श्लोक

श्रीमद् भक्ति विनोद ठाकुर 'अमृत प्रवाह भाष्य' मे इस पद का तात्पर्य करते है। वेदान्त मतानुसार ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप तथा साकार है। निर्विशेषवादी ब्रह्म को निर्गुण एवं विशेष स्थान मे भगवान को सगुण (त्रिगुणात्मक) कहकर प्रतिपादित करते है। वस्तुतः भगवान केवल निर्गुण या त्रिगुणातीत नही अपितु अनन्त चिर गुण राशि आघृत सगुण विग्रह हैं।

अचिन्त्यानन्त शक्तिशाली परतत्व के शक्ति समूह तथा शक्ति परिणत वस्तु समूह के साथ परतत्व का जो 'अचिन्त्य' युगपद् भेद और अभेद युक्त सम्बन्ध है, वही 'अचिन्त्यभेदाभेदवाद' है। भेद और अभेद की सह स्थिति है तथा दोनो ही समान रूप से सत्य और नित्य है। यद्यपि यह जीव की अणु शक्ति एवं युक्ति द्वारा गम्य नहीं है, तथापि 'शास्त्रोपदिष्ट' होने से मान्य है। अप्राकृत विषयो मे 'शास्त्र' ही एकमात्र प्रमाण है। उपनिषद, ब्रह्मसूत्र, एव उसके अकृत्रिम भाष्य श्रीमद् भागवत्[1], श्रीमद्भगवत् गीता एवं विष्णु पुराणादि शब्द प्रमाण है। इस सभी शास्त्रो मे यह अचिन्त्यभेदाभेदवाद सर्वत्र सिद्धान्त रूप से मान्य है।

श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपने उपदेशों एव शिक्षाओ मे सर्वत्र 'अचिन्त्यभेदाभेदवाद' को प्रकट किया है। चूंकि श्री महाप्रभु ने कोई विशिष्ट कृति का प्रणयन नही किया है, तथापि अपनी शिक्षाएँ एव सिद्धान्त स्थापना का कार्य वे दूसरों को उपदेश देते हुए करते हैं। अतएव उनके सिद्धान्तों को हम अलग–अलग भागों मे बंटा हुआ पाते हैं।

---

[1] श्री चैतन्य ने श्रीमद् भागवत् को ब्रह्मसूत्र का अकृत्रिम भाष्य कहा है।

मुख्य रूप से निम्न घटनाओ मे श्री चैतन्य का दर्शन परिलक्षित होता है। श्री नीलाचल मे सार्वभौम भट्टाचार्य से शाकर भाष्य श्रवणोपरान्त मायावाद का खण्डन। श्री काशी मे केवलाद्वैती श्री प्रकाशानन्द सरस्वती के मतवाद का खण्डन। श्री राय रामानन्द जी के साथ साध्य–साधन निर्णय। श्री सनातन गोस्वामी को लोक शिक्षा तथा ग्रन्थ प्रणयन के लिए तत्पर करना। श्रीरूप शिक्षा। इसके अतिरिक्त श्री महाप्रभु चैतन्य की समस्त जीवन लीला की अनेक छोटी बडी घटनाए, एव उनका आचरण ही शिक्षाप्रद है।

जीव गोस्वामी (16 वी शती) एवं उनके बहुत पश्चात् 'बलेदव' ने चैतन्य के मत को दार्शनिक रूप किया । इस समुदाय के दार्शनिक ग्रन्थो मे जीव गोस्वामी कृत 'सत्संदर्भ' स्वय उनका भाष्य 'सर्वसंवादिनी' तथा ब्रह्मसूत्र पर बलदेवकृत 'गोविन्द भाष्य' है। बलदेव का 'प्रमेय रत्नावली' भी एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

द्वितीय अध्याय

केवलाद्वैत सम्प्रदाय

भारतीय दर्शन शास्त्र मे ज्ञान–मीमासा का जन्म तत्त्व–मीमासा के परिपेक्ष्य मे हुआ है। परमसत्ता के स्वरूप के महत्वपूर्ण प्रश्न के साथ ही जुडा है, उसकी ज्ञेयता का प्रश्न। ज्ञानमीमांसीय समस्याएँ अनुभव एवं बुद्धि के स्वरूप का अनुशीलन करने से उत्पन्न होती है। अतएव ज्ञान मीमासा का मुख्य व्यापार ज्ञान के स्वरूप एव प्रामाणिकता का विवेचन करना है। समस्त जागतिक कार्य–व्यापार का मूल 'ज्ञान' ही है, तथा वही 'ज्ञेय' का प्रकाशक है। ज्ञाता एव ज्ञेय के बिना ज्ञान की कल्पना भी शक्य नही।

अद्वैत वेदान्त में जागतिक व्यापार का आधार मिथ्या–अध्यारोपण माना जाता है, क्योकि वह एकमात्र 'ब्रह्म' की ही सत्ता मानता है। वह परमसत्ता ही ज्ञान है, तथा ज्ञान ही सत्ता है। इन दोनो मे परस्पर कोई भेद नहीं।[1] किन्तु व्यावहारिक सत्ता मे ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय का व्यवहार होता है। ये समस्त (व्यावहारिक) ज्ञान प्रमाण जन्य होते है।[2]

शांकर वेदान्त के ज्ञान मीमांसा के विषय में यह शंका की जाती है कि आचार्य शकर ने इसकी कोई व्यवस्थित विवेचना नही की है। पॉल डॉयसन के मतानुसार 'शकराचार्य के दर्शन मे प्रमाणों के विषय मे विचार ही नहीं किया गया है'।[3] एस0 के0 बेलबेलकर का भी मानना है कि शंकराचार्य ने अद्वैत विरोधियो के तार्किक विरोधो के उत्तर मे श्रुति प्रमाण का ही सहारा लिया है।[4] किन्तु यदि इन पूर्व मान्यताओ को त्यागकर हम शाकर–वेदान्त का अध्ययन करें तो पाएंगे कि आचार्य शकर ने ज्ञान मीमासा के महत्वपूर्ण प्रश्नों का सुदृढ विवेचन किया है। यद्यपि आचार्य ने कही भी स्वतन्त्र विषय के रूप मे प्रमाणो का विचार नहीं किया, तथापि सम्पूर्ण ज्ञान सिद्धान्त उनके मूल ग्रन्थो एवं भाष्यों में यत्र–तत्र बिखरे मिलते है। उनके

---

[1]सत्तैव बोधो बोधएव च सत्ता, नानयो परस्परव्यावृत्ति। (ब्र0 सू0 शा0 भा0 3/2/21)
[2]ज्ञान तु प्रमाण जन्यम्– – – – – – – – – – – – –। (ब्र0 सू0 शा0 मा0 3/2/27)
[3] Pual; Deussen - System of Vedanta - P.80
[4] Belvelkar S. K.

द्वारा स्वतन्त्र रूप से प्रमाणो का वर्णन न करने के दो प्रमुख कारण माने जा सकते हैं। प्रथमत आचार्य शकर ने जिन मूल ग्रन्थो पर भाष्य लिखा, उनमे स्वतन्त्र रूप मे प्रमाणो का विवेचन नही किया गया है, द्वितीय, कि आचार्य कुछ सीमा तक अन्य भारतीय दार्शनिक निकायो यथा साख्य, न्याय आदि की प्रमाण मीमासा से प्रभावित रहे होगे।

अध्यास भाष्य मे एक स्थान पर आचार्य शकर कहते है कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण एव समस्त शास्त्र अविद्यावान, जीव मे ही आश्रित हैं।[1] तात्पर्य है कि प्रमाणो का क्षेत्र अविद्यात्मक जगत् अथवा व्यावहारिक सत्ता है। समस्त शास्त्र तथा अन्य सभी प्रमाणो की उपयोगिता इसमे है कि वे अविद्या का निराकरण करे। वे भावात्मक रूप से आत्मा का ज्ञान नहीं करा सकते। कोई भी प्रमाण 'इदन्तया' इस रूप मे आत्मा का सकेत कराने मे अशक्य होता है। वस्तुत आत्मज्ञान, आत्मा का स्वरूप लाभ है, जो अविद्यात्मक अध्यास को निराकृत करने पर स्वतः सम्पन्न होता है अत आचार्य शकर का मानना है कि प्रमाण अविद्या के क्षेत्र मे ही कार्य करते है।[2] जब तक आत्मभाव का शरीर मे अध्यास नही मानेगे, तब तक कोई भी शरीर–व्यापार सम्पन्न नही होगा। क्योकि आत्मा असग है।[3] अत. आध्यासिक सम्बन्ध बिना लोक व्यापार असिद्ध है क्योंकि इन्द्रिय व्यापार द्वारा ही प्रत्यक्षादि प्रमाण संभव होते है।[4] इन्द्रियो का अधिष्ठान शरीर है अतएव 'अहकर्त्ता, अहंभोक्ता' इत्यादि व्यवहार आत्मा मे तभी सिद्ध है, जब व्यापार विशिष्ट अन्त. करण का आत्मा मे स्वरूपाध्यास एवं आत्मा का अन्तःकरण में संसर्गाध्यास हो। इन सब अध्यासो के न होने पर अग आत्मा में प्रमातृत्व उत्पन्न नही होता,

---

[1] तस्मादविद्यावद्विषयाण्यैव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणनि शास्त्राणि च। अध्यास भाष्य शा0म पृ0 14

[2] अविद्या ख्यामात्मानात्मनोरितेराध्यास पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेय व्यवहारा लैकिक वैदिकारच प्रवृत्ता –अध्यास भाष्य, पृ0 13,

[3] 'असगो हय पुरूष' –पृ0 50 4/3/15

[4] देहेन्द्रियादिष्वह ममाभिमान रहितस्य प्रमातृत्वानुपपतौ प्रमाणप्रवृत्त्यनुपपत्ते – अध्यास भाष्य , पृ0 13

प्रमाता के बिना प्रमाण की प्रवृत्ति नही होती। अत परस्पर अध्यास मानने पर ही प्रमाता प्रमाण प्रभृतिव्यवहार सम्पन्न होते हैं"।

इस प्रकार आचार्य शकर का मत है कि समस्त प्रमाण (शास्त्र भी) अविद्या विषयक है।[1] किन्तु इस प्रकार से आचार्य के मानने पर एक बार तो वह प्रतीत होता है कि उनका ब्रहमात्मैक्यमत व्यर्थ हो जाएगा, क्योकि समस्त प्रमाण असत् की तरफ ले जाते हैं।[2] परन्तु आचार्य के सिद्धान्तो के उत्तरोत्तर अध्ययन से स्पष्ट होता है कि आचार्य शकर का प्रमाणो के प्रति दृष्टिकोण अधिक भावात्मक एव निश्चयात्मक है। "जन्माद्यस्य 'यतः"[3] सूत्र की व्याख्या मे वे कहते हैं कि धर्म जिज्ञासा की भाति ब्रह्म जिज्ञासा मे केवल श्रुति ही प्रमाण नही, अपितु श्रुति एवं अनुभव यथासम्भव प्रमाण हैं।[4] आचार्य के मतानुसार ज्ञान प्रमाणों से ही उत्पन्न होता है।"[5]

इस प्रकार आचार्य शकर का प्रमाणो के प्रति स्वीकारात्मक विचार है। उनके मतानुसार ज्ञान के साधन स्वरूप प्रमाण भावात्मक रूप में आत्मा अथवा ब्रह्म का ज्ञान नही करा सकते। सिद्ध वस्तु स्वरूप होने पर भी ब्रह्म प्रत्यक्षादि प्रमाणो का विषय नही है।[6] अत प्रमाणो का कार्य मात्र ज्ञान प्राप्ति के मार्ग मे उपस्थित बाधाओ को दूर करना है, जो अविद्या जन्य है। इस अविद्या जन्य अध्यास के समाप्त होते ही यह ब्रह्म स्वरूप ज्ञान स्वत. सम्पन्न हो जाता है। प्रमाणो मे प्रमाता एव प्रमेय का भेद होने से ब्रह्म ज्ञान प्राप्ति

---

[1] तस्मादविद्याविषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च – अध्यास भाष्य , पृ0 14

[2] आचार्य शकर का सक्षिप्त मत है – 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः, अत जगत् के मिथ्यात्व से तो समस्त व्यावहारिक प्रमाण, शास्त्रादि भी मिथ्या ही होगे।

[3] ब्रह्मसूत्र 1/1/2 ।

[4] न धर्म जिज्ञासायामिव श्रुत्यादय एव प्रमाण ब्रह्मजिज्ञासायाम् किन्तु श्रुत्यादयोSनुभवादयश्चं यथासभवमिह प्रमाणम् – ब्र0सू0शा0भा0 1/1/2 ।

[5] 'ज्ञान तु प्रमाण जन्यम् – 1/1/2 ।

1(क) अविधा कल्पित भेद निवृति परत्तवाच्छास्त्रस्य – ब्रह्मसू॰ शा॰ भा॰ 1/1/4– पृष्ठ 63

(ख) मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रहमात्मैकत्व विज्ञानाद् भवति – वही, पृष्ठ 61

(ग) निःशेष ससार बीजाविद्याद्यनर्थ निवर्हनात् – वही, 1/1/1– पृष्ठ 29

सभव नही होती, क्योंकि यह ज्ञान समस्त भेदो से परे निरपेक्ष है। जैसे सर्प के अध्यास के निवृत्त होते ही रज्जु विषयक ज्ञान स्वत हो जाता है, उसी भाति अविद्या निवृत्ति ज्ञान स्वत सम्पन्न होता है। निर्विशेष एवं सविशेष प्रकारक ज्ञान किसी सद्वस्तु को उत्पन्न अथवा निराकृत नही करता, अपितु मात्र अविद्या निवृत्ति ही उसका कार्य है। निर्विशेष ज्ञान सम्पूर्ण अविद्या का निवर्तक है, किन्तु सविशेष ज्ञान ऐसा नही करता।

अतएव समस्त प्रमाणो से पारमार्थिक सत्ता का ज्ञान तो असम्भव है। आचार्य शकर ने पारमार्थिक दृष्टि से प्रमाणो द्वारा प्राप्त ज्ञान को असत् कहा है, किन्तु वे पारमार्थिक ज्ञान पर्यन्त व्यावहारिक जगत् मे प्रमाणो के महत्व को अस्वीकार नही करते हैं ।

ज्ञान का स्वरुप

अद्वैत वेदान्त मे 'ज्ञान' से तात्पर्य न केवल अन्त करण की वृत्ति है, और न ही केवल साक्षी, वरन् साक्षी से प्रेरित वृत्ति माना गया है। जीव के दो घटको – अन्त.करण एव साक्षी मे अन्त.करण भौतिक है जो पॉच तत्वो से मिलकर बना है। तैजस अन्त करण चक्षु, श्रोत्रादि इन्द्रियो के द्वारा शरीर से बाहर निकलकर घटादि विषय तक जाता है एव घटादि विषयो के आकार मे परिणत हो जाता है। यह परिणाम ही 'वृत्ति' कहलाता है। यहाँ 'वृत्ति' का तात्पर्य है 'तत्त्वज्ञान' का आपतित अश तथा साक्षी तत्त्वज्ञान का शाश्वत रूप हैं। साक्षी चेतन तत्त्व है, जो अन्त करण से भिन्न होते हुए भी उसे प्रकाशित करने मे मदद देता है। साक्षी एव अन्तकरण दोनो सापेक्षिक माने गए है। निष्क्रिय साक्षी तथा सक्रिय अन्त.करण दोनो के योग को ही 'जीव' कहते है।

साक्षी को स्वयं विषयक ज्ञान होने पर उसे 'साक्षी –ज्ञान' कहते है। परन्तु जब साक्षी को वृत्तियों के माध्यम से वाह्य विषयो का ज्ञान प्राप्त होता है, तब वह 'वृत्ति ज्ञान' कहलाता है। साक्षी ज्ञान 'विषयी' का ज्ञान है, परन्तु 'वृत्ति ज्ञान' विषय का ज्ञान है। शकराचार्य के अनुसार ज्ञान का तात्पर्य शुद्ध चैतन्य है, और इस प्रकार ब्रह्म से इसका तादात्म्य है। आचार्य शकर ज्ञान

को स्वय प्रकाश मानते हैं। उनका मत है कि 'ज्ञान' के विषय मे कभी भी हमारे मन में जिज्ञासा उत्पन्न नही होती । यदि ज्ञेय वस्तुओ की भॉति ज्ञान भी अज्ञात होता तो उसके विषय मे भी हमे जिज्ञासा अवश्य होती। ज्ञान एव ज्ञेय के अतिरिक्त किसी अन्य तृतीय ज्ञान को मानने की आवश्यकता नही होती।

अद्वैत वेदान्त अनुसार प्रत्येक ज्ञान का कोई न कोई स्वतन्त्र विषय अवश्य होता है। ज्ञान के विषय केवल सस्कार नही है। यदि इन्हे संस्कार मात्र माना जाए तो यथार्थ और अयथार्थ ज्ञान का भेद ही समाप्त हो जाएगा। अत. अद्वैत वेदान्त मे ज्ञान की प्रत्येक अवस्था में वाह्य विषय के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है।

आचार्य शंकर अनुसार हमारा प्रत्येक ज्ञान एक बाह्य विषय और विषयी की ओर सकेत करता है। ऐसा कोई ज्ञान नहीं हो सकता जो 'विषय' और 'विषयी' इन दोनो की ओर संकेत न करे। प्रत्येक ज्ञान के ये दोनो निहितार्थ हैं। 'बन्ध्या पुत्र' की भॉति ज्ञान के विषय न रहने पर ज्ञान ही सभव नही होगा।

परन्तु प्रश्न यह है कि यदि प्रत्येक ज्ञान किसी विषय का ही सकेतक हो तो भ्रमोत्पत्ति कैसे संभव होगी ? अद्वैत वेदान्त में 'अर्थापत्ति' प्रमाण द्वारा इसके समाधान का प्रयास किया जाता है। यथा यदि देवदत्त दिन मे भोजन न करने पर भी मोटा एव स्वस्थ रहता है तो वह रात को भोजन अवश्य करता होगा। यही तर्क ज्ञान के विषय में भी दिया जाता है। जिस प्रकार यथार्थ ज्ञान का एक बाह्य विषय होता है, उसी प्रकार अयथार्थ ज्ञान (भ्रम) का भी एक स्वतन्त्र बाह्य विषय होता है। बिना बाह्य विषय के किसी ज्ञान की उत्पत्ति अकल्पनीय हैं।[1]

---

[1] न हि मृगतृष्णकादय अपि निरास्पद भवन्ति। –गी॰ भा॰ 8/14

को स्वय प्रकाश मानते हैं। उनका मत है कि 'ज्ञान' के विषय मे कभी भी हमारे मन मे जिज्ञासा उत्पन्न नही होती । यदि ज्ञेय वस्तुओ की भॉति ज्ञान भी अज्ञात होता तो उसके विषय मे भी हमे जिज्ञासा अवश्य होती। ज्ञान एव ज्ञेय के अतिरिक्त किसी अन्य तृतीय ज्ञान को मानने की आवश्यकता नही होती।

अद्वैत वेदान्त अनुसार प्रत्येक ज्ञान का कोई न कोई स्वतन्त्र विषय अवश्य होता है। ज्ञान के विषय केवल संस्कार नहीं है। यदि इन्हे सस्कार मात्र माना जाए तो यथार्थ और अयथार्थ ज्ञान का भेद ही समाप्त हो जाएगा। अत. अद्वैत वेदान्त में ज्ञान की प्रत्येक अवस्था मे वाह्य विषय के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है।

आचार्य शकर अनुसार हमारा प्रत्येक ज्ञान एक बाह्य विषय और विषयी की ओर संकेत करता है। ऐसा कोई ज्ञान नहीं हो सकता जो 'विषय' और 'विषयी' इन दोनो की ओर संकेत न करे। प्रत्येक ज्ञान के ये दोनो निहितार्थ है। 'बन्ध्या पुत्र' की भाँति ज्ञान के विषय न रहने पर ज्ञान ही संभव नही होगा।

परन्तु प्रश्न यह है कि यदि प्रत्येक ज्ञान किसी विषय का ही सकेतक हो तो भ्रमोत्पत्ति कैसे सभव होगी ? अद्वैत वेदान्त में 'अर्थापत्ति' प्रमाण द्वारा इसके समाधान का प्रयास किया जाता है। यथा यदि देवदत्त दिन मे भोजन न करने पर भी मोटा एव स्वस्थ रहता है तो वह रात को भोजन अवश्य करता होगा। यही तर्क ज्ञान के विषय में भी दिया जाता है। जिस प्रकार यथार्थ ज्ञान का एक बाह्य विषय होता है, उसी प्रकार अयथार्थ ज्ञान (भ्रम) का भी एक स्वतन्त्र बाह्य विषय होता है। बिना बाह्य विषय के किसी ज्ञान की उत्पत्ति अकल्पनीय है।[1]

---

[1] न हि मृगतृष्णकादय अपि निरास्पद भवन्ति। –गी॰ भा॰ 8/14

इनमे अयथार्थ एव यथार्थ ज्ञान का अन्तर बाह्य विषयो के होने और न होने के आधार पर नही किया जा सकता बल्कि दोनो मे ही बाह्यार्थों के प्रकार का भेद होता है। यथार्थ अथवा व्यावहारिक ज्ञान का विषय सार्वजनिक होता है, यथा वास्तविक सर्प इत्यदि। तथा अयथार्थ ज्ञान अथवा भ्रम का विषय वैयक्तिक होता है, यथा रज्जु में सर्प का प्रत्यक्ष। सामूहिक अनुभव अयथार्थ अस्तित्व की पुष्टि नही करता। अयथार्थ ज्ञान की सत्ता प्रतिभासिक होती है।

शकराचार्य 'ज्ञान' को क्रिया नही, अपितु वस्तुतन्त्र मानते है। इसका कार्य वस्तु के स्वरूप का प्रकाशन है। क्रिया एवं ज्ञान तो एक दूसरे के एकदम विरोधी है। समस्त कर्म कर्त्ता के अधीन होते है। कर्त्ता पुरूष उन कर्मों को करने अथवा अन्यथा रूप से करने मे पूर्णतः स्वतन्त्र होता है। किन्तु 'ज्ञान' पुरूष बुद्धि की अपेक्षा नहीं करता है, क्योकि वस्तु का ज्ञान स्वयं वस्तु के ही अधीन है।[1] किसी भी विकल्प का इसमे स्थान नही रहता। ज्ञान प्रमाणो द्वारा उत्पन्न होता है अत वस्तु के अधीन ही होता है। यद्यपि 'ज्ञान' एव 'ध्यान' ये दोनो मानसिक क्रियाएँ मानी जाती है, किन्तु मात्र 'ध्यान' क्रिया है क्योकि वह पुरूषाधीन है, जबकि ज्ञान वस्तुतन्त्र होने से क्रिया नही है।

नैयायिक 'ज्ञान' को आत्मा का 'गुण' मानते है, अन्य गुणों की भॉति इसकी भी उत्पत्ति एव विनाश होता है। किन्तु आचार्य शकर के अनुसार ज्ञान को गुण की कोटि मे रखना अन्तर्विरोधी है। गुण की सत्ता द्रव्याधीन होती है। द्रव्य के भाव मे ही गुण का भाव एव द्रव्याभाव मे गुणाभाव होता हैं। द्रव्य ही सस्थान भेद मे अनेक गुणो के रूप में दिखाई देता है। यदि 'ज्ञान' को आत्मा का विनाशी गुण माने, जैसा कि नैयायिक मानते है, तो

[1] ज्ञान कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा वा कर्तुमशक्य, केवलवस्तुतत्रमेवत् न चोदनान्तनाऽपि पुरूषतत्रा —शा भा॰ 1/1/4

आत्मा की नित्यता समाप्त हो जायगी। क्योकि ऐसा गुण जो द्रव्य से कभी उत्पन्न नही होता, कभी होता है, जिस द्रव्य से सयुक्त होता है, उसे रुपान्तरित किए बिना नही रहता। आत्मा अगरहित अथवा भेद रहित है। उसमें परिवर्तन नही होता है और जो नित्य है, उसमे विनाशी गुण नही हो सकते अत. ज्ञान को नैयायियो के परिभाषित गुण मे नही रखा जा सकता। गुण की द्रव्य से अलग प्रतीति होती है।[1] शंकराचार्य नैयायिको के ज्ञान सिद्धान्त को शीघ्रता से लिया गया निर्णय एवं शिथिल आनुभविक विचारो के आधार् पर लिया गया निर्णय मानते है।

अन्तःकरण

अद्वैत वेदान्त में यदि 'ज्ञान क्रिया नही है' तो "मैनें ज्ञान प्राप्त किया" अथवा" अमुक वस्तु का ज्ञान उत्पन्न हुआ" ये व्यंजनाएँ किस प्रकार मानी जाएंगी ? अतएव ज्ञान में परिवर्तन एव ज्ञान की परोक्षता की समस्या के समाधान हेतु अद्वैत दर्शन 'वृत्ति' की कल्पना करता है। 'वृत्ति' अन्तकरण का विकार है। अन्तकरण ही मन, बुद्धि, चित, अहकार, विज्ञान आदि रुपो मे जाना जाता है। अतकरण भौतिक है तथा त्रिगुणात्मक होते हुए भी सत्त्व गुण प्राधान है। यही अन्तःकरण चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा शरीर से निकलकर बाह्य विषयों घट–पटादि तक जाता है और विषयाकाराकारित हो जाता है। यही आकाराकारिक परिणाम "वृत्ति" है। इन्ही वृत्तियों को उपचारवश "ज्ञान" कहते है।[2]

'साक्षी' तो अनादि, अनन्त एव असग़ है। ज्ञान का इस शुद्ध चैतन्य से तादात्म्य होने से ज्ञान भी अनादि ही है।

अन्त· करण को अस्वीकार नही किया जा सकता है, क्योकि अस्वीकृत करने से विषयो की उपलब्धि में कठिनाई आएगी। मन (अन्त करण) की

---

[1] तस्माद्द्रव्यात्मकता गुणस्य– ब्र0 सू0 शा0 भा0 2/2/17

[2] चैतन्यास्यादित्वेऽपि तदभिव्यंजकान्त करणवृत्तिरिन्द्रिय सन्निकर्षादिना जायेते इति वृति विशिष्ट चैतन्यमादियदित्युच्यते। ज्ञानावच्छेदकल्पाच्च वृत्तौ ज्ञानत्वोपचार. । – वेदान्त परिभाषा, प्रत्यक्ष परिच्छेद 18, पृव 13

सक्रियता एव निष्क्रियता ही विषयो की उपलब्धि एव अनुपलब्धि का कारण बनती है। मन की उपस्थिति ही इन्द्रिय एव विषय दोनो के उपस्थित होते हुए भी उनका ज्ञान कराने मे सक्षम है। श्रुति वाक्य भी मन को ही द्रव्य एव श्रोता मानते हैं।[1] आत्मा का बाह्य जगत् से सन्निकर्ष होने में अन्त करण ही साधन बनता है। अन्तःकरण की वृत्तियाँ ही आत्मा को विषय से सम्बद्ध करती है।

यहॉ एक शंका उपस्थित होती है कि यदि अन्त करण का सम्बन्ध द्वारा ही ज्ञानोत्पत्ति होती है तो ब्रह्म ज्ञान हमे सदैव होते रहना चाहिए, क्योंकि ब्रह्म ही सभी विषयों तथा अन्त करण का भी उपादान कारण है। परन्तु अद्वैत वेदान्तानुसार यह शका उचित नहीं है, क्योकि 'ज्ञान'[2] के लिए मात्र अन्त करण ही नही , अपितु उसकी वृत्तियॉ आवश्यक है, जो अन्त करण के विकार हैं'। अन्त.करण की वृत्ति ही विषयाकाराकारित होती है, एव कोई भी वृत्ति ब्रह्मकाराकारित नहीं होने से जीव को ब्रह्म–ज्ञान निरन्तर नही रहता।

साक्षी ज्ञान एंव वृत्ति ज्ञान

वेदान्त दर्शन मे ज्ञान का मुख्य अर्थ 'साक्षी ज्ञान' लिया जाता है, जो आत्मा का स्वरूप है। ज्ञान की परोक्षता तथा परिवर्तनशीलता की समस्या के समाधान हेतु ही आचार्य शकर ने 'साक्षी ज्ञान' तथा 'वृत्ति–ज्ञान' मे भेद किया है। वस्तुत· अपरिवर्तनशील आत्मा वृत्ति–परिवर्तन के कारण ही अज्ञान वश स्वय को परिवर्तनशील समझता है। साक्षी ज्ञान अपरिवर्तनीय एव शाश्वत है, किन्तु वृत्ति ज्ञान उत्पन्न एव तिरोहित होता रहता है। प्रत्यक्षादि प्रमाणो द्वारा उत्पन्न एवं तिरोभूत होने वाला ज्ञान 'वृत्ति ज्ञान' ही है। साक्षी ज्ञान तो वृत्ति ज्ञान की प्रागपेक्षा है। स्वय सिद्ध, स्वय प्रकाश एव अपरोक्ष

---

[1] मनसा एव पश्यति मनसा श्रृणोति । अन्यमना भूतं नादर्शमन्यगमना अभूत्वा श्रोणम–वृहदारण्यकोपनिषद 1/ 5/3

[2] व्यावहारिक ज्ञान।

साक्षी ज्ञान 'बोध' भी कहलाता है। इसकी उपस्थिति सुषुप्तावस्था मे भी रहती है, जबकि वृत्ति ज्ञान की उपलब्धता सुषुप्ति में नही होती, क्योकि यह वृत्ति ज्ञान ज्ञाता एव ज्ञेय के सम्बन्धपूर्वक उत्पन्न होता है।[1] सुषुप्तावस्थाा में अन्त करण एव अहकार दोनो ही अज्ञान में समाविष्ट हो जाते है। उस स्थिति मे मात्र आत्मा तथा अज्ञान विद्यमान रहते है। जागने पर पुन. अन्त करण की वृत्ति के रूप मे अहकार उत्पन्न हो जाता है एव हमे ऐसा ज्ञान होता है "मै गहरी नीद सोया"। इस प्रकार आत्मा अथवा चैतन्य अथवा साक्षी ज्ञान तीनो अवस्थाओं (जाग्रत,स्वप्न,सुषुप्ति) मैं विद्यमान रहता है, जबकि वृत्ति ज्ञान सुषुप्तावस्था में तिरोभूत हो जाता है। इस प्रकार साक्षी ज्ञान के अनस्तित्व की कल्पना ही असभव है।

शकराचार्य साधारण लौकिक ज्ञान को 'ज्ञान' न मानकर 'कर्म' ही मानते है', जिसमे कि 'विदि' क्रिया है। ज्ञान एवं कर्म में आत्यन्तिक विरोध है, अंधकार एव प्रकाश की भाँति। किन्तु आचार्य के अनुसार 'ज्ञान' का तात्पर्य है 'तात्विक ज्ञान' अथवा 'अपरोक्षानुभूति' तथा 'कर्म' का अर्थ है काम्य एव निषिद्ध कर्म। साधारण ज्ञान एवं कर्म दोनों कर्म हैं, उनमे कोई विरोध नही। वास्तविक विरोध तो अपरोक्षानुभूति रूप ज्ञान तथा काम्य एवं निषिद्ध कर्मो के बीच है। इसी कारण 'धर्मज्ञान' का फल अभ्युदय कहा गया है, एव उसके लिए अनुष्ठान की प्राग्पेक्षा है। परन्तु बह्म ज्ञान का फल निःश्रेयस की प्राप्ति है, तथा ये किसी अनुष्ठान की अपेक्षा नही रखता।[2] इसी प्रकार इनके विषयो मे भी भेद है। धर्म जिज्ञासा का विषय भव्य होता है तथा ज्ञान के अभ्युदय काल मे उसका अस्तित्व नही होता, क्योंकि वह पुरूष तन्त्र होता

---

[1] अविपरिलुप्तया नित्यता दृष्ट्या स्वरूपभूतया स्वय ज्योति समारन्यथा वतरामनित्या दृष्टिं स्वय बुद्धान्तर्यो वासनाप्रत्ययरूपा नित्यमेव पश्चन् दृष्टेर्द्रष्टा भवति– वृ0 उ0 शा0 भा0 1/4//10

[2] अभ्युदय फल धर्मज्ञान तच्चानुष्ठानापेक्षम् । नि श्रेयसफल तु ब्रह्मविज्ञान न चानुष्ठानान्तरापेक्षम् । ब्र0 सूत्र शा0 भा0 1/1/1 ।

है।[1] परन्तु ब्रह्म जिज्ञासा का विषय नित्य होता है अतएव, उसे पुरूष व्यापार की कोई आवश्यकता नही होती।[2]

वैदिक कर्मो के करने मे कई विकल्प हो सकते है, किन्तु वस्तु का यथार्थ ज्ञान पुरूषतन्त्र न होकर वस्तुतन्त्र ही होता है। इसमे बुद्धि विकल्प कुछ नही कर सकते।[3] यथार्थ ज्ञान प्रमाणो द्वारा उत्पन्न होता है और वह वस्तु स्वभाववश होता है।[4] ज्ञान कोई मानसिक क्रिया नही है, अपितु वस्तु जगत् पर आश्रित है।

अनुभव, तर्क एंव श्रुति

शंकराचार्य अपने दर्शन मे अनुभव, तर्क एवं श्रुति सभी को स्थान देते है। उनका सम्पूर्ण दर्शन जीवन के अनुभवों पर आश्रित है। शारीरक भाष्य के 'अध्यास' के विवेचन मे आचार्य लोकानुभव का संकेत करते हैं। शुक्तिका–रजत् अथवा द्विचन्द्र दर्शन प्रभृति उदाहरण लौकिक जीवन से ही लिए गए हैं।[5] आचार्य शंकर स्पष्ट रूप से कहते है कि दृष्ट के आधार पर ही अदृष्ट की व्याख्या की जा सकती है।[6] दृष्टवस्तु कभी भी श्रुति अनुपपन्न नहीं होती[7] इस प्रकार आचार्य शंकराचार्य अनुभूतियो को कभी अनदेखा नही करते।

-किन्तु यह शका उपस्थित होती है क्या अद्वैत वेदान्त में 'अनुभव' का तात्पर्य लौकिक प्रत्यक्ष से है अथवा अलौकिक प्रत्यक्ष भी उसमें सम्मिलित हैं?

---

[1] भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यो न ज्ञानकालेऽस्ति पुरूषव्यापार तन्त्रत्वात्–शा० भा० 1/1/1।

[2] इह तु भूत ब्रह्मजिज्ञास्य नित्यत्वात् न पुरूषव्यापारतन्त्र –वही।

[3] कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं वा शक्य लौकिक वैदिक च कर्म . . ब्रह्म ज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेव भूतवस्तु विषयत्वात्–शा०भा० 1/1/2 ।

[4] ज्ञान तु प्रमाणजन्य यथाभूत विषय चन तत् नियोगशतेनापि कारयितु– शां० भा० 3/2/2 ।

[5] उपोद्घात, तथा च लोकेनुभव' शुक्तिका हि रजतवदवभासते एकश्चन्द्र सद्वितीयवदिति–शा० भा० ।

[6] दृष्टाच्चादृष्टसिद्धि – शा भा० ।

[7] न तु पुन पदार्था वाक्यशतेनापि देशान्तरे कालान्तरे वा स्व स्व स्वभाव जहति – केनो० वाक्य भाष्य।

एव क्या दोनो मे किसी प्रकार का विरोध है? इसका उत्तर आचार्य शकर देते हैं कि लौकिक प्रत्यक्ष एव अलौकिक प्रत्यक्ष के बीच कोई विरोध नही हो सकता क्योकि दोनो के क्षेत्र भिन्न–भिन्न है। किसी भी प्रमाण द्वारा पदार्थों के स्वभाव को भिन्न–भिन्न स्थानों अथवा कालो में बदला नही जा सकता। प्रत्येक प्रमाण उसी क्षेत्र की वस्तु का प्रकाशन करने में सक्षम है जिन्हें अन्य प्रमाण प्रमाणित नही करते। अत इनमें विरोध संभावित नही। व्यावहारिक जगत के लिए लौकिक प्रत्यक्ष का प्राधान्य है, तो पारमार्थिक जगत् के लिए श्रुति प्रमाण का।

अपरोक्षानुभूति

ब्रह्म का प्रत्यक्ष न अनुमान द्वारा एव न ही तर्क द्वारा हो सकता है, अपितु ब्रह्म को जानने का एकमात्र आधार श्रुति प्रमाण है।[1] क्योकि अनुभव एवं तर्क पर आधारित ज्ञान परस्पर विरोधी एव अनिश्चित होते है। आचार्य शकर के मतानुसार 'अपरोक्षानुभूति' ही ब्रह्म साक्षात्कार का सर्वश्रेष्ठ साधन है। ब्रह्म ज्ञाता है, ज्ञेय नही। अतएव उसका ज्ञान किसी प्रमाण द्वारा नही हो सकता है। अनुभूति के अतिरिक्त समस्त प्रमाण अनुभव की प्राप्ति के साधन–मात्र है। उनका कार्य अविधा कल्पित भेदो की निवृत्ति मात्र है।[2] अन्य प्रमाणो की अपेक्षा श्रुति द्वारा अनुभव के अधिक निकट आया जा सकता है। शकराचार्य भी आखिरकार यही कहते है कि समस्त ज्ञानो का लक्ष्य अनुभव ही है।[3] प्रत्यक्ष अनुमान एव श्रुति इत्यादि प्रमाण आत्मा को अनात्म वस्तुओ से पृथक करते है। अनादि, अनन्त नैसर्गिक अध्यास की निवृत्ति ही इन

---

[1] न प्रतिष्ठितत्व तकवि शकयमाश्रयितुम् पुरूषमति वैरूप्यात्– शां0 भा2 /1/1

[2] अविद्याकल्पितभेदनिवृत्ति परत्वात् शास्त्रस्य नहि शास्त्रामिदन्तया विषय भूत ब्रह्म प्रतिपिपादयिषति – शा0 भा0 1/1/4

[3] मननिदियाध्यासनयोरपि श्रावणवदगत्यर्थत्वात् – शां0 भा0 1/1/4

प्रमाणो का परम कार्य है।[1] अनात्म–बुद्धि के निरास होते ही आत्म ज्ञान की प्राप्ति स्वत. हो जाती है। यही 'अपरोक्षानुभूति' है।

ज्ञान का वर्गीकरण

'वेदान्त परिभाषा' मे ज्ञान की परिभाष दी गयी है' ज्ञान वह है जिसे पहले कभी जाना न गया हो और जानने पर जिसका बाध न हो सके।' इस परिभाषा से ज्ञान एव भ्रान्ति तथा स्मृति के मध्य भेद स्पष्ट हो जाता है स्मृति का सम्बन्ध पहले से जानी हुई वस्तु से होने के कारण यह ज्ञान नही है तथा भ्रान्त प्रत्यक्ष के विषय का बाध होने से यह भी ज्ञान नहीं है।

प्रमा एवं अप्रमा

"ज्ञान' पद विभिन्न अर्थों मे प्रयुक्त होता आया है। यह अत्यन्त व्यापक शब्द है। न्याय दर्शन 'अनुभव' एव 'स्मृति के रूप से ज्ञान के दो भेद करता है। अज्ञात विषयक ज्ञान' अनुभव' तथा ज्ञात विषयक ज्ञान 'स्मृति' कहलाता है। भारतीय दर्शन में अनुभव के दो भेद माने गए है– प्रमा' एव 'अप्रमा'। 'प्रमा' यथार्थ ज्ञान के अर्थ मे प्रयुक्त होता है' तथा 'अप्रमा' मिथ्या ज्ञान के अर्थ मे।[2]

कोई भी ज्ञान 'सत्य' अथवा 'असत्य' दोनों हो सकता है, किन्तु 'सत्यज्ञान' ही प्रमा शब्द से अभिहित होता है। 'प्रमा' का शाब्दिक अर्थ है 'प्रमाणों' से उत्पन्न अर्थात् सत्य ज्ञान। अद्वैत वेदान्त मे पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म का ज्ञान ही 'प्रमा' है किन्तु व्यावहारिक रूप मे प्रमा एव अप्रमा का भेद रहता है।

प्रमा के असाधारण कारण को 'प्रमाण' कहते है। मीमांसको की भॉति अद्वैत वेदान्त मे भी स्मृति ज्ञान 'प्रमा' नही माना जाता, अतएव स्मृति एंव प्रमा मे भिन्नता है। यथा– यथार्थ रजत् विषयक ज्ञान प्रमा है ,किन्तु यदि शुक्तिका को देखकर रजत् का आभास हो, तो यह अयथार्थ ज्ञान है।

---

[1] एव अयमनादिरनन्तो . वेदान्तारम्भ्यते – शा० भा० भूमिका

[2] The six ways of knowledge – D. K Dutta, Page 10.

अद्वैत वेदान्त मे प्रमा का लक्षण मानते है– 'अनधिगत एव अबाधित विषय का ज्ञान' ।[1] परन्तु जिस ज्ञान के विषय का बाद मे होने वाले ज्ञान से बाध हो जाए, वह ज्ञान 'अप्रमा' अथवा अयथार्थ होगा। शंकराचार्य के मतानुसार जिस पदार्थ का जिस रूप से निश्चय किया गया है, उससे व्यभिचरित न होने के कारण सत्य कहलाता है। जिसका जो स्वरूप निश्चित है, उससे बदलाव होने पर वह अनृत हो जाता है। अतएव विकार 'अनृत' कहा गया है।[2]

आचार्य शकर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य मे स्पष्ट रूप से कहा है कि जो वस्तु एक रूप में अवस्थित रहती है तो उसे परमार्थ सत् या तात्विक पदार्थ कहते है। ऐसे पदार्थ का ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है, ऐसा लोकानुभव है। यथा–'अग्नि की उष्णता' का ज्ञान[3] । अद्वैत वेदान्तानुसार तत्व पदार्थ नित्य, अपरिणामी एवं विकारहींन होता है, एव उसका ज्ञान ही वस्तुत 'प्रमा' है। विकारी पदार्थ तात्विक नही होते।

आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मसाक्षात्कार की दशा में तो सभी विषय बाधित हो जाते है, क्योकि पारमार्थिक सत्ता मात्र ब्रह्म की है, किन्तु संसार दशा मे द्वैत सा होता है, इस दशा मे भिन्न जीव अथवा प्रमाता भिन्न विषय एव भिन्न पदार्थ को देखता है।[4] अधिष्ठान ब्रह्म के साक्षात्कार पर्यन्त ही प्रमाण–प्रमेय आदि व्यवहार होते है। इसी कारण शकराचार्य ने जगत् व्यवहार के लिए 'प्रमा' का उपर्युक्त लक्षण (अबाधित.. ... .) किया है, जिसकी अव्याप्ति आदि दोषो की शका निर्मूल है।[5]

---

[1] अनाधिगताबाधित विषय ज्ञानत्व प्रमात्वम् वेदान्त परिभाषा , पृ0 9

[2] सत्यमिति यद्रूपेण यन्निश्चित तद्रूप न व्यभिचरित्सत्यम् यद्रूपेण निश्चित यत्वद्रूप व्यभिचरदवृत्तम् इत्युच्यते – तै0उ0शा0भा0 2/1

[3] एकरुपेणध्यवस्थितोयोऽर्थ स परमार्थ लोकेतद्विषय ज्ञानसम्यग्ज्ञानमित्यु–च्चते यथाग्निरुपेण इति – ब्र0सू0शा0भा0 2/1/1

[4] यत्रहि द्वैतमिव भवति तदितर इतर पश्यति – वृ0उ0 4/5/5।

[5] ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तर हि घटादीना बाध – – – तथा चाबाधित पदेन ससारदशायामबाधितत्व विवक्षितमिति न घटादि प्रमायामव्याप्ति – वे0परि0 , पृ0 17।

'अप्रमा' का प्रयोग मिथ्या ज्ञान अर्थ मे होता है क्योकि इस ज्ञान के विषय का बाध बाद मे होने वाले ज्ञान से ही जाता है। यथा शुक्तिका मे रजत् का अवभास होते समय हमारे ज्ञान में अनिश्चयात्मक भाव रहता है। देखते समय रजत् ही प्रतीत होता है किन्तु निकट जाकर हाथ मे उठाने पर ज्ञात होताा है कि यह रजत् नही अपितु शुक्तिका है। इस प्रकार का ज्ञान भ्रमपूर्ण व अयथार्थ है। भ्रम मे होने वाला ज्ञान सदैव मिथ्या ही होता है। यह मिथ्या ज्ञान अथवा भ्रम ज्ञान दर्शनशास्त्र मे 'ख्याति' पद द्वारा अभिहित किया जाता है। 'ख्याति' पद की निष्पत्ति ख्या प्रकथन धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाने पर होती है, तथा 'दर्शन' मे इसका अर्थ 'ज्ञान' है।

परोक्ष एवं अपरोक्ष ज्ञान

अद्वैत वेदान्तानुसार ज्ञान दो प्रकार का होता है– अपरोक्ष ज्ञान एव परोक्ष ज्ञान। परोक्ष ज्ञान मे वस्तु का केवल अस्तित्व ज्ञात होता है, जबकि अपरोक्ष ज्ञान मे उसका स्वरूप भी ज्ञात होता है। वस्तुत. दोनो प्रकार के ज्ञान समान रूप से अन्त करण की वृत्तियाँ है, जिसमें साक्षी व्याप्त रहता है। किसी वस्तु का ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियो के अभाव में सभव नही, जबकि अपरोक्ष ज्ञान इन्द्रियो के बिना भी हो सकता है। यथा–जीव का ज्ञान अपरोक्ष ज्ञान है। इस अपरोक्ष ज्ञान की तीन प्राग्पेक्षाएं है–प्रथम, वस्तु अपरोक्षत ज्ञात होने योग्य हो अर्थात् 'योग्यता'। द्वितीय, वस्तु का ज्ञान काल मे अस्तित्व हो, अन्यथा प्रत्यक्ष योग्य वस्तु का भी अपरोक्ष ज्ञान नही होगा, अर्थात् वर्तमानता। तृतीय, ज्ञाता का सम्बन्धित ज्ञेय वस्तु से किसी प्रकार का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो सके, ऐसा इस सम्बन्ध वृत्ति के द्वारा स्थापित होता है, जो वाह्य वस्तुओ के ज्ञान मे बाहर की ओर प्रवाहित होती है, अर्थात सन्निकर्षता। इसकी प्रक्रिया को कुछ इस प्रकार से समझा जा सकता है–

जब किसी ज्ञानेन्द्रिय का किसी वस्तु से सम्पर्क होता है, तब अन्त करण प्रकाश की भॉति जाकर वस्तवाकाराकारित हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान के पूर्व वस्तु का अस्तित्व आवश्यक है। मनोवैज्ञानकि दृष्टि से

यह सिद्धान्त वास्तवादी है। जब वृत्ति वस्तवाकाराकारित होती है, तब प्रत्यक्ष ज्ञानोत्पत्ति होती है। क्योकि वृत्ति अन्तःकरण का परिणाम है, अतएव वास्तव मे यह एकाकारता जीव एवं वस्तु की है। तदनुसार अद्वैतवाद मे प्रत्यक्ष को ज्ञाता एव ज्ञेय वस्तु के एकाकार होने का काल माना गया है।

ज्ञान के इस विवेचन मे वस्तुओ का अपरोक्षत ज्ञेय एव परोक्षत ज्ञेय मे वर्गीकरण माना गया है। ये ज्ञेय वस्तु वाह्य जगत् मे अस्तित्व रखने वाली, घटादि भी हो सकती है अथवा अन्तःकरण की सुख–दुःखादि अवस्थाएँ अथवा परिणाम हो सकती है। यद्यपि वाह्य वस्तुएँ प्रत्यक्षगम्य हो सकती है एव प्रत्यक्ष काल मे विद्यमान हो सकतीं हैं, तथापि उनका ज्ञान अपरोक्ष भी हो सकता है और नही भी। इसके विपरीत आन्तरिक वृत्तियो का प्रथम दो प्रोग्पेक्षाए पूर्ण होते ही अनिवार्यतः अपरोक्ष ज्ञान होता है।

इन वाह्य एवं आन्तरिक वस्तुओ के अतिरिक्त एक अन्य वस्तु भी है, जिसका ज्ञान सदैव एव अनिवार्य रूप से अपरोक्ष ही होता है। वह है 'जीव', जिसे 'अह–पदार्थ' भी कहते है। प्रभाकर सम्प्रदाय की भॉति अद्वैत वेदान्त भी मानता है कि सब ज्ञानो मे ज्ञाता प्रकट रहता है। आत्मा की इस चैतन्यता के कारण ही एक जीव का अनुभव दूसरे जीव से भिन्न रहता है। केवल सुषुप्ति अथवा मूर्च्छावस्था मे ही आत्मा की चेतना नहीं रहती।

जागरितावस्था की भॉति स्वप्न एव सुषुप्ति मे भी अनुभव होता रहता है। श्रुति वर्णित है कि स्वप्न एव जागरितावस्था मे आवश्यक अन्तर यह है कि जागरितावस्था मे ज्ञानेद्रियॉ क्रियाशील रहती हैं, स्वप्नावस्था मे नही । इसके अतिरिक्त स्वप्नावस्था मे स्थूल शरीर से सम्बन्ध नही रहता सिर्फ महसूस होता है कि ज्ञानेद्रिया कार्यशील है एव एक स्थूल शरीर की प्रतीति भी होती है, जो वास्तविक नही। वास्तव मे ये स्वप्न उद्‌बुद्ध सस्कारों से कुछ अधिक ही, एक नवीन सृष्टियाँ होते है। स्वप्न में चूकि अपरोक्ष अनुभव होते है, इन्हे जागरितावस्था के अनुभवो के सदृश मानकर ही उनकी विद्यमानता

मान ली जाती है। किन्तु 'स्मृति' मे ऐसा नही होता, क्योकि उसमे वस्तुओ के भूतकालीन अस्तित्व की ओर स्पष्टता रहती है।

स्वप्नावस्था में अन्तःकरण ज्ञानेन्द्रियो की सहायता के बिना कार्य करता है, किन्तु सुषुप्तावस्था मे वह भी निष्क्रिय हो जाता है। तब जीव का अन्त करण, अपने कारण 'माया' में लीन हो जाता है। माया का यह भाग 'अविद्या' कहा गया है, जो जीव की उपाधि है। उस काल मे केवल अविद्या रहित साक्षी बना रहता है, जिसे लिग शरीर से भिन्न कारण शरीर कहा गया है। अतएव सुषुप्तावस्था मे ज्ञाता का सामान्यरूप से अभाव होने पर चेतना की अवस्थाएँ नही रहती। इसी कारण 'सुषुप्ति' का अनुभव विलक्षण माना गया है। इस अवस्था मे जीव न होकर, अविद्या युक्त साक्षी होता है, तथा विद्यमान व्यक्तित्व का कारण भी साक्षी का अविद्या से संयोग ही होता है, अन्त·करण से नही। इस अवस्था मे अविद्या भी आंशिक रूप में क्रियाशील होकर सत्य के स्वरूप को आच्छादित किये रहती है, परन्तु विभिन्न रूपो मे विभक्त नही करती, क्योंकि उस अवस्था मे अन्त.करण की वृत्तियॉ नही रहती सुषुप्ति का अनुभव इस स्मरण से प्रकट होता है, "मै" सोया एव मुझे कुछ भी ज्ञान नही । इसके अतिरिक्त सुसुप्तावस्था मे आनन्द का भी अनुभव होता है। अद्वैत वेदान्त मतानुसार यह आनन्द आत्मा का स्वरूप ही है जागने पर यह आनन्दावस्था कुछ क्षण बनी भी रहती है।

परोक्ष ज्ञान के प्रकार

शकराचार्य के पूर्ववर्ती अद्वैत वेदान्ती सुन्दर पाण्ड्य' के अनुसार "आत्मनिश्चय के पूर्व देहात्म–प्रत्यय की कल्पना प्रामाणिक है एव सभी प्रमाण (वैदिक एव लौकिक प्रमाण) प्रमााणित है।[1] भाट्ट मीमासको ने जिन छ प्रमाणो को मान्यता दी है, लगभग सभी वेदान्तियो ने इन्हे स्वीकार किया है। ये है–प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि। इनमे

---

[1] द्र0 शा0 भा0 114

शब्द प्रमाण वैदिक (श्रुति) प्रमाण माना जाता है, तथा अन्य लौकिक प्रमाण कहलाते है।

आचार्य शकर के अनुसार बह्म का ज्ञान श्रुति प्रमाण से ही हो सकता है, अन्य प्रमाणान्तर से नही।[1] किन्तु कही–कही वे ये भी कहते है कि ब्रह्म ज्ञान तर्क द्वारा भी ज्ञात हो सकता है[2] ब्रह्मसूत्र भाष्य मे वे ब्रह्म–विद्या मे एव श्रुति दोनो को यथासभव प्रमाण स्वीकार करते है[3]। 'अनुभव' मे ही परोक्ष ज्ञान एवं अपरोक्ष ज्ञान दोनो का ही समावेश होता है। इस प्रकार तो सभी प्रमाण ब्रह्म–विद्या मे सहायक होते है।

किन्तु कुछ प्रतिवादी ऐसा मानते है कि वेदान्त दर्शन मात्र श्रुति को महत्व देता है एव तर्क इत्यादि की उपेक्षा करता है, किन्तु उनकी यह आपत्ति निराधार है। क्योकि वेदान्त दर्शन मे श्रुति प्रमाण द्वारा वही तथ्य प्राप्त होता है जो अपरोक्ष अनुभव द्वारा होता है, तथा श्रुति मे प्राप्त कथन तर्क विरूद्ध नहीं होते, बल्कि युक्तियुक्त होते है। मनन रहित श्रुति या श्रवण का कोई महत्व नही होता। अतएव श्रुति ही एकमात्र स्वतन्त्र प्रमाण माना जाता है, अन्य सभी प्रमाण श्रुति परतन्त्र है।

अपरोक्ष ज्ञान की प्रागपेक्षाएं

शाश्वत चैतन्य वस्तुत 'ब्रह्म' ही है; किन्तु उपाधि –भेद द्वारा वह अनेक प्रकार का प्रतीत होता है। यथा, घटादि विषयो से अवच्छिन्न चैतन्य 'विषय चैतन्य' कहलाता है। इसी प्रकार अन्तकरण की वृत्तियो से अवच्छिन्न चैतन्य 'प्रमाण चैतन्य' तथा स्वय अन्त.करण से अवच्छिन्न चैतन्य 'प्रमातृ चैतन्य' कहा जाता है। अन्तकरण वह अधिष्ठान है जहॉ प्रमेय चैतन्य , प्रमाण चैतन्य तथा प्रमातृ चैतन्य के मध्य तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित होता है, इस प्रकार अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

---

[1] ब्र सू शा भा 1/1/2
[2] मा का भा 3/1
[3] ब्र सू शा भा 1/1/2

अपरोक्ष ज्ञान एव इन्द्रिय ज्ञान दोनो समान नही है। क्योकि इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान के बिना भी अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति सभव है। यथा, जीवात्मा का ज्ञान। अतएव प्रमाण चैतन्य व प्रमेय चैतन्य (बिना विषय चैतन्य के) का तादात्म्य ही अपरोक्षता का लक्षण हुआ।

जैसा कि पूर्व मे बता चुके है कि अपरोक्ष ज्ञान के लिए तीन प्रागपेक्षाएँ आवश्यक है–

(1) योग्यता

(2) वर्तमानता

(3)सनिन्कृष्टता

उनका विस्तृत विवेचन इस प्रकार है।

(1) योग्यता

जब तक किसी पदार्थ मे हमारे ज्ञान का विषय बनने का सामर्थ्य नही होगा, तब तक वह पदार्थ हमारे अपरोक्ष ज्ञान का विषय नही बन सकता। इसे योग्यता' का होना' ही अपरोक्ष ज्ञान का श्रुति ज्ञान से भेद करता है। यथा, मेज एवं कुर्सी इत्यादि मे प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय होने की योग्यता है। किन्तु धर्म–अधर्म इत्यादि अमूर्त तत्त्व हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान के योग्य नही है। वे श्रुति–ज्ञान के ही विषय हो सकते है, जो कि इन्द्रियातीत है।

(2) वर्तमानता

प्रत्यक्ष विषय मे 'वर्तमानता' का होना आवश्यक है। यह लक्षण प्रत्यक्ष ज्ञान का 'स्मृति' से विभदेक भी है। भूतकाल अथवा भविष्यत्–काल के विषय का प्रत्यक्ष अथवा अपरोक्ष ज्ञान सभव नही है।

(3)सन्निकृष्टता

विषयी एव विषय के मध्य परस्पर सन्निकर्ष द्वारा ही प्रत्यक्ष ज्ञान सभव है। विषयी एव विषय के इस सनिन्कर्ष का माध्यम 'वृत्ति' कहलाता है।

वाहय प्रत्यक्ष ज्ञान मे विषयी एव विषय के भिन्न–भिन्न देश मे होने पर भी वृत्ति दोनो का सामान्य अधिष्ठान होती है। किन्तु वृत्ति एव विषय के

तादात्म्य द्वारा ही प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति सभव है। अर्थात् वाह्य प्रत्यक्ष ज्ञान मे योग्यता, वर्तमानता एव सन्निकृष्टता इन तीनो प्रागपेक्षाओ का होना आवश्यक होता है।

किन्तु आन्तरिक अपरोक्ष ज्ञान यथा सुख, दु:ख आदि के लिए यदि प्रथम दो प्रागपेक्षाएँ (योग्यता एव वर्तमानता) उपस्थित हो तो तृतीय प्रागपेक्षा (सन्निकृष्टता) स्वत विद्यमान होगी।

इस प्रकार लोक व्यवहार मे दो तत्त्वो का पारस्परिक तादात्म्य आवश्यक हुआ। प्रथम, शुद्ध चैतन्य रूप आत्मतत्त्व, जो विषयी, ज्ञाता, चेतन एव नित्य है तथा 'अहं' प्रत्यय गोचर है। द्वितीय, विषय, जो ज्ञेय, जड अचेतन एव अनित्य, 'इदं' प्रत्यय गोचर है।

अध्यास

किन्तु 'अध्यास' वहीं सम्भव होगा, जहॉ आरोप्य एव आरोप्यमाण वस्तुओ मे कोई न कोई समानता अवश्य हो। यहॉ तो आत्मतत्त्व एव अनात्म जगत् के तादात्म्य की अनुपपत्ति होगी, क्योकि प्रकाश एव अंधकार की भॉति ही ये दोनो आत्यन्तिक विरुद्ध है। इसी विरोध को स्पष्ट करने के लिए आचार्य शकर 'आत्मा' के लिए 'अस्मत्' तथा अनात्म वस्तुओ के लिए 'युष्मत्' पद का प्रयोग करते है। शुक्तिका एव रजत् का समान रूपवान पदार्थ होने से परस्पर तादात्म्याध्यास तो संभव होगा किन्तु प्रखर प्रकाश एव गहन अधकार का अध्यास कभी लोक व्यवहार मे देखा नही जाता। इसी तथ्य को आचार्य ने इस प्रकार से विवेचित किया है– ''युष्मदस्मत्प्रत्यय गोचरर्योविषयविषयिणोस्तम· प्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोरितरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धाया तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावानुपपत्ति·, इत्यतोऽस्मत्प्रत्ययगोचरेविषयिणिचिदात्मके युष्मत् प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणा चाध्यास·, तद्विपर्ययेण विषयिणस्तद्धर्माणा च विषयेऽध्यासो मिथ्येति भवितु युक्तम् । तथाप्यन्योन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकतामन्योन्य धर्मांश्चाध्यस्येतरेतराविवेकेनात्यन्तविविक्तयो धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्त

सत्यानृतेमिथुनीकृत्य, 'अहमिद' 'ममे्दम' इति नैसर्गिकोऽय लोक व्यवहार। अध्यास भाष्य, ब्र,0 सू0 शां0 भा0, पृ0 2–3[1]

यहाॅ 'इतरेतर भाव का अर्थ है– अन्यान्य धर्मी मे अन्यान्य धर्मो का भाव। अर्थात् 'धर्माध्यास' की उपपत्ति नही हो सकती। धर्माध्यास दो प्रकार का हो सकता है– प्रथम, रूपवान पदार्थ मे रूपवान पदार्थ का, यथा स्फटिकादि पदार्थो मे जयाकुसुम की लालिमा का अध्यास एव द्वितीय, रूपवान् पदार्थ मे अरूपवान् पदार्थो का धर्माध्यास, यथा लौह पिण्ड एव अग्नि का तादात्म्य हो जानेपर अग्नि के दाहकत्त्वादि धर्मो का लौह पिण्ड मे अध्यस्त हो जाना। इनमें प्रथम प्रकार का धर्माध्यास साधारणत स्फटिकादि की भाँति रूपवान पदार्थो मे ही प्राप्त होता है, किन्तु 'आत्मा' रूपवान् नही है। अतएव उसमे धर्म प्रतिबिम्बात्मक धर्माध्यास सभव नही। इस स्थिति मे अरूपवान् आत्मा में अनात्म पदार्थो के अनित्यत्व, कर्तृत्व, भोकृत्व आदि धर्मो का प्रतिबिम्ब कैसे बनेगा ?

द्वितीय प्रकार का धर्माध्यास, लौहपिण्ड में अग्नि के धर्मो का अध्यास, भी आत्मा मे सभव नही, क्योकि यद्यपि अग्नि रूपवान् नही, तथापि लौह पिण्ड तो रूपवान् है। परन्तु आत्मा तो अरूपवान् है, जिसमे किसी अनात्म वस्तु का अध्यास कैसे सभव होगा ? इस प्रकार दोनो का एक दूसरे पर अध्यास मिथ्या ही हो सकता है।[2]

---

[1] अधकार एव प्रकाश के समान विरुद्ध स्वभाव वाले 'युष्मद्' और 'अस्मद्' प्रतीति के विषयभूत विषय एवं विषयी की इतरेतरभाव की अनुपपत्ति सिद्ध होने पर उसके धर्मो की भी परस्पर इतरेतर भाव की अनुपपत्ति है, इसलिए अस्मत् प्रतीति के विषयभूत चैतन्य स्वरूप विषयी मे युष्मत् प्रतीति के विषयभूत विषय एव उसके धर्मो का अध्यास एव इसके विपरीत विषय मे विषयी एव उसके धर्मो का अध्यास नही हो सकता। तो भी अत्यन्त भिन्न धर्मो एव धर्मियो का भेद ज्ञान न होने के कारण एक का दूसरे मे परस्पर स्वरूप तथा एक दूसरे के धर्मो का अध्यास कर सत्य एव अनृत के मिथुनीकरण द्वारा 'अहमिद', 'ममेदम्' इस प्रकार का मिथ्याज्ञान निमित्त स्वाभाविक यह लोक व्यवहार होता है।''

[2] अध्यासो मिथ्येति युक्त भवितुम्।

'अहमिद' एवं 'ममेद' प्रकार का मिथ्यानिमित्तक लोक व्यवहार का कारण 'अविवेक' अथवा 'अज्ञान' है। विषयी एव विषय मे भेदाग्रह न होने के कारण ही अध्यास की उत्पत्ति होती है। यहाँ अध्यास व्याप्य होता है, भेदाग्रह व्यापक। यह सर्वमान्य नियम है कि व्यापक का निषेध करने से व्याप्य का स्वत निषेध हो जाता है। भेदाग्रह का विरोधी भेद ग्रह अथवा 'विवेक' है। अत विवेक के होने पर अध्यास की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

'अह' प्रत्यय का विषय विशुद्धात्मा न होकर जीवात्मा ही होती है। कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व आदि उपाधियो से रहित अनन्त 'आनन्दरुप' चैतन्य एक, अद्वितीय, निरपेक्ष आत्म तत्त्व, जो श्रुति आदि द्वारा प्रतिपादित है, वह शुद्ध आत्मतत्त्व व्यावहारिक 'अह' का विषय नही है। अतएव इस स्थिति में भेदाग्रह अनुकूल होकर अध्यास की उत्पत्ति संभव है।

कुछ अविद्वानजन अज्ञानवश अह प्रतीति के विषय जीवात्मा को ही वास्तविक आत्मा मान लेते है, परन्तु इसे तात्त्विक नही कहा जा सकता। आत्मा तो व्यापक है। 'अहमिहैवास्मि'[1] प्रतीति में जो एकद्देशावच्छिन्नत्व प्रतीत होता है, वह शरीर के लिए प्रयुक्त नहीं किया जा सकता क्योकि शरीर न तो ज्ञान स्वरूप है और न ही ज्ञानाश्रय । इसका प्रयोग तो आत्मा के लिए ही किया गया है, जो शरीर के समान एकद्देशावच्छिन्न है। इस प्रकार की शका का समाधान अद्वैत वेदान्त देता है कि आत्मा को प्रादेशिक एव परिच्छिन्न नही माना जा सकता। क्योकि तब आत्मा 'अणु परिमाण' अथवा 'मध्यम परिमाण' वाला मानना पडेगा। यदि अणु परिमाण वाला माने तो 'स्थूलोऽहम् दीर्घोऽहम्' ऐसा व्यवहार नही हो सकेगा। यदि मध्यम–परिमाण वाला माने तो आत्मा भी शरीर के समान सावयव एव अनित्य हो जाएगा।

---

[1] अहमिहैवास्मि सदने जानान ।

शंकराचार्य लौकिक व्यवहार को 'मिथ्या ज्ञान निमित्तक' मानते है। मिथ्याज्ञान का अर्थ है–'अध्यास'। यही अध्यास नैसर्गिक व्यवहार का निमित्त है। जहॉ अध्यास होता है, वही व्यवहार की निष्पत्ति होती है तथा जहॉ अध्यास नहीं होता, वहॉ व्यवहार की निष्पत्ति नहीं की जा सकती है[1]। यहॉ अध्यास तथा व्यवहार के बीच कारण–कार्य सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया गया है।

यहॉ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि लौकिक व्यवहार का कारण तो 'अध्यास' है, किन्तु 'अध्यास' का क्या कारण है ? इसका समाधान करते हुए आचार्य शंकर कहते है कि 'अविवेक' अथवा 'भेदाग्रह' ही अध्यास का कारण है। दो अत्यन्त विविक्त धर्मियों मे अविवेक अथवा भेद का ग्रहण न होने के कारण ही अध्यास की उत्पत्ति होती है।

एक अन्य शंका पुन उपस्थित होती है कि जहॉ दो वस्तुत· विविक्त धर्मी हो किन्तु उनके भेद का ग्रहण न हो रहा हो, तब भी उनमे तादात्म्याध्यास घटित होता है, यथा–शुक्तिका एवं रजत् ये वस्तुत दो भिन्न पदार्थ है किन्तु उनका भेद ग्रह न होने के कारण 'इद रजत्' इस प्रकार का अध्यास (भ्रमज्ञान) हो जाता है। इसके विपरीत, आत्मा से व्यतिरिक्त इस जगत् में अन्य कुछ है ही नही तो आत्मा का किसके साथ भेदाग्रह एव तादात्म्याध्यास होगा ? इसका समाधान भाष्यकार आचार्य शकर देते है– "सत्य एव अनृत के मिथुनीकरण द्वारा मिथ्या ज्ञाननिमित्तक लोक व्यवहार 'अहमिद' इत्यादि देखा जाता है।[2] यहॉ चित् आत्मा सत्य पदार्थ है तथा शरीर, इन्द्रियादि अनृत पदार्थ है। इन दोनो विभिन्न धर्मियो में एक ही आत्मबुद्धि रखना मिथुनीकरण है। यही "ससर्गाध्यास" भी कहलाता है।

---

1 अध्यास सत्त्वे व्यवहार सत्त्वम्, अध्यासाभावे व्यवहाराभाव।

2 सत्यानृते मिथुनीकृत्य– अध्यासभाष्य।

वास्तव मे सत्य एव अनृत का मिथुनीकरण सभव नही। यह तो अवास्तविक या मिथ्याज्ञान निमित्तक ही होता है।

सर्व विदित है कि प्रतीयमान पदार्थ का ही आरोपण किया जाता है, अप्रतीयमान पदार्थ का आरोपण नही होता। अर्थात् अध्यस्यमान पदार्थ की प्रतीति हो जाने पर ही वह 'पूर्वदृष्ट' कहा जाता है, एव पूर्वदृष्ट पदार्थ का ही अन्यत्र अध्यास होता है। अध्यास के पश्चात् ही भ्रम–ज्ञान (रजतादि) की प्रतीति होती है। इस प्रकार अध्यास एवं प्रतीति के मध्य अन्योन्याश्रय' सम्बन्ध होता है। इसके समाधान हेतु आचार्य शकर ने 'नैसर्गिक' पद का प्रयोग किया है जिसका तात्पर्य है– स्वाभाविक अथवा अनादि। प्रतीति रूप व्यवहार अनादि है। अत उसका कारण अध्यास भी अनादि है। अनादि पदार्थो मे अन्योन्याश्रयता नही मानी जाती।

अद्वैत वेदान्त 'अध्यास' को सर्वाधिक महत्त्व देता है क्योंकि बिना अध्यास के लोक–व्यवहार सर्वथा असम्भव है। 'अध्यास' को अद्वैत वेदान्तानुयायियो ने भिन्न–भिन्न प्रकार से परिभाषित करने का प्रयास किया है। शकराचार्य इस अध्यास की परिभाषा देते है"–"स्मृतिरूप परत्र पूर्व दृष्टावभास." [1] अर्थात 'दूसरे स्थान मे पहले देखी हुई वस्तु का स्मृतिरूप अवभास अध्यास है। यथा–रज्जु–सर्प ज्ञान मे रज्जु 'परत्र' वस्तु है, जिसमें स्मृतिरूप 'सर्प' का अवभास है।

भामतीकार वाचस्पति मिश्र 'अवभास' पद की विशेष व्याख्या करते है। वे कहते है "अवसन्न अथवा अवमत (अवसादयुक्त अथवा तिरस्कृत) आभास अवभास कहा जाता है।"[2] साधारणत अवभासित वस्तु मिथ्या होती है। वस्तु कुछ और होती है, तथा वह अन्य रूप मे भासित हो रही होती है। अतएव अध्यास का सक्षिप्त लक्षण हुआ – 'मिथ्याज्ञान को ही अध्यास कहते है।'[3]

---

1 अध्यास भाष्य, ब्र0सू0 शा0 भा0
2 अवसन्नोऽवमतो वा भासोऽवभास। भामती, पृ0 18 वाचस्पतिमिश्र
3 मिथ्या ज्ञानमध्यास। भामती, वाचस्पतिमिश्र

अध्यास का मिथ्यात्व इससे स्पष्ट होता है कि वह उत्तरकाल मे प्रत्ययान्तर से बाधित हो जाता है।[1]

शकराचार्य 'अध्यास' की एक अन्य परिभाषा भी देते है "एक वस्तु मे दूसरी वस्तु की बुद्धि प्राप्त होना अध्यास कहा जाता है।"[2] सक्षिप्ततः मिथ्या ज्ञान अथवा विपरीत ज्ञान ही 'अध्यास' कहा जाता है।

इस अध्यास का भली–भाँति विश्लेषण करने पर कुछ मुख्य विशेषताएँ स्पष्ट होती है, जो निम्नवत् है–

किसी भी अध्यास के लिए कम से कम दो वस्तुओ की आवश्यकता पडती है। प्रथम, आरोप्यमाण वस्तु अर्थात् आरोप का विषय, तथा द्वितीय, आरोपणीय वस्तु। 'परत्र' पद आरोप्यमाण है तथा 'पूर्वदृष्ट' आरोपणीय है।

पूर्वदृष्ट "पद आरोपणीय वस्तु की असत्यता का निर्देशन करता है। अध्यास मे पूर्वकालीन वस्तु का दृष्टव्य मात्र उपयोग होता है, वस्तु सत्य का नही। इसीलिए, 'पूर्वदृष्ट' पद मे 'दृष्ट' पद प्रयुक्त हुआ है।[3]

आरोपणीय वस्तु का दृष्ट होना यद्यपि अध्यास में आवश्यक है, तथापि दृष्ट का वर्तमानत्व आवश्यक नही, अतएव आचार्य 'पूर्व' पद प्रयुक्त करते है।

आरोपणीय वस्तु का वर्तमान दर्शन न होने के कारण ही वह 'अनिर्वाच्य' है और इसी कारण वह 'अनृत' है।

अध्यास मे आरोपणीय वस्तु के 'अनृत' होते हुये भी अध्यास के लिये आरोप्यमाण वस्तु का सत्यत्व अनिवार्य है। इसे 'परत्र' पद द्वारा स्पष्ट किया गया है। आरोप्य विषय के सत्य होने के कारण अध्यास का अधिष्ठान रहित होना सभव नहीं[4]।

---

1 प्रत्ययान्तर बाधश्च अवसादोऽवमानो वा ।। वही

2 अध्यासो नाम अतस्मिन्तद् बुद्धि । ब्र0 सू0 शा0 भा0, अध्यास भाष्य

3 तस्य च दृष्टत्व मात्रमुपयुज्यते न वस्तुसत्तेतिदृष्टग्रहणम्।–भामती, पृ0 19

4 'तदेव न क्वचिन्निरधिष्ठानोऽध्यास ।–पचपादिका, पृ0 68।

'स्मृतिरूप' पद आरोपणीय वस्तु के 'असनिहतत्त्व' का सम्बोधन करता है। अध्यास के लिए आरोपणीय विषय का असनिहित होना आवश्यक है।'असनिहितत्त्व' से तात्पर्य है आरोप्य वस्तु का अपने अधिकरण मे परमार्थत असतत्त्व होना, देशान्तरसत्त्व नही। [1]अतएव अद्वैत मत की हानि नही हो सकती।

आरोपणीय विषय के सन्निहित होने पर प्रत्यभिज्ञा होती है, तथा असन्निहित रहने पर 'स्मृति'। इसी कारण आचार्य शकर 'परत्रपूर्वदृष्टावभास' के साथ 'स्मृतिरूप' पद सयुक्त करते है यदि 'स्मृतिरूप पद न हो तो प्रत्यभिज्ञा मे भी अध्यास–लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाएगी।

किन्तु अध्यास 'स्मृतिरूप होते हुए भी 'स्मृति' नही है। स्मृति मे आरोप के अधिष्ठान का अभाव रहता है किन्तु अध्यास मे अधिष्ठान का भाव होता है। अतएव यहॉ 'रूप' पद आया है।

स्वप्न ज्ञान भी एक प्रकार का अध्यास है, किन्तु आचार्य का यह लक्षण (स्मृतिरूप.. ....)स्वप्न ज्ञान मे अव्याप्त नहीं होता, क्योकि स्वप्न दर्शन के समय स्मर्यमाण पदार्थों मे निद्रा दोष के कारण उनकी असन्निहितता का ध्यान नही रहता एव पूर्व जाग्रत अवस्था मे दृष्ट सन्निहित देशकाल वृत्तित्व का समारोप होकर अध्यास–प्रतीति होती है।[2]

शकराचार्य प्रदत्त अध्यास–लक्षण मे 'स्मृतिरूप' पद असन्निहितत्व का बोधक है। अतएव यह लक्षण सभी अन्य ख्यातियों का निराकरण करता है। यथा– अख्यातिवाद, अन्यथाख्याति, विपरीतख्यातिवाद, सत्ख्यातिवाद इत्यादि।

---

[1] (क) असविधान चारोप्यस्याधिष्ठाने परमार्थतोऽसत्त्व; न देशान्तर सत्त्वमिति नापराद्धान्त ।। – वेदान्त कल्पतरु , पृ0 19

(ख) असन्निहितविषयत्वम् च स्मृतिरुपत्वम् – भामती , पृ0 20

[2] स्मर्यमाणे पित्रादौ निद्रोपप्लवशादसन्निधानापरामर्शे तत्र तत्र पूर्वदृष्टस्यैव सन्निहित देश कालत्वस्य समारोप –भामती पृ0 20

इन सभी ख्यातियो मे आरोपणीय वस्तु को सत् तथा सनिहित माना जाता है।

परत्र' पद असत्यख्यातिवाद का निराकरण करता है। 'अवभास' पद द्वारा भी असत्ख्यातिवाद का निराकरण हो जाता है।

इस प्रकार आचार्य शकर द्वारा दिये गए अध्यास के लक्षण स्मृतिरूप परत्र पूर्वदृष्टावभास.' द्वारा सत् एव असत् से व्यतिरिक्त 'अनिर्वचनीय ख्याति' का समर्थन हो जाता है।

भ्रान्ति का स्वरूप (ख्यातिवाद)

भ्रम के विषय मे आचार्यों द्वारा प्रदत्त सिद्धान्तों को 'ख्यातिवाद कहा जाता है। "ख्याति" का शाब्दिक अर्थ है 'ज्ञान' किन्तु दार्शनिक अर्थ मे यह 'भ्रम–ज्ञान' कहलाता है। क्योंकि जागतिक ज्ञान को लेकर आरम्भ किए गए विश्लेषण का परिणाम 'भ्रम–ज्ञान' का विश्लेषण ही है। विभिन्न सम्प्रदायो ने भ्रम की व्याख्या करने के लिए विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, जो निम्नवत् है–

(1) असत्ख्यातिवाद–शून्यवादी बौद्ध दर्शन

(2) आत्मख्यातिवाद– विज्ञानवादी बौद्ध दर्शन

(3) अन्यथाख्यातिवाद–न्याय–वैशेषिक दर्शन

(4) विपरीतख्यातिवाद–कुमारिल भट्ट–मीमासा दर्शन

(5)अख्यातिवाद – प्रभाकरमीमासा दर्शन

(6) सत्ख्यातिवाद – रामानुजाचार्य (विशिष्टा द्वैतवाद)

(7) सदसत्ख्यातिवाद – जैन दर्शन

(8) अनिर्वचनीयख्यातिवाद – शकराचार्य (अद्वैत दर्शन)

आचार्य शंकर के अनुसार ज्ञान ' स्व प्रकाश्य' होता है। वस्तुओ की भॉति उसे प्रकाशित नही करना पडता। वेदान्त मतानुसार वस्तुओ का ज्ञान, ज्ञान द्वारा ही सम्भव है । ज्ञान का अनुभव हमे उसी प्रकार होता है, जिस

प्रकार सुख दु ख का अनुभव होता है।[1] क्योकि ज्ञान के विषय मे कभी भी जिज्ञासा उत्पन्न नही होती। ज्ञेय वस्तुओ की भॉति ही यदि ज्ञान अज्ञात होता तो उसके विषय मे भी जिज्ञासा हुआ करती, किन्तु ऐसा नही होता [2]अत ज्ञान स्व प्रकाश्य ही होता है। ज्ञान एव रोग से व्यतिरिक्त किसी तृतीय वस्तु–'ज्ञान के लिए प्रज्ञान को मानने की कोई आवश्यकता नही है। वेदान्त मतानुसार ज्ञान ' स्वत प्रामाणिक' भी होता है। न्याय वॅशेषिक मतानुसार ज्ञान न तो स्वत प्रामाणिक होता है, न ही स्वत अप्रामाणिका। ज्ञान की प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता प्रवृत्ति–सामर्थ्य अथवा प्रवृत्तिविसम्वाद द्वारा निर्धारित की जाती है ज्ञान की प्रामाणिकता उसकी प्रवृत्ति–सामर्थ्य से अनुमानित की जाती है। [3]ज्ञान अपनी उत्पत्ति एव ज्ञप्ति दोनों के लिए ही बाहय परिस्थितियो पर आधारित होता है। साख्य ज्ञान के स्वत॰ प्रामाण्यवाद एवं स्वत अप्रामाण्यवाद में विश्वास करता है। मीमासक एंव वेदान्तानुयायी इन विचारों के विपरीत उत्पत्ति एवं ज्ञप्ति दोनो मे ज्ञान के स्वत. प्रामाण्य मे विश्वास करते है।[4]

किन्तु शंका उपस्थित होती है कि यदि सभी ज्ञान स्वत. प्रामाणिक है तो भ्रमोत्पत्ति किस प्रकार होगी किन्तु वेदान्तानुयायी ज्ञान के स्वत. प्रामाण्यवाद मे तो विश्वास करते है, परन्तु भ्रम के परत अप्रामाण्यवाद को मानते है। ज्ञान स्वतः प्रामाणिक तो होता है किन्तु ज्ञान की अप्रामाणिकता का अन्य कारणो द्वारा निर्धारण होता है भ्रम के कुछ प्रमुख सिद्धान्तो एव अद्वैत द्वारा उनके खण्डन का विवेचन इस प्रकार है।–

---

[1] येषामपि निराकार ज्ञानमप्रत्यक्ष तेषामपि ज्ञानवशेनैव ज्ञेयावगतिरिति ज्ञानमत्यन्त प्रसिद्ध सुखादिवदेव इत्यभ्युपगन्तव्यम्। जिज्ञासाऽनुसारपपत्तेश्च, अप्रसिद्ध चेद्, ज्ञान ज्ञेयवद् जिज्ञास्येत्।–गीताभाष्य 18, 50

[2] अनवस्था दोषश्च ज्ञानस्य ज्ञेयत्वाभ्युपगमाद्–स्वात्मना चाऽविज्ञेयत्वेन अनवस्थाऽनिवार्या।–प्रश्नोप0 6/2

[3] प्रामाण्य हि समर्थ प्रवृत्ति जनकत्वादनुमेयम्।–न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका 1/1/1

[4] न ह्य सर्वप्रमाणसिद्धो लोक व्यवहारोऽन्यत्तत्वमनधिगम्य शक्यतेऽपह्नोतु अपवादभाव उत्सर्ग प्रसिद्धे।– शाकरभाष्य 2/2/31

असत्ख्यातिवाद

यह शून्यवादी बौद्धमत मान्य है। इनके मतानुसार सभी वस्तुए तत्त्वत अभाव रूप ही है, क्योकि जो वस्तु न आदि में है, न अन्त मे तो इसका अस्तित्व मध्य मे भी कैसे सभव होगा ?[1] समस्त जागतिक पदार्थो की न तो उत्पत्तिपूर्व अवस्था है, न विनाश के पश्चात्, अतएव मध्य मे भी शून्य रूप ही रहता है। अत वर्तमान, भविष्यत् एव भूत यह सब असत् अथवा शून्य ही है।

बौद्ध मत के अनुसार ज्ञान की शक्ति अविद्या, जो असत् वस्तुओ का प्रकाशन करने में समर्थ है। वाचस्पतिमिश्र 'भामती' मे इसे इस प्रकार व्यक्त करते है– " विषय मे प्रकाशित होने की कोई सामर्थ न रहने पर भी ज्ञान ही ऐसा है कि विषय अपने प्रत्यय (ज्ञान) की सामर्थ से ही प्राप्त स्वरूप वाला रहता हुआ असत् (शून्य) होते हुए ही प्रकाशित होता है। असत् को प्रकाशित करने की शक्ति ही अविद्या।[2] अत्यन्त असत् वस्तु को अवभासिल करने वाला ज्ञान विभ्रम कहा जाता है।

इसका अद्वैतवाद खण्डन इस प्रकार करता है–

(1) भ्रम शशश्रृगादि की भाँति एकदम असत् नही, अपितु रज्जू–सर्प की भॉति 'ज्ञान का विषय' होता है। आचार्य शकर स्वय मानते है कि अभाव की उपलब्धि सभव नही।[3]

(2) शून्यवादियो के द्वारा मान्य भ्रम की प्रतीति का काल भी असत् है। वेदान्त इसका खण्डन करता है कि यह समस्या भाव एव सत्ता के भेद को न जानने हो उत्पन्न है। रज्जु सर्प यद्यपि तात्त्विक नही है, किन्तु भावात्मक तो है, अतएव शराश्रृग की भॉति पूर्णत असत् नहीं है।

---

[1] मूलमाध्यमिक कारिका 11/2

[2] विषयस्य समस्त सामर्थस्य विरहेऽपि ज्ञानमेव तत्तादृश स्वप्रत्यय सामर्थ्यासादितादृष्टान्तसिद्ध स्वभावभेदमुपजातमसत प्रकाशनं तस्मादसत् प्रकाशनशक्तिरेवाविद्येति।–भामती, पृ0 22

[3] नाभाव उपलब्धे.– शाकरभाष्य

(3) असत् को प्रकाशित करनेकी शक्ति ज्ञान में मानने का क्या तात्पर्य है। भामतीकार के अनुसार उस शक्ति का 'शक्य' कया है ? यदि असत् को माने तो वह असत् इस विज्ञान मे रहने वाला शक्ति का कार्य होगा अथवा विज्ञान का ज्ञाप्य। यदि कार्य है तो वह असत् नही, एव यदि असत् है तो भूत शक्ति मे प्रकाश सामर्थ्य किस प्रकार होती, इस ज्ञान का ज्ञाप्य भी नही मान सकते, क्योंकि "इद रजतम्" भ्रम के अतिरिक्त कोई अन्यअसद्विषयक भ्रम इस शक्ति से उत्पन्न नही होता। ज्ञाप्यत्व या प्रकाश्यत्व से तात्पर्य है उस शक्ति द्वारा जनित ज्ञान का विषयत्व। जब उस शक्ति द्वारा जन्य ज्ञान से कोई पृथक विषय है ही नही तो ज्ञाप्यत्व या प्रकाशत्व के होने का तात्पर्य ही नही बनता। यदि दूसरा ज्ञान मानें तो उसके प्रकाशन के लिए पुनः दूसरा ज्ञान मानते हुए अनवस्था दोष होगा।

आत्मख्यातिवाद

विज्ञानवादी बौद्धों का सिद्धान्तानुसार यद्यपि जगत् के पदार्थ शून्य अथवा असत् नही है, तथापि वे उनकी वाह्य सत्ता को भी स्वीकार नही करते। वे ससार के समस्त पदार्थों को विज्ञानरूप मानते है। क्षणिक विज्ञान–सतति से व्यतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ का अस्तित्व नही है। आन्तरिक विज्ञान ही वाह्य वस्तुओ के रूप में अवभासित होता है।[1] विज्ञान ही आन्तरिक विज्ञान के रूप मे ग्राहक तथा वाह्य विज्ञान के रूप मे ग्राह्य दिखाई पडता है।

इसके अतिरिक्त विज्ञानवाद भ्रमकालीन रजत् को असत्ख्यातिवाद की भॉति पूर्णतः असत् नही मानता। अपितु सत् मानता है। किन्तु इसे बाह्य रुप मे न मान कर आन्तरिक विज्ञान रुप मे ही सत् मानता है। इस सिद्धान्त के मतानुसार "विज्ञानाकार (बुद्धिस्थ) रजत् को वाह्य मान लेना ही भ्रम है"। अतएव यह "आत्मख्यातिवाद" कहलाता है।

---

[1] 'यदन्तर्ज्ञेयरूप तद् बहिर्वत् अवभासते'– दिङ्नाग, आलम्बन– परीक्षा

योगाचार मत मे यद्यपि वाह्य सत् नही है, तथापि अनादि अविद्या वासना द्वारा आरोपित वाह्य पदार्थ माना जाना ही भ्रम है।

विज्ञानवादी मतानुसार वाह्य वस्तुओ का अस्तित्व नहीं है, अपितु वे वस्तुएँ सस्कार जन्य होती है। आचार्य शंकर इसका खण्डन करते हैं कि अभाव की उपलब्धि नही हो सकती। विज्ञानवादी स्वय मानते है कि "ज्ञान के आन्तरिक विषय ही वाह्य वस्तुओ की भॉति प्रतीयमान होते है" इससे स्पष्ट है कि यदि वाह्य वस्तुओ का अस्तित्व न होता तो उनका यह कथन सम्भव ही नही होता। क्योकि लोक व्यवहार मे यह नहीं पाया जाता कि अमूक व्यक्ति बन्ध्या–पुत्र की भाँति है। शकराचार्य के अनुसार विज्ञान एवं वस्तुओं में अभेद सम्बन्ध न होकर कार्य–कारण सम्बन्ध पाया जाता है।

वाह्य वस्तुओ की अनुपलब्धि स्वीकार करने पर तद्जन्य वासना की उत्पत्ति भी नही हो सकती। वाह्य वस्तुओं की उपलब्धि से ही अनेक प्रकार की वासनाएँ निषपन्न होती है।[1] अतएव वाह्य वस्तुओ का स्वतन्त्र अस्तित्व अनिवार्य है। अद्वैतवादी मानते है कि इस सिद्धान्त द्वारा भ्रम की समुचित व्याख्या ही नहीं की जा सकती है क्योकि इसके आधार पर सत्य ज्ञान, एव मिथ्या ज्ञान के बीच भेद स्थापन सभव नहीं। विज्ञान के सत्यत्व एव मिथ्यात्व का निरूपण वाह्य वस्तु के आधार पर ही किया जा सकता है। इस आत्मख्यातिवाद सिद्धान्त के द्वारा जाग्रत एव स्वप्न का भेद भी समाप्त हो जाता है। इसी का शंकराचार्य ने खण्डन कहते हुए कहा है कि 'स्वप्न एव जाग्रत की वस्तुओ मे वैधर्म्य प्राप्त होता है।[2] स्वप्न प्रत्यय बाधित होता है, परन्तु जाग्रत नही स्वप्न की वस्तुएँ 'व्यक्तिगत' होती है, जाग्रत की

---

[1] (क) अर्थोपलब्धि निमित्ता हि प्रत्यर्थं नानारूपा वासना भवन्ति।–ब्र0सू0 शा0 भा0 2/2/30।

(ख) अपि च वासना नाम संस्कार विशेषा । सस्काराश्च नाश्रयमन्तरेणाकल्पन्ते एव लोके दृष्टत्वात्। न च तव वासनाश्रय कश्चिदस्ति, प्रमाणोऽनुपलब्धे ।–वही।

[2]न स्वप्नादि प्रत्ययवज्जाग्रत्प्रत्यया भवितुमर्हन्ति। कस्मात्? वैधमर्यं हि भवति स्वप्नजागरियो . ब्र0 सू0 शां भा0 2/2/29

'सार्वजनिक'। स्वप्न सस्कारजन्य स्मृति रूप है, जाग्रत म साक्षात् प्रत्यक्ष किया जाता है।[1]

विज्ञानवाद ज्ञान को स्वय प्रकाश तो मानता है, किन्तु इससे भ्रमात्मक ज्ञान की सत्ता को सिद्ध नही किया जा सकता। क्योकि भ्रमात्मक ज्ञान को भी अन्य ज्ञान की भॉति स्वय प्रकाश मानने पर वह मिथ्या कैसे रह पाएगा ? तथा पर–प्रकाश मानने पर ज्ञान के स्वप्रकाशत्व की हानि होगी। विज्ञानवाद ज्ञान तथा ज्ञाता मे अभेद सम्बन्ध भी मानता है। इस प्रकार तोवह विज्ञान रूप भ्रम ज्ञान 'इद' न होकर 'अह' रूप मे अनुभूत होना चाहिए।

भ्रम को केवल सस्कारमात्र नही माना जा सकता, क्योकि यदि भ्रम सुख–दु ख की भॉति मानसिक होगा तो उसके निराकरण के लिए किसी वाह्य वस्तु के प्रत्यक्ष की आवश्यकता नही होगी। किन्तु रज्जु सर्प इत्यादि भ्रम का निराकरण तो 'प्रत्यक्ष' द्वारा ही संभव है। अतएव भ्रम मात्र सस्कार नही 'अपितु वाह्य ससार मे उसका अस्तित्व है।

अख्यातिवाद

आचार्य शकर ने अख्यातिवाद के निराकरण के पूर्व उसकी परिभाषा इस प्रकार स्पष्ट की है– 'शुक्त्यादि मे जो रजतादि का अध्यास कहा जाता है, वह वस्तुत शुक्ति एव रजत् का भेदग्रह न होने के कारण उत्पन्न होता है, जिसके कारण 'इद रजतम्' ज्ञान मे भ्रमरूपता का व्यवहार होने लग जाता है।[2]

अर्थात् भ्रम का वास्तविक कारण दो ज्ञान एव उनके विषयो मे भेद ज्ञान न होने से है। प्रभाकर मीमासा विशुद्ध रूप मे भ्रम के तार्किक स्वरूप को स्वीकार नही करता, क्योकि वह वस्तुवादी दर्शन होने से सभी ज्ञान 'यथार्थ' मानता है ज्ञान का वास्तविक कार्य वस्तुस्वरूप का प्रकाशन है, विकृति नही। अतएव अख्यातिवाद के अनुसार भ्रम नाम की कोई वस्तु नही।

---

[1] अपि च स्मृतिरेषा यत्स्वप्नदर्शनम्, उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम्– – – वही

[2] अध्यासभाष्य

वास्तव मे भ्रम कोई मौलिक ज्ञान न होकर दो ज्ञानो का मिश्रण माना जाता है, जिसमे एक 'प्रत्यक्ष ज्ञान' होता है, दूसरा 'स्मृति ज्ञान'। यथा—शुक्ति मे रजत् का भ्रमात्मक ज्ञान मे दो ज्ञानो का सम्मिश्रण है, 'इद रजतम्' मे इद' गुणरहित शुक्ति के केवल द्रव्य मात्र का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान है। एव 'रजतम्' रजत् के द्रव्यरहित गुण मात्र का स्मृत्यात्मक ज्ञान है। 'इद' अश उपस्थित होने से प्रत्यक्ष का विषय है तथा रजताश अनुपस्थित होने से स्मृति' का विषय है। 'स्मृतिप्रमोष' अर्थात् स्मृतिलोप के कारण इन दोनो प्रत्यक्षात्मक ज्ञान एव 'स्मृतिज्ञान' एव उनके विषयो मे भेदाग्रह के कारण भ्रम की उत्पत्ति हो जाया करती है।[1] अतएव प्रत्यक्ष एव स्मृति मे विवेक की अख्याति ही 'अख्यातिवाद' सिद्धान्त मे भ्रम का कारण मानी जाती है।

इस सिद्धान्त के विषय मे अद्वैत वेदान्तियो का प्रथम आक्षेप यह है कि प्रभाकर मीमासा ज्ञान के 'त्रिपुटी प्रत्यक्षवाद' मे विश्वास करती है, जिसके अनुसार ज्ञान स्वय प्रकाश होता है। ऐसी स्थिति मे प्रत्यक्ष एव स्मृति तथा उनके विषयो के भेद का अज्ञान असम्भव हो जाता है विवेकग्रह के असम्भव होने पर अख्यातिवाद भी असम्भव होगा।

प्रभाकर मीमासक अभाव' एव 'अनुपलब्धि प्रमाण' को नही मानते। ऐसी स्थिति मे तो प्रत्यक्ष एव स्मृति दोनो तत्त्वो की उपस्थिति मे उनके भेद का भी ज्ञान अवश्य होगा। अत चित्सुखाचार्य के अनुसार प्रभाकर मत मे 'आश्रयासिद्ध दोष' प्रसक्त होता है।

ये अख्यातिवादी भ्रमात्मक ज्ञान को दो ज्ञानो प्रत्यक्ष एव स्मृति का सम्मिश्रण मानते है। किन्तु 'इद रजतम्' प्रभृति वाक्यो मे तो एकाकार ज्ञान का ही बोध होता है। भ्रम ज्ञान मे शुक्ति के स्थान पर रजत् के अनुभव काल मे स्मृति का अश नही रहता। 'इद' एव 'रजतम्' दोनो ही प्रत्यक्ष के

---

[1] ज्ञानयो विषयोश्च विवेकाग्रहात् भ्रम– प्रकरण पञ्जिका, पृ0 43।

विषय होते है।[1] अख्यातिवादी ये भी मानते है कि दो विभिन्न ज्ञानो के विवेक के अभाव के कारण हम किसी कार्य को करने को उद्यत हो सकते है किन्तु वाचस्पति मिश्र इसका निराकरण करते हुए कहते है कि प्रत्यक्ष एव समृति के भेद के अज्ञान के कारण कोई भी चेतन व्यक्ति क्रियाशील नही होता। उसके कार्य करने को उद्यत होने का कारण किसी भावात्मक ज्ञान का परिणाम होता है।[2] उसकी इच्छा सदैव किसी निश्चित वस्तु के प्रति ही उत्पन्न होती है। इस भावात्मक तादाम्यीकरण को माने बिना रज्जु मे सर्प–भ्रम से होने वाले भय, पलायन इत्यादि व्यापारो, तथा 'इद' रजतम् मे रजत् को उठाने के लिए बढने, झुकने व्यापारो की व्याख्या असम्भव होगी। अत प्रत्यक्षात्मक भ्रम की सत्ता को अस्वीकार नही किया जा सकता।

अन्यथा ख्याति वाद एव विपरीत ख्यातिवाद

न्याय वैशेषिक द्वारा मान्य अन्यथा ख्यातिवाद पृथा भाट्ट मीमासाक स्वीकृत विपरीत ख्यातिवाद मे कुछ विभिन्नताओ के होते हुए भी कुछ समानताएँ भी हैं , यथा– दोनो सिद्धान्त भ्रम की वस्तुवादी व्याख्या करते है, जिसके अनुसार ज्ञान का एक निश्चित विषय होता है। दोनो ही भ्रम को दो ज्ञानो का सम्मिश्रण न मानकर ऐकिक ज्ञान' के रूप मे स्वीकार करते है। "भ्रम मे प्रत्यक्षाश तथा स्मृत्याश का सश्लिष्ट रूप विद्यमान रहता है।" भ्रम केवल भेदाग्रह के कारण नही, अपितु विपरीत ग्रह के द्वारा उत्पन्न होता है। इसे भावात्मक तत्त्व भी प्राप्त होता है। आचार्य शकर 'अन्यथाख्यातिवाद' को इस प्रकार परिभाषित करते है– "जिस शुक्त्यादि मे रजतादि का अध्यास लोकसिद्ध है, वह शुक्त्यादि विपरीत रजतत्व धर्म की कल्पना है।"[3]

इस दोनो सिद्धान्तो मे मख्यतया दो विषयो मे भेद है–

---

[1] स्मृते प्रमोषो न सम्भवति– तथा च तन्त्रान्तरीया आहु अनुभूत विषयाऽसप्रमोषास्मृति इति–पचपादिका भाष्य–पृ0 194

[2] चेतन व्यवहारस्य अज्ञानपूर्वकत्वानुपपते – भामती 1/1/1

[3] अन्ये तु यत्र यदध्यासस्तस्यैव विपरीत धर्म कल्पनामाचक्षते–अध्यासभाष्य

(1) अन्यथाख्यातिवाद के अनुसार भ्रम के प्रत्यक्ष तत्त्व का अन्यथा ज्ञान होता है, एव रजत् तत्त्व का अन्य स्थान पर ज्ञान होता है। शुक्ति एव रजत् का पृथक –पृथक ज्ञान वास्तविक है तथा सयोग अवास्तविक। इसके विपरीत, विपरीत ख्यातिवाद में प्रत्यक्ष तत्त्व की स्मृति रूप मे विपरीत कल्पना की जाती है।

(2) अन्यथाख्यातिवाद अपने वस्तुवादी सिद्धान्तानुसार रजत ज्ञान के स्मृत्यात्मक न मान कर असाधारण प्रत्यक्ष का ही विषय मानते है, जिसे हम 'ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष' के द्वारा प्राप्त करते है। किन्तु विपरीतख्यातिवाद मे भ्रम मे स्मृति नामक आत्मविष्ठ तत्त्व को मानकर वे वस्तुवाद का परित्याग कर देते है।

अद्वैतवेदान्ती इन मतो का खण्डन इस प्रकार करते है अन्यथाख्यातिवाद मे भ्रम के वर्तमानतत्व एनद्वेशविशिष्टत्व की अवहेलना की गयी है। युक्ति का रजत् रूप भ्रम मे रजत् वही उपस्थित रहता है, अन्य देश अथवा काल मे नही। तथा रजत् का न तो असाधरण प्रत्यक्ष होता है न ही स्मृति होती है। वह स्पष्ट रूप मे हमारे समक्ष प्रत्यक्ष स्थित होता है।[1] भ्रम के निराकरण मे भेद रजतम्' मद ज्ञान केवल एक देश और वर्तमान काल (तत्कालीन) के भ्रम ज्ञान का बाध करता है, अन्य देशकाल के भ्रम ज्ञान का नही।[2] शब्द–ज्ञान भ्रम के निवारण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्यक्ष किसी अन्य देश अथवा काल का नही होता [3]

---

[1] पुरोऽवस्थिततत्वेनावभासमानत्वात्–विवरण प्रमेय सग्रह, पृ0 92

[2] नेद रजतम् इति विशिष्ट देशकाल सम्बन्ध रजत विलोपयदेवोदेति न देशान्तर सम्बनधमाप्तदयति, तथावगमात्–पचपादिका भाष्य पृ0 245

[3] दूर वर्तिनी रज्जु सर्पमन्यमान तन्निकटवर्तिनाऽप्तेन नाय सर्प इत्युक्ते सर्पाभावमात्र प्रतिपद्यते, न तस्य देशान्तर वर्तित्व तत्प्रतिपत्तावसामर्थ्याद् वाक्यख्य–विवरणभाष्य– पृ0 245।

अनिर्वचनीय ख्यातिवाद

शकराचार्य अथवा अद्वैत वेदान्त सम्मत भ्रम के सिद्धान्त को "अनिर्वचनीय–ख्यातिवाद" कहते है। इस मतानुसार अविद्यावश भ्रमस्थल मे एक अनिर्वचनीय वस्तु की उत्पत्ति होती है तथा उसी अनिर्वचनीय वस्तु की ख्याति[1] भी होती है। अत भ्रम मे एक वस्तु के गुणो को अथवा एक वस्तु को दूसरे पर आरोपित करना ही अध्यास है। यथा रज्जु मे सर्पभाव अथवा शुक्तिका मे रजत् रूप। भ्रम मे आरोपित वस्तु न तो स्मृति कही जा सकती है और न ही उसे अन्यत्र सत्य कह सकते है। क्योकि अधिष्ठान ज्ञान द्वारा उसका बाध हो जाता है। अस्तित्व मात्र से सत् हो 'उत्पन्न' नही कहलाता। यह पूर्णतया असत् भी नही, क्योकि शश–विषाण की भॉति पूर्णतया असत् होने पर उसकी प्रतीति भी नही हो सकती। जो वस्तु हमारे ज्ञान का विषय बन रही हो, वह पूर्णतया असत् भी नही हो सकती। वेदान्त मतानुसार भ्रम का जगत् मे कुछ न कुछ अस्तित्व अवश्य होता है, क्योकि असत् का अनुभव करना ही असंभव है।

भ्रम के इस विषय को सत् एव असत् ये दोनो एक साथ भी, नही रह सकते क्योकि परस्पर विरोधी होने के कारण सदसद् की कल्पना करना ही वदतो व्याधात् होगी। 'सर्प' मे सत् अश कुछ भी नही है। देश, काल, स्वरूप आदि सम्बन्ध सभी 'रज्जु' के है। चूकि सर्प का प्रत्यक्ष होता है, अत वह असत् भी नही कहा जा सकता। अत चतुर्थ विकल्प ही शेष रहता है, भ्रम का विषय न सत् है, न असत् है, न ही सदसत् है, अपितु सदसद् विलक्षण 'अनिवर्चनीय' है। यह भ्रम स्थल मे उत्पन्न होने वाली 'अनिर्वचनीय' वस्तु अस्थाई सृष्टि है। इस 'अनिवर्चनीय' अथवा प्रतिभासिक वस्तु की अस्थाई सृष्टि को माने बिना इसमे वर्तमानत्व एव एकद्देश विशिष्टत्व वाले प्रतिभास की व्याख्या नही की जा सकती

---

[1] 'ख्याति का तात्पर्य यहा भ्रम हे। शकराचार्य कहते है– 'सर्वथाऽपि त्वन्यस्यान्यधर्माव भासता व्यभिचारात्"–ब्र स् शा भाष्य

भामतीकार वाचस्पति मिश्र का कथन है कि 'भ्रम मे प्रतीत होने वाली वस्तु न सत् कही जा सकती है, न असत् न सदसत्। अत मृग मारीचिका मे अनिर्वच्य जल को सदसद् विलक्षण मानना ही युक्त है। विवरणकार प्रकाशोत्मयति भी अनिर्वचनीयख्यातिवाद का पूर्ण समर्थन करते हुए कहते है कि शुक्तिका–रजत् भ्रम स्थल मे प्रतीत होने वाला रजत् मिथ्या एव अनिर्वचनीय है, तथा यह अविद्योपादानात्मक है। भ्रम के दूर हो जाने पर हमे यह ज्ञान हो जाता है कि यह रजत् नही अपितु मिथ्या अवभास है। अतएव यह सिद्ध है कि इस प्रातिभासिक रजत का उपादान कारण अविद्या ही है।

'आनन्द बोध' अपने ग्रन्थ' न्याय मकरद' में अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा अनिर्वचनीय पदार्थ की सिद्धि करते है अत्यन्त ही असत् शश श्रृगादि पदार्थो की कभी भी प्रतीति नही होती, एव सत् पदार्थ का कभी बाध नही होता। भ्रम स्थल पर प्रतीयमान वस्तु प्रतीति का भी विषय होती है एव बाध का भी। साधारण रुप से प्रतीति एवं बाध एक साथ नही मिलते। अत· असाधारण रुप मे ऐसी सत् और असत् से विलक्षण वस्तु का अस्तित्व अवश्य ही होगा। वही विलक्षण वस्तु अनिर्वचनीय है, जो भ्रम की व्याख्या के लिए आवश्यक है।

अद्वैत वेदान्तानुसार भ्रम ज्ञान निर्विषयक अथवा विषय हीन नही होता। भ्रम 'ज्ञान' का भी विषय होता है। स्वप्न मे भी ज्ञान के विषय रहते है। ये अनिर्वचनीय होते है तथा अज्ञान अथवा अविद्या के कार्य होते है। 'स्मृति' से भ्रम–ज्ञान का विषय भिन्न होता है क्योकि वह हमे प्रत्यक्ष होता है, जबकि स्मृति का विषय अतीत अनुभव से सम्बद्ध होता है। भ्रम का निवर्तन हो जाने पर यह ज्ञान हो जाता है कि यह रजत् नही है। अद्वैत वेदान्त मे अनिर्वचनीय ख्याति को वही स्वीकार किया जाता है, जहॉ आरोप्य अर्थ इन्द्रिय से सन्निकृष्ट होता है।

इस अनिर्वचनीय ख्यातिवाद के विरूद्व कई आक्षेप किये जाते है। मध्यम परिहार के नियमानुसार कोई वस्तु या तो सत् होगी अथवा असत्,

उससे व्यतिरिक्त अनिर्वचनीय कोई है ही नही। इस आक्षेप का समाधान यह हो सकता है कि मध्यम परिहार नियम को मानना आवश्यक तो है नही, उसे हम स्वीकार या अस्वीकार कर सकते है। अन्वेषण कार्य में इस प्रकार का विभाजन उचित भी नही।

रज्जु–सर्प एवं जगत् यद्यपि दोनो मिथ्या है, तथापि दोनो मे भेद भी है। रज्जु–सर्प को प्रातिभासिक एव जगत् को व्यावहारिक माना गया है। प्रातिभासिक सत्ता व्यतिगत भ्रम है तथा व्यावहारिक सत्ता सर्वमान्य भ्रम । व्यावहारिक जगत् प्रत्यक्ष के पूर्व भी विद्यमान था और पश्चात् भी रहता है जबकि प्रातिभासिक पदार्थ प्रत्यक्षकाल तक ही विद्यमान रहता है। व्यावहारिक जगत् के भ्रम का बाध मात्र ब्रह्म ज्ञान द्वारा संभव है, परन्तु प्रातिभासिक के बाध के लिए वस्तु–विशेष का ज्ञान ही पर्याप्त है। व्यावहारिक(जगत्) सत्ता का ज्ञान प्रत्यक्षादि द्वारा होता है कितु प्रातिभासिक पदार्थ का ज्ञान केवल साक्षी दृष्ट है। 'यथा– 'इद रजतम् में 'इदं' ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा एवं रजतम् ज्ञान 'साक्षी' द्वारा होता है।

अद्वैत वेदान्त 'साक्षी' की अवधारणा को महत्त्वपूर्ण मानता है क्योकि साक्षी द्वारा ही ज्ञात, अज्ञात, यथार्थ, मिथ्या इत्यादि का प्रकाशन होता है। वेदान्त मानता है कि एक ऐसे चैतन्य की आवश्यकता है, जिसे अज्ञात भी ज्ञात हो। प्रमाता की अज्ञात वस्तु 'साक्षी' को ज्ञात रहती है। इसी कारण मिथ्या रूप वस्तु भी साक्षी को आभासित होती है। साक्षी को सत्यासत्य के द्वैत का ज्ञान नही होता, अपितु यह ज्ञान प्रमाता को रहता है। साक्षी प्रमाता की प्रमाण वृत्तियो की आधारभूत अन्य वृत्तियो का भी प्रकाशन करता है साक्षी सदैव जागरूक रहकर असीम ज्ञान युक्त होता है। जबकि प्रमाता सोता है, स्वप्न देखता है, उसका ज्ञान सीमित है।

अध्यास के विरूद्ध यह आक्षेप उपस्थित हो सकता है कि अध्यास दो वाह्य वस्तुओ मे हुआ करता है, परन्तु आत्माध्यास मे आत्मा कोई वाह्य पदार्थ नही, फिर भी शरीर के साथ उसका तादात्म्याध्यास किस प्रकार सभव

है? इसका समाधान अद्वैत वेदान्ती करते हैं कि यह कोई नियम नही है कि अध्यास मे दोनो वस्तुएँ हमारे समक्ष उपस्थित ही हो। द्वितीय यह कि आत्मा भी एक अर्थ मे 'अह' प्रत्यय का विषय है।[1] वस्तुतः आत्म चैतन्य असग और अविषय है। अतः 'अह' प्रत्यय का विषय जीव या प्रमाता है। किन्तु स्वप्रकाश साक्षी चैतन्य ही अविद्या के कारण जीव या प्रमाता के रूप में भासित होता है।

अध्यास वही होता है जहाँ ज्ञान की अपूर्णता हो। 'अयम्' का ज्ञान होते हुए भी हमें रज्जु का ज्ञान नही रहता। 'आत्मा' का ज्ञान तो है, परन्तु उसकी अनंतता एवं अपरोक्षता का ज्ञान नहीं है। इसी कारण आत्म–जिज्ञासा उत्पन्न होती है। आचार्य शंकर कहते है कि प्रत्यक्ष मे अध्यास मानने वाले भी आकाश अप्रत्यक्ष होने पर भी उसमे मालिन्य का आरोप कर लेते है।[2] अर्थात अध्यास को केवल प्रत्यक्ष वस्तुओं पर ही नहीं माना जा सकता।

अध्यास किसी वस्तु मे वास्तविक परिवर्तन नहीं करता, अपितु केवल अविद्या जन्य होने से आरोपण इत्यादि करता है। इसका नाश विद्या से हो जाता है। अध्यास के कारण वस्तु मे किसी प्रकार का गुण–दोष उत्पन्न नही होता। अर्थात अध्यास वस्तु के गुण–दोष वास्तविकता पर कोई प्रभाव नही डालता[3] एव आरोपण भी मिथ्या ही रहता है।

अध्यास अविद्या जन्य है। उसे प्रमाण–प्रमेय व्यवहार का आधार माना जाता है। ये सभी प्रमाण शरीर मे विश्वास पर निर्भर है। अध्यास के कारण ही हम वाह्य वस्तुओ का यथा पत्नी, पुत्रादि, शरीर के धर्मों का यथा इच्छा, सुख, दुख द्वेषादि का आत्मा पर आरोप करते है एव आत्मा का आरोपण वाह्य वस्तुओ पर करके 'इद मम्' इत्यादि व्यवहार करते है। इस प्रकार

---

[1] उच्यते,–न तावदयमेकान्तेनाविषय, अस्मत्प्रतययविषयत्वात्–अध्यास भाष्य, पृ0 11
[2] अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिनवाद्यध्यस्यन्ति– वही, पृ0 12
[3] तत्रैव सति यत्र यदध्यास, तत्कृतेन दोषेणगुणेन वाऽणुमात्रेणापि स न सबध्यते।–वहीं–पृ0 13

दोनो का परस्पर तादात्म्याध्यास होता है।[1] यह अध्यास अनादि एव अनन्त है तथा ब्रह्मज्ञान द्वारा नष्ट होने वाला है। यह अनादि है क्योकि इसका उपादान कारण भी अनादि अविद्या ही है एव निमित्त कारण पूर्व–पूर्व अध्यास के सस्कार। ब्रहमात्मैकत्व ज्ञान के बिना निवृत्ति न होने से यह अनन्त कहा गया है। यह नैसर्गिक है। सभी अनर्थों का कारण है। इसी अध्यास के कारण ही आत्मा एव शरीर का तादात्म्य सम्बंध मानकर जगत् के व्यवहार किए जाते हैं। इसी की समूल निवृत्ति के लिए आचार्यो ने वेदान्तो–उपनिषदो का आरम्भ माना है। उपनिषदो में प्राप्त ब्रह्म–विद्या ही इस अध्यास (मिथ्या ज्ञान) की निवृत्ति मे पूर्णतः सक्षम है। इसके नाश के उपरान्त ब्रह्मात्मैक्य परम मोक्ष की प्राप्ति होती है।

प्रमाण

भारतीय दर्शन शास्त्र मे सर्वप्रथम गौतम के न्याय सूत्र मे प्रमाणो का सुस्पष्ट एवं व्यवस्थित विवेचन प्राप्त होता है। वहॉ प्रमाणो द्वारा ज्ञान प्राप्ति के साधनो एवं उसकी ग्रमाणिकता की कसौटी के बारे में विचार–विमर्श किया गया हैं सांख्यकारिका' एवं 'वैशेषिक सूत्र' में भी प्रमुख प्रमाणो का संक्षिप्त पारिभाषिक विवेचन उपलब्ध होता है। वेदान्त मान्य प्रातिभासिक, व्यावहारिक तथा पारमार्थिक सत्ताओ में मात्र व्यावहारिक सत्ता में ही ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान का व्यवहार होता है। पारमार्थिक सत्ता त्रिपुटी रहित है। ये समस्त व्यावहारिक ज्ञान प्रमाण–जन्य होते है।[2]

अध्यास भाष्य में एक स्थान पर आचार्य शकर स्पष्ट रूप मे कहते है कि 'प्रत्यक्षादि प्रमाण एवं समस्त शास्त्र अविद्यावान् जीव मे ही आश्रित है।[3] अर्थात प्रमाणो का क्षेत्र प्रधान रूप से अविद्यात्मक जगत् है। समस्त शास्त्रो

---

[1] एवमह प्रत्ययिनमशेष स्वप्रचारसाक्षिणि प्रत्यगात्मनध्यस्य, तं च प्रत्यऽगामान सर्वसाक्षिण तद्विर्प्ययेणान्त करणादिष्वध्यस्यति।–वही, पृ0 18।

[2] ज्ञान तु प्रमाणजन्य– – – – ।–ब्र0 सू0 शा0 भा0 3/2/27

[3] तस्मादविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च।–अध्यास भाष्य

तथा प्रमाणो की उपयोगिता इसमे है कि वे अविद्या का निराकरण करे। वे भावात्मक रूप मे आत्मा का ज्ञान नही करा सकते। अपितु कोई भी प्रमाण 'इदन्तया' इस प्रकार का ज्ञान नही करा सकता। किन्तु 'आत्म–ज्ञान' का तात्पर्य आत्मा का स्वरूप लाभ है, तथा वह अविद्यात्मक अध्यास के हटने पर स्वत अद्भूत होता है।[1] यद्यपि विपक्षी मानते है कि अद्वैत वेदान्त मे कोई व्यवस्थित 'प्रमाण–मीमासा' प्रस्तुत नही की गयी है, अपितु उन्होने मात्र श्रुति के आधार पर अपने सिद्धान्तो का विवेचन प्रस्तुत किया है। तथापि, ऐसा नही है। एक स्वतन्त्र अध्याय के रूप मे प्रमाणो पर विचार न करते हुए भी आचार्य शकर तथा अन्य अद्वैत वेदान्तियों की रचनाओ मे उपलब्ध प्रमाणो का सुदृढ विवेचन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त आचार्य शकर यह स्पष्ट सकेत देते है कि अन्य भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायो यथा न्याय, साख्य आदि की प्रमाण–मीमासा से वे बहुत कुछ प्रभावित थे।

अध्यास भाष्य मे शकराचार्य की प्रमाण–सम्बन्धी विचारधारा मे कुछ विरोधाभास सा परिलक्षित होता है, किन्तु व्यापक विश्लेषण के उपरान्त यह माना जाता है कि 'प्रमाण' अविद्या के क्षेत्र में ही कार्य करते है।[2] आत्मा असग है। शरीर मे आत्मभाव अध्यस्त होने पर ही शरीर व्यापार होता है। अतएव श्रुतिसिद्ध भी है कि असग आत्मा के साथ शरीरादि का आध्यासिक सम्बन्ध द्वारा ही लोक व्यवहार होता है, क्योकि इन्द्रियो को ग्रहण किए बिना प्रत्यक्षादि प्रमाण सभव नही होते।[3] 'अहकर्त्ता, भोक्ता' इत्यादि व्यवहार का आत्मा मे तभी अध्यास होता है, जब अन्तकरण का आत्मा मे स्वरुपाध्यास हो एव आत्मा का अन्तकरण मे ससर्गाध्यास हो। परस्पर अध्यासिक सम्बन्ध

---

[1] नि शेष संसार बीजाविद्याधनर्थ निवर्हणात् ।– शा0 मा0 1/1/4

[2] अविद्याख्यामात्मानामत्मनोरितरेतराध्यास पुरस्कृत्य सर्वप्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ता – शा भा अध्यास भाष्य।

[3] देहेन्द्रियादिष्वहममाभिमानरहितस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौप्रमाणप्रवृत्यनुपपत्ते –अध्यास भाष्य।

द्वारा ही प्रमाता, प्रमेयादि व्यवहार सम्पन्न होते हैं।तब वह असग आत्मा प्रमाता होता है।

इस प्रकार आचार्य शकर का मत है कि समस्त प्रमाण एव शास्त्र अविद्या विषयक ही है। 'जन्माद्यस्य यत' सूत्र की व्याख्या मे स्वय आचार्य शकर कहते है कि ब्रह्मजिज्ञासा मे मात्र श्रुति ही प्रमाण नही अपितु श्रुति एव अनुभव यथा सभव प्रमाण है।[1] इन प्रमाणो का कार्य मात्र इतना ही रहता है कि वे ज्ञान प्राप्ति के मार्ग मे उपस्थित अविद्याजन्य बाधाओ को दूर कर देते है।[2] क्योकि प्रमाणो मे प्रमाता एव प्रमेय का भेद रहता है, जबकि ब्रह्म–ज्ञान समस्त भेदो से रहित है। अविद्या का निवृत हो जाना ही ज्ञान है। इस प्रकार समस्त प्रमाणो से पारमार्थिक सर्त्ता का ज्ञान तो असम्भव है। किन्तु इस ज्ञान के उद्भूत होने पर व्यवहारिक जगत् की वस्तुओ के ज्ञान के लिए प्रत्यक्षादि प्रमाणो की आवश्यकता को शकराचार्य स्वीकार करते है।

भारतीय दर्शन शास्त्र मे 'अनुभव' एव 'स्मृति' के रुप मे ज्ञान के दो भेद माने गये है। अज्ञात विषयक ज्ञान को 'अनुभव' तथा ज्ञात विषयक ज्ञान को 'स्मृति' कहा जाता है। अनुभव के 'प्रमा' तथा 'अप्रमा' ये दो भेद स्वीकार किए जाते है। 'प्रमा' का तात्पर्य 'यथार्थ ज्ञान' है, तथा 'अप्रमा' का 'मिथ्याज्ञान।

'सत्य ज्ञान' ही 'प्रमा' पद द्वारा अभिहित किया जाता है। 'प्रमा' का शब्दिक अर्थ है– प्रमाणो से उत्पन्न सत्य ज्ञान। अद्वैत वेदान्तानुसार यद्यपि ब्रह्म–ज्ञान ही वास्तविक प्रमा है। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि मे व्यावहारिक सत्य भी 'प्रमा' एव 'अप्रमा' पदो द्वारा प्रयुक्त किया जाता है।

प्रमा के असाधारण करण को 'प्रमाण' कहते हैं। अर्थविषयक यथार्थ ज्ञान ही प्रमा है। जैसे रजत् को देखकर रजत् विषयक ज्ञान होना। किन्तु शुक्ति को देखकर रजत् का ज्ञान अयथार्थ ज्ञान है।

---

[1] किन्तु श्रुत्यादयोऽनुभवश्च यथासभवमिहप्रमाणम् – शा भा 1/1/2।

[2] अविद्याकल्पित भेद निवृत्तिपरत्वाच्छास्त्रस्य – शा भा 1/1/4।

अद्वैत वेदान्तनुसार 'प्रमा' का लक्षण है—'अनधिगत एव अबाधित विषय का ज्ञान।[1] शाकर वेदान्तानुसार स्मृति ज्ञान प्रमा नही है। जिस ज्ञान का विषय बाद मे होने वाले ज्ञान से बाधित हो जाता है, वह ज्ञान प्रमा नही, बल्कि अप्रमा है। यथा—रज्जु मे सर्प का ज्ञान बाद के रज्जु ज्ञान से बाधित होने से अप्रमा है।

विवरण प्रस्थान मे अज्ञात विषयक ज्ञान 'प्रमा' माना जाता है। किंतु इसमें कठिनाई है क्योकि वे अज्ञात विषयक ज्ञान न होकर ज्ञात विषयक ज्ञान कहे जा सकते है। इस समस्या का समाधान करने हेतु अद्वैत वेदान्त मे 'काल' का प्रत्यक्ष स्वीकार किया जाता है। कोई भी ज्ञान क्षण विशिष्ट ही होता है, अतः धारावाहिक प्रमा मे इस प्रकार की शका की कोई संभावना नही रहती।

अद्वैत वेदान्तानुसार 'अबाधित विषयक ज्ञान' को 'प्रमा' कहे जाने का अर्थ है कि यदि उसका व्यावहारिक दशा मे ही बाध हो जाए तो वह ज्ञान प्रमा नही माना जा सकता। श्रुति प्रमाण भी है कि जिस ससार दशा मे द्वैत सा होता है, उस दशा मे भिन्न जीव या भिन्न प्रमाता भिन्न विषय तथा भिन्न पदार्थ को देखता है।[2] अधिष्ठान ब्रह्म के साक्षात्कार तक ही प्रमाण—प्रमेय आदि व्यवहार होता है। इसलिए अद्वैत वेदान्त मे जगत् व्यवहार के लिए 'प्रमा' का उपर्युक्त लक्षण किया जाता है।[3]

ज्ञान दो प्रकार से होता है, परोक्ष तथा अपरोक्ष। परोक्ष ज्ञान मे वस्तु का केवल अस्तित्व ही ज्ञात होता है, जबकि अपरोक्ष ज्ञान मे उसका स्वरूप भी ज्ञात होता है। दोनो ही ज्ञान समान रूप से अन्त करण की वृत्तियॉ है, जिसमे साक्षी व्याप्त रहता है। अपरोक्ष ज्ञान इन्द्रियो के बिना भी हो सकता

---

[1] अनधिगताबाधित विषयज्ञानत्व प्रमात्वम्—वेदान्त परिभाषा, पृ 9

[2] यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरपश्यति—वृह0 उप0 4/5/15

[3] — — —नथा चाबाधितपदेन ससारदशायाम बाधितस्य विवक्षितमिति नघटादि प्रमायाम व्याप्ति ।—वेदान्त परिभाषा, पृ0 17

है, यथा, जीव का ज्ञान। जीव का ज्ञान सदैव अनिवार्यत अपरोक्ष होता है। इसे 'अह' पदार्थ भी कहा जाता है। अपरोक्ष ज्ञान के लिए तीन प्रागपेक्षाएँ आवश्यक हैं, जैसा कि पूर्व मे भी विवेचन कर चुके है। प्रथम तो वस्तु अपरोक्षतः ज्ञात होने योग्य हो। द्वितीय, कि वस्तु का ज्ञान काल मे अस्तित्व हो, अन्यथा प्रत्यक्ष योग्य वस्तु का भी अपरोक्ष ज्ञान नही होगा, अतएव स्मृति अपरोक्ष ज्ञान नही है। तृतीय कि ज्ञाता का सम्बन्धित 'ज्ञेय' वस्तु से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होता हो।

जब किसी ज्ञानेद्रिय का किसी वस्तु से सम्पर्क होता है तो अन्त करण की वृत्तियॉ, प्रकाश की भाति निकलकर उस वस्तु के आकार मे परिणत हो जाती हैं। एक प्रकार से यह सिद्धान्त वास्तववादी है। जब वृत्ति वस्त्वाकाराकारित होती है, तब प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति होती है, क्योंकि वृत्ति अन्त करण का परिणाम है, इसलिए वृत्ति और वस्तु की एकाकारिता वास्तव में जीव एव वस्तु की एकाकारिता होती है।

जब कोई वस्तु प्रत्यक्ष योग्य होती है और प्रत्यक्ष काल मे उसका अस्तित्व होता है तब ज्ञाता एव ज्ञेय वस्तु का सन्निकर्ष अपने आप हो जाता है।

सभी वेदान्तानुयायी व्यवहारिक सत्ता के क्षेत्र मे छ प्रमाणो को को स्वीकार करते है। इन्हे भाट्ट मीमासा मे भी मान्यता दी गयी है। ये छ प्रमाण है – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थपत्ति तथा उपलब्धि। इनमे शब्द प्रमाण वैदिक प्रमाण माना जाता है। अन्य को लौकिक प्रमाण कहा जाता है। निष्कर्षत वेदान्ती मानते है कि ये सभी प्रमाण बह्मविद्या मे साधक है। इस व्याख्या को श्रुत्यनुगृहीत तर्क कहा जाता है। इसके विपरीत व्याख्या शुष्क तर्क कहलाती है, जिसमे इन प्रमाणो को ब्रह्मविद्या में बाधक माना जाता है। शंकराचार्य श्रुत्यनुगृहीत तर्क को मानते है। वेदान्त दर्शन मे इन प्रत्यक्षादि छ प्रमाणो का लक्ष्य अपरोक्ष अनुभव तथा ब्रह्मवाद को सिद्ध करना

है। इन प्रमाणो से लब्ध प्रमाएँ इसी नामो से अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान ----- अर्थपत्ति इत्यादि से अभिहित की जाती हैं।

प्रत्यक्ष–प्रमाण

प्रत्यक्ष शब्द का व्यवहार अत्यधिक व्यापक अर्थ मे होता है। न केवल 'प्रमा' एव 'प्रमाण' के लिए अपितु 'प्रमेय विषय' के लिए भी 'प्रत्यक्ष' पद का प्रयोग करते है। प्रथम, 'प्रमा' वाचक प्रत्यक्ष, यथा–अयघट· इस रूप का ज्ञान है। द्वितीय 'प्रमाण' वाचक प्रत्यक्ष पद, यथा–अयघट इस प्रकार की अन्त करण की वृत्ति प्रमाण कहलाती है। वेदान्तानुयायी 'प्रत्यक्ष प्रमा' के रूप में चैतन्य को स्वीकार करते हैं। [1]इस चैन्तय रुपी प्रमा का करण अन्त करण की वृत्ति है। जो इन्द्रिय सन्निकर्ष जन्य होती है। इस प्रकार यह वृत्ति ही प्रत्यक्ष प्रमाण हुई।[2] तृतीय, प्रमेय विषय का जो प्रत्यक्ष होता है, यथा–'अय घट प्रत्यक्ष·।

विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तो मे 'प्रत्यक्ष' को भिन्न–भिन्न रूप मे परिभाषित किया गया है। साख्य दर्शन 'प्रत्यक्ष' की परिभाषा देता है– 'प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम[3] अर्थात विषयसन्निकृष्ट इन्द्रियो पर आधारित होने वाला निश्चयात्मक ज्ञान ही 'प्रतिविषयाध्यवसाय' है, यही प्रत्यक्ष है। अध्यवसाय से तात्पर्य है बुद्धि–व्यापार या ज्ञान।[4] 'इन्द्रियाँ तो बुद्धि को विषय–देश तक पहुँचाने मे सहायक मात्र है, अध्यवसायात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है जो विषयाकार रूप मे परिणत बुद्धि का धर्म है। न्याय–वैशेषिक दर्शन में व्यवस्थित रूप में प्रमाणो का विवेचन प्राप्त होता है। 'प्रत्यक्ष प्रमा' का लक्षण न्याय मुक्तावलीकार इस प्रकार देते है–'इन्द्रियो से जन्य ज्ञान

---

1 प्रत्यक्ष प्रमा वाऽत्र चैतन्यमेव–वेदान्त परिभाषा पृ0 20।

2 वेदान्त परिभाषा, पृ0 20–24।

3 साख्य कारिका, ईश्वर कृष्ण,

4 'विषय विषय प्रति वर्तते , इति प्रतिविषयमिन्द्रियम्, तस्मिन् अध्यावसाय· इतिप्रतिविषयाध्यवसाय । अध्यवसायश्च बुद्धि व्यापारो ज्ञानम् । — साख्य कारिका तत्व कौमुदी ।

'प्रत्यक्ष' है।[1] तथापि 'इन्द्रियत्व रूप में इन्द्रिय जिस ज्ञान मे करण हो, वही ज्ञान प्रत्यक्ष है। यह लक्षण जीवात्मा के प्रत्यक्ष का लक्षण है, ईश्वर प्रत्यक्ष का नही । न्याय सूत्र मे भी प्रत्यक्ष का लक्षण का इस प्रकार उल्लिखित है – इन्द्रिय का अर्थ के साथ सम्बन्ध होने से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है, जो कि अशाब्द हो, व्यभिचार शून्य हो, तथा विशेषण विशेष्य भावावगाही हो।[2]

वेदान्त ने प्रत्यक्ष प्रमा के करण को प्रत्यक्ष प्रमाण माना है, एव चैतन्य को ही प्रत्यक्ष प्रमा मानते हैं। यह अभिव्यक्त चैतन्य ही अज्ञान का विरोधी है।[3] किन्तु शका यह उपस्थित होती है कि चैतन्य तो अनादि एव कारण रहित है, उसका करण कैसे संभव है ? करण की अपेक्षा तो कार्य को होती है, नित्य पदार्थ को करण की अपेक्षा नही, अतएवं चैतन्य को प्रमा नही माना जा सकता।

वेदान्त मत स्वयं इसका समाधान भी प्रस्तुत करता है उसके मतानुसार साक्षात् ब्रह्मात्मभूत चैतन्य अनादि है, नित्य है, किन्तु अन्त करण की वृत्ति उस चैतन्य की अभिव्यक्ति करती है। अन्तः करण की वृत्तियों पर चैतन्य के प्रतिबिम्ब पडने से हुई प्रक्रिया चिदाभास कही जाती है। इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से अन्त करण की वृत्ति प्रतिक्षण उत्पन्न होती रहती है, अर्थात वृत्ति स्वभावत जन्य होती है। इस चित्तवृत्ति से विशिष्ट चैतन्य को ही, 'सादि' एव इन्द्रियो को उस सादि चैतन्य का करण माना जाता है। [4]

शकराचार्य ज्ञान के साधनो का विवरण अलग से कहीं नही' करते अपितु उनके ग्रन्थों में यत्र–तत्र प्राप्त होते हैं। तर्क सग्रह मे 'प्रत्यक्ष' को

---

1 'इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्षम्' – न्याय मुक्तावली

2 इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यभव्यभिचारिव्यवसायात्मक प्रत्यक्षम् । – न्यायसूत्र ।

3 तत्र प्रत्यक्ष प्रमाया करण प्रत्यक्ष प्रमाण् । प्रत्यक्षप्रभावाऽत्र चैतन्यमेव, यत्साक्षात् अपरोक्षाद् ब्रह्म' इतिश्रुते । अपरोक्षाद् इत्यस्य अपरोक्ष्यन् इत्यर्थ– वेदान्त परिभाषा, पृ0 34–36 ।

4 चैतन्यस्य अनादित्येअपि तदभिव्यंजक अन्त करणवृत्ति इन्द्रियसन्निकर्षादिनाजायते, इति वृत्ति विशिष्ट चैतन्यम् आदिमत् इत्युच्यते। – वे0 प0, पृ0 36 ।

परिभाषित करते हुए कहते हैं कि 'प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो इन्द्रियो ओर वस्तुओ के ससर्ग से उत्पन्न होता है।[1] सभवत आचार्य शंकर प्रत्यक्ष की इस परिभाषा से सहमत हैं। उनके मतानुसार ''शब्दादि से इन्द्रियो का सहयोग होने पर प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष की प्रत्येक क्रिया मे वाह्य वस्तु विद्यमान रहती है जिस कारण प्रत्यक्ष ज्ञान 'स्मृति' से भिन्न हो जाता है। स्मृति मे वाह्य वस्तु से इन्द्रियो का वास्तविक सन्निकर्ष नही होता। आचार्य शकरानुसार 'ब्रह्म के आकार रहित (निराकार) होने से उसका प्रत्यक्ष भी सभव नही। क्योंकि किसी वस्तु के प्रत्यक्ष के लिए उसके आकारादि गुणो का होना आवश्यक है। इन्द्रियों मे एक ऐसी शक्ति होती है जिसके कारण ये अपने विभिन्न विषयो की अभिव्यक्ति करती हैं। ये इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष की 'साधन' अथवा उपकरण होती हैं। इन ज्ञानेन्द्रियो एव मन के द्वारा ही समस्त वस्तुओ का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

प्रत्यक्षत्व के प्रयोजक तत्व

वेदान्त मतानुसार इन्द्रियॉ प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए आवश्यक होते हुए भी वे प्रयोजक नही होती। प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए अन्तःकरण की परिणामरूपा वृत्ति की प्रमाणता मानी गयी है। इसके अभाव मे प्रत्यक्ष ज्ञान ही सम्भव नही है। जिस प्रकार तालाबादि का जल छिद्र से निकल कर नलिका के रास्ते खेतो मे प्रवेश कर उसी के आकार का हो जाता है। उसी भाति तैजस आदि अन्त करण चक्षुरादि इन्द्रियों के माध्यम से निकल कर घटादि विषय तक जाकर उसी विषय के आकार मे परिणमित हो जाता है। यह परिणाम ही अतःकरण की वृत्ति कहा जाता है।[2]

इस प्रकार सिद्ध होता है कि इन्द्रियॉ 'नलिका' की भाति ही प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति माध्यम मात्र है। यहॉ शका उपस्थित होती है कि फिर प्रत्यक्ष

---

[1] इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष जन्य ज्ञान प्रत्यक्षम्।

[2] सएव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते – वे० परि० पृ० 39

रूप का निर्णायक अथवा प्रयोजक तत्व क्या होगा ? इसके समाधान हेतु दो बाते स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए –

(1) वेदान्त सिद्धान्त मे चैतन्य की ही एकमात्र सत्ता स्वीकृत है जो वस्तुत एक होते हुए भी अन्त.करण, अन्त करण की वृत्ति एव विषय, उपाधि भेदों से प्रमातृ चैतन्य, प्रमाण चैतन्य तथा विषय चैतन्य इन तीन प्रकारो का अनुभूत होता है इनमे अन्त करण से अवच्छिन्न चैतन्य ही 'विषय चैतन्य' कहा जाता है।[1]

(2) अद्वैत वेदान्त मे शुद्ध चैतन्य की ही वास्तविक अथवा पारमार्थिक सत्ता मानी गयी है एव व्यावाहारिक रूप मे ही प्रमाण, प्रमेय आदि व्यवहार संभव होते है।[2]

प्रत्यक्ष मे दो प्रकार के व्यवहार होते है, एक तो 'ज्ञान प्रत्यक्ष, दूसरा, विषय प्रत्यक्ष, अर्थात् ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है एवं विषय का प्रत्यक्ष होता है। इन दोनो व्यवहारो के परिपेक्ष्य मे प्रत्यक्ष ज्ञान के दो प्रयोजक तत्व माने गए है, प्रथम, ज्ञानगत प्रत्यक्ष, द्वितीय विषयगत प्रत्यक्ष।

न्याय दर्शन के मतानुसार इन्द्रिय जन्यत्व, प्रत्यक्ष का प्रयोजक माना गया है। वेदान्त मतानुसार ज्ञानगत प्रत्यक्ष के प्रयोजक तत्व तथा विषयगत प्रत्यक्ष के- प्रयोजक तत्व ये दोनो भिन्न–भिन्न होते है। यद्यपि चैतन्य को ही प्रत्यक्ष का प्रयोजक माना गया है, तथापि चैतन्य भी भिन्न–भिन्न रूप से प्रत्यक्ष का प्रयोजक होता है।

ज्ञानगत प्रत्यक्ष

ज्ञान गत प्रत्यक्ष का प्रयोजक 'प्रमाण चैतन्य का विषयावच्छिन्न चैतन्य से अभेद है। वस्तुत· चैतन्य के एक होने पर भी उपाधि भेद से उसके तीन रूप माने जाते है प्रथम विषय चैतन्य, द्वितीय प्रमाण चैतन्य, तृतीय प्रमातृ चैतन्य। धटादि विषयो से युक्त चैतन्य को विषय चैतन्य, अन्त करण की

---

[1] त्रिविध चैतन्य– – – – – – – – –प्रमातृचैतन्यम्। – वे० परि० पृ० 37
[2] वेदान्त परिभाषा – पृ० 17

वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य को प्रमाण चैतन्य तथा अन्त करण से अवच्छिन्न चैतन्य को प्रमातृ चैतन्य कहते हैं।[1] इनमे से जब प्रमाण चैतन्य एवं विषय चैतन्य का अभेद होता है, तब उसे 'ज्ञानगत प्रत्यक्ष' कहते है।

परिणामी अन्त करण विषय के निकट जाकर विषयाकाराकारित हो जाता है, यथा सरोवर का जल, प्रणालिका द्वारा खेत मे जाकर उसके आकार का हो जाता है। अन्त करण का विषयाकाराकारित होना ही 'वृत्ति' कहलाता है।

अद्वैत मतानुसार गुण द्रव्य से भिन्न नहीं अपितु द्रव्य पर ही आश्रित रहते हैं। अतः जैसे साकार द्रव्य के रूप मे अन्तःकरण की वृत्ति बनती है, वैसे ही द्रव्याकार से परिणति ही गुणाकार से परिणति मानी जाती है।

न्याय दर्शन मानता है कि अन्त करण का परिमाण अणु है, तथा अणु परिमाण वाले द्रव्य का परिणमन संभव नहीं। महत् परिमाण मानने पर अन्तःकरण की उत्क्रान्ति गति संभव नहीं तथा माध्यम परिमाण मानने पर देहादि की भांति मन्द गति वाला हो जाएगा। अत. अन्त करण अणु परिमाण वाला ही है। इस प्रकार वह विषयाकाराकारित नहीं होता, तथा उसकी वृत्ति भी नहीं बनती । इससे चैतन्य के भेद बनेगे, तथा यह प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण भी नही बन सकेगा।

अद्वैत वेदान्त इसका समाधान देता है कि अन्त.करण सावयव है, निरवयव नही। यह 'सादि' है क्योकि इसकी उत्पत्ति होती है तथा उत्पन्न होने वाला द्रव्य चूकि अवयवी होता है, अतः अन्तःकरण सावयव माना गया है। श्रुति वर्णित भी है कि 'ब्रह्म ने मन का सृजन किया'।[2] न्याय दर्शन की भॉति अन्त करण अणु परिमाण वाला नही माना जा सकता। क्योकि तब उसे देहगत सुखादि का अनुभव नही हो सकेगा। चूंकि यह अन्त.करण प्राणशक्ति

---

[1] त्रिविध चैतन्य, विषय चैतन्य– – – – अन्त करणावच्छिन्न चैतन्यं, प्रमातृचैतन्यम्। – वे0 प0 प्र0 प0

[2] न तावत् अन्त.कारण निरवयम्.. . इत्यादि श्रुते । वे0 प0 प्र0 प0

का आश्रय कहा गया है, अत जब वह दूरस्थ देश जाता है तब अणु परिमाण होने पर अन्त करण के निर्जीव होने की शका उपस्थित होगी, अत अन्त करण का अणु परिमाण नही है वह सावयव ही माना जाएगा। सावयव मानने पर ही उसकी वृत्ति बन सकेगी। इस वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य के उपरोक्त तीन रूपो मे प्रमाण चैतन्य एव विषय चैतन्य के ऐक्य को ज्ञानगत प्रत्यक्ष का प्रयोजक माना जाता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के वर्णन मे स्थल रूप से ऐसा ज्ञात होता है कि घट ज्ञान तथा वृत्तिज्ञान मे परस्पर भेद है। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विश्लेषण करने पर यह असगत सिद्ध होता है, क्योकि जब इन्द्रिय एव विषय का सन्निकर्ष होने पर अन्त करण बाहर निकलता है, उस काल मे 'अयघट' इस घट के विषय एव विषयाकार वृत्ति दोनो की एक स्थिति होने से दोनो चैतन्य एक हो जाते है। इस समय उपाधियाँ दोनो मे भेद नही कर पाती अत दोनो में ऐक्य ही रहता है। यथा, गृह मे स्थित घट मे से अवच्छिन्न आकाश एव गृहावच्छिन्न आकाश मे अभिन्नता रहती है।[1]

अतएव जब दो उपाधियाँ एक देश मे उपस्थित रहती है, तब वे विषयो मे भेद नही कर पाती। अत 'अय घट' इस प्रत्यक्ष ज्ञान मे घटाकार वृत्ति घट से सयुक्त हो जाती है, अत घटावच्छिन्न चैतन्य एव घटवृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य दोनो का अभेद हो जाता है। तब 'अय घट' इस घट ज्ञान के प्रत्यक्ष स्थल मे घट अश का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।[2]

ध्यातव्य है कि धटादि विषयो का प्रत्यक्ष तो माना गया है, क्योकि उसके साथ अन्त करण की वृत्ति बन सकती है। वह इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष जन्य है। किन्तु सुख–दुख आदि इन्द्रिय सयोग के विषय नही। उनके

---

[1] तथा च अय घट इत्यादि प्रत्यक्षस्थले घटावाच्छिन्नाकाशो न मठावच्छिन्नाकाशात् भिद्यते। वे0 प0 प्र0 प0।

[2] तथा च अय घट इति घट प्रत्यक्षस्थले . तत्र घट ज्ञानस्य घटाकाशे प्रत्यक्षत्वम्। वे0 प0 प्र0 प0।

आकार मे तो अन्तकरण परिणत नही हो सकता, अत उनका प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? इसका समाधान अद्वैत मतानुयायी देते है कि सुख, दुख, काम, द्वेष, सकल्पादि भाव अन्तकरण के धर्म है। अतएव वे सदैव अन्तकरण मे ही रहते है। जब सुख–दुख आदि का अनुभव होता है, उस समय सुखादि आकार वाली अन्तकरण की वृत्ति भी अन्तकरण मे ही रहती है। अतएव 'सुखादि 'विषय से अवच्छिन्न चैतन्य तथा सुखादि आकार की चित्तवृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य दोनो ही उपाधियाँ एक ही स्थान मे उपस्थित रहने से उपधेय मे भेद नही रहता, अत दोनो के ऐक्य पूर्वक सुख–दुख आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है।

वाह्य विषयाकार अन्तकरण की वृत्ति इन्द्रिय सम्बन्ध की अपेक्षा रखती है, किन्तु आन्तरिक विषयाकार वृत्ति स्वयं अन्त.करण मे ही उत्पन्न होती है।

यहाँ यह विचार करना आवश्यक है कि दो उपाधियो का एक स्थान पर रहना ही उपधेय के अभेद का प्रयोजक है। 'मै पहले सुखी था' ऐसा व्यवहार करने पर अन्तकरण वृत्ति सुख भूतकालिक रहता है, तथा स्मृति रूप मे अन्त‑करण वर्तमान का द्योतन करता है। यहाँ दोनो मे काल भेद है।

यहाँ सुखादि विषय के साथ वर्तमान विशेषण के साथ ही योग्य विशेषण अर्थात् प्रत्यक्ष की योग्यता भी होनी चाहिए। इस प्रकार प्रमाण चैतन्य के साथ वर्तमान एव प्रत्यक्ष ज्ञान योग्य विषयावच्छिन्न चैतन्य का अभेद ही ज्ञान गत प्रत्यक्ष का नियामक है, यह सिद्ध होता है।

विषयगत प्रत्यक्ष

विषयचैतन्य एव प्रमाण चैतन्य का अभेद ज्ञानगत प्रत्यक्ष का प्रयोजक है। प्रमातृ चैतन्य तथा विषय चैतन्य का अभेद विषयगत प्रत्यक्ष है।[1]

---

1 घटादेर्विषयस्य प्रत्यक्ष तु प्रमातृ भिन्नत्वम्। – वे० प० प्र० प०।

किन्तु प्रमाता एव प्रमेय के अभेद को विषयगत प्रत्यक्ष मानने पर यह शका उपस्थित होती है कि इस अभेद का तात्पर्य क्या है? घटादि विषयो का प्रमाता से अभेद या विषयावच्छिन्न चैतन्य एव प्रमाता का अभेद।

इन दोनो विकल्पो मे प्रथम विकल्प विषयो का प्रमाता से अभेद उपयुक्त नही, क्योकि प्रमाता चेतन है एव विषय जड, इन दोनो का ऐक्य सभव नही।

द्वितीय विकल्प भी उपयुक्त नही। विषयावच्छिन्न चैतन्य एव प्रमाता का अभेद मानने पर, जिस प्रकार 'अह मनुष्य' यह ज्ञान होता है, उसी प्रकार 'अह घट' ऐसा ज्ञान भी होना चाहिए, किन्तु व्यावहारिक रूप से ऐसा नही होता। अतएव प्रमाता एव विषय के अभेद को विषयगत प्रत्यक्ष का प्रयोजक नही माना जा सकता।

वास्तव मे सिद्धान्तत प्रमाता एव विषय का अभेद कहने का तात्पर्य यह नही कि प्रमाता एव विषय एक ही है, अपितु प्रमाता के अस्तित्व से अतिरिक्त घटादि विषयो का अस्तित्व न होना, इसका तात्पर्य होता है।[1] क्योकि घटादि विषय चैतन्य प्रमाता से आरोपित है, जो वस्तु आरोपित नही है, उसका अस्तित्व अधिष्ठान के अस्तित्व से व्यतिरिक्त नही माना जाता। यथा 'अय सर्प' मे रज्जु मे सर्प आरोपित है, अत सर्प का अस्तित्व, रज्जु के अस्तित्व से व्यतिरिक्त नही है। उसी प्रकार चैतन्य मे घटादि विषयो का आरोप हुआ है, अत उन विषयो का अस्तित्व चैतन्य व्यतिरिक्त नही होगा।

यहाँ पुन यह शका उपस्थित होती है कि यदि प्रमाता एव विषय का अभेद है, तो धर्म–अधर्म का ज्ञान भी प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा होना चाहिए। किन्तु सिद्धान्तत यह माना जाता है कि प्रत्यक्ष प्रमाण वेद्य विषय मे प्रत्यक्ष योग्यता का होना अपेक्षित है। यदि विषय प्रत्यक्ष वेद्य विषय मे प्रत्यक्ष योग्यता का होना अपेक्षित है। यदि विषय प्रत्यक्ष योग्य है, एव उसका अस्तित्व प्रमाता के

---

[1] प्रमातृभेदो नाम न वदैकम्, किन्तु प्रमातृ सत्तारिक्त सत्ताकत्वाभाव। – वे0 प0 प्र0 प0।

अस्तित्व से अभिन्न है, तो उस विषय का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सभव है। अतएव उपर्युक्त आशका उपयुक्त नही है।

इस प्रकार विषय चैतन्य के प्रमाण चैतन्य से अभिन्न होने पर तथा प्रमाण चैतन्य के प्रमातृ चैतन्य से अभिन्न होने के कारण, विषय चैतन्य तथा प्रमातृ चैतन्य भी अभिन्न होते है, यही "विषय का प्रमाता के अभेद" है।[1]

प्रमाता के प्रत्यक्ष होने का तात्पर्य है, इन तीनो अर्थात् प्रमाण चैतन्य, प्रमातृ चैतन्य तथा विषय चैतन्य की अभिन्नता। अर्थात् प्रत्यक्ष योग्य विषय का विषयाकार वृत्ति से उपहित प्रमातृ चैतन्य रूप सत्ता से भिन्न सत्ता का न होना ही विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है।[2] जिसका व्यपदेश तो प्रमातृ चैतन्य स्वरूप ही है। प्रमातृ चैतन्य ही घटादि पदार्थों का अधिष्ठान स्वरूप होने के कारण प्रमातृ सत्ता ही घटादि पदार्थों की सत्ता है।

यहॉ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि अनुमिति इत्यादि ज्ञान स्थलो मे अन्त करण वृत्ति का वह्नि आदि मे गमन न होने के कारण वह्नि अवच्छिन्न चैतन्य प्रमातृ चैतन्य युक्त नही होता। अतएव वह्नि आदि की सत्ता प्रमातृ सत्ता से अभिन्न न होने से अनुमिति इत्यादि ज्ञान मे उपर्युक्त विषयगत प्रत्यक्ष लक्षण की अतिव्याप्ति नही होती।[3]

धर्म एव अधर्म का प्रत्यक्ष सभव नही , क्योकि वे प्रत्यक्ष के योग्य नही है, इसलिए उनमे भी लक्षण का अतिप्रसक्ति रूप दोष नही बनता।

पूर्वपक्षी एक अन्य प्रश्न उपस्थित करता है कि प्रत्यक्ष योग्य विषय होने पर भी 'रूपवान घट' इस प्रत्यक्ष ज्ञान मे घटरूप के साथ ही घटगत परिमाणादि का भी इसी काल मे प्रत्यक्ष होना चाहिए, क्योकि दोनो से ही अवच्छिन्न चैतन्य में ऐक्य होने से जिस प्रकार रूपावच्छिन्न चैतन्य की प्रमातृ

---

[1]प्रमातृ चैत्न्याभेद, एव विषयस्य प्रत्यक्षत्वामिति वक्तव्यम् ।– अद्धैत तत्व शुद्धि, पृ0,4

[2]तदय निर्मलितोऽर्थ स्वाकारवृत्त्युपहित प्रमातृ चैतन्य सत्तातिरिक्त सत्ताकत्तव शून्यत्वे सतियोग्यत्व विषयस्य प्रत्यक्षत्वम्।

[3]अनुमित्य'दिस्थले त्वन्त करणस्य प्रमातृसत्तातौभिन्नेति नाऽतिव्याप्ति।– वे0 परि0 पृ0 65।

चैतन्य से अभिन्नता है, उसी प्रकार घटगत परिमाणादि अवच्छिन्न चेतन्य की भी प्रमातृ चैतन्य से अभिन्नता होनी चाहिए। किन्तु यह तर्क अनुचित (असगत) है। क्योकि जब अन्त करण की वृत्ति रूपाकार होती है, तब परिमाणादि के आकार की वृत्ति नही बनती। अतएव, उस काल मे प्रमातृ चैतन्य परिमाणादि के आकार की वृत्ति से उपहित नही रहता। इस कारण घटरूपकाल मे परिमाण का प्रत्यक्ष नही होता। अत यहा भी लक्षण की अतिव्याप्ति नही होती।[1]

इन दोषो का निवारण हो जाने पर भी पूर्वपक्षी यदि यहॉ आशका करे कि परिमाणादि मे प्रत्यक्ष के साक्षात्कार के न होने से प्रमाता मे तद्विषयकार वृत्ति न बनने पर भी वृत्ति के प्रत्यक्ष मे अव्याप्ति दोष व्याप्त हो जाता है, क्योकि अनवस्था दोष के निवरणार्थ घट को विषय बनाने वाली घटाकार वृत्ति की भॉति वृत्ति को विषय करने वाली अन्य वृत्ति नही मानी जा सकती, और ऐसा न मानने पर वृत्ति प्रत्यक्ष स्थल मे विषयाकार वृत्ति उपहितत्त्व घटित वृत्ति–लक्षण अव्याप्त हो जाएगा।

इसके समाधान हेतु वेदान्ती कहते है कि घटाकार वृत्ति को विषय करने वाली दूसरी वृत्ति के न मानने वर भी वृत्ति मे उस वृत्ति का ही स्वविषयत्व मान्य है, अर्थात् विषय के प्रत्यक्ष के लिए वृत्ति अपेक्षित है। वृत्ति के लिए वृत्त्यन्तर की आवश्यकता नही है, क्योकि उसी वृत्ति से उसका स्वय प्रकाश भी होता है कोई भी वृत्ति स्वय से भिन्न वृत्ति द्वारा अवच्छिन्न चैतन्य से प्रकाशमान नही होती। इस प्रकार सिद्ध है कि स्वय को विषय करने वाली वृत्ति से उपहित प्रमातृ चैतन्य के साथ विषयावच्छिन्न चैतन्यरुपा वृत्ति की अभिन्नात्मकता है।[2] इसी तरह अन्तःकरण एव अन्त करण के धर्म

---

[1] वेदान्त परिभाषा, पृ0 66

[2] अनवस्थाभिया वृत्तेत्यन्तरा विषयत्वेऽपि स्वविषयत्वाभ्युपगमेन स्वविषयवृत्युपहितप्रमातृ चैतन्याभिन्नसत्ताकत्त्वस्य तत्रापि भवात्।– वे0 परि0 पृ0 69–70।

काम–क्रोधादि केवल साक्षी के विषय माने जाते है। किन्तु साक्षी के विषय मानते हुए भी तदाकार वृत्ति भी मानी गयी है।[1]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अद्धैत वेदान्त मत मे सामान्यत अन्त करण वृत्ति ही प्रत्यक्ष प्रमाण बनती है एवं 'विषय ज्ञान' प्रमा। ज्ञानगत प्रत्यक्ष के प्रयोजक के रूप में प्रमाण चैतन्य तथा विषय चैतन्य का अभेद ही स्वीकृत है जिसका समदेश एव समकालीन होना आवश्यक है तथा साथ ही विषय मे प्रत्यक्ष की योग्यता भी अपेक्षित है।

इसी प्रकार विषयगत प्रत्यक्ष मे विषय चैतन्य तथा प्रमातृ चैतन्य का अभेद होना ही विषयगत प्रत्यक्ष का प्रयोजक है एव इस अभेद के लिए भी समकालीन तथा समानदेश के साथ–साथ विषय मे प्रत्यक्ष की योग्यता भी अपेक्षित है।

प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण एवं लक्षण समन्वय

अद्धैत वेदान्त लक्षण देता है "प्रत्यक्ष प्रमाया करण प्रत्यक्ष प्रमाणम्"[2] एव "प्रमा चात्र चैतन्यमेव"[3] के द्वारा शुद्ध चैतन्य को ही प्रत्यक्ष प्रमा मानता है। अद्धैत वेदान्ती प्रत्यक्ष प्रमा के कारण को प्रत्यक्ष प्रमाण मानकर चैतन्य तथा प्रत्यक्ष प्रमा मे अभेद स्वीकार करते हैं। वृहदारण्यकोपनिषद् मे भी वेदान्त सम्मत चैतन्य के प्रमात्व का निरूपण प्राप्त होता है।[4]

"प्रत्यक्ष प्रमाया· करणं प्रत्यक्ष प्रमाणम्" इस लक्षण को पदकृत्य करने पर लक्षण मे 'प्रत्यक्ष प्रमाया करण' के स्थान पर मात्र प्रामया करण' रखने पर 'प्रमा का कारण ही प्रत्यक्ष प्रमाण' है। ऐसा अर्थ प्राप्त होता है किन्तु यह लक्षण अनुमानादि मे भी मान्य होने से ये अतिव्याप्ति दोष युक्त हो जाता है। अतएव "प्रत्यक्ष प्रमाया करण" पद रखा गया है।

---

[1] चान्त करण तद्धर्मादभिन्न उक्तलक्षणस्य तत्रापि सत्तवान्नाव्याप्ति ।– वे० परि०, पृ० 70।

[2] वेदान्त परिभाषा, पृ० 20 एव अद्धैत तत्व शुद्धि, पृ० 2

[3] प्रत्यक्ष प्रमाचात्र चैतन्येव – वेदान्त परिभाषा, पृ० 20

[4] यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म – वृह० 3/4/1

'प्रमा' एव 'प्रमाण' दोनो ही के लिए के लिए 'प्रत्यक्ष शब्द प्रयुक्त होता है। यथा 'घट' का नेत्रेन्द्रिय से सन्निकर्ष द्वारा 'अय घट' इस प्रकार का प्रमा ज्ञान 'प्रत्यक्ष' कहलाता है, तथा इस प्रमा ज्ञान का करण 'प्रमाण 'भी प्रत्यक्ष ही अभिहित होता है।

'प्रमाया· पद के स्थान पर लक्षण मे 'ज्ञानस्य' शब्द का प्रयोग नही कर सकते, क्योंकि 'ज्ञान' तो भ्रम ज्ञान' भी होता है, तथा 'भ्रम ज्ञान' 'यथार्थ ज्ञान' हो नहीं सकता। क्योकि शुक्तिका मे रजत का प्रत्यक्ष होते हुए भी यह प्रमाण नही बनता क्योकि यहाँ भ्रम ज्ञान है।

अद्वैत वेदान्त मे चैतन्य को प्रत्यक्ष प्रमा माना जाता है तथा प्रत्यक्ष प्रमा रूप चैतन्य बह्म ही है। तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष प्रमा, चैतन्य एव ब्रह्म ये एक दूसरे के पयार्यवाची हैं।

यहाँ यह आशंका उपस्थित होती है कि प्रत्यक्ष प्रमा रूप चैतन्य मे चक्षुश्रोत्रादि इन्द्रियाँ 'करण' कैसे बन सकती है क्योकि चैतन्य तो अनादि होने से अनुपपन्न है। [1] वेदान्त शास्त्र इसका समाधान देता है कि यद्यपि साक्षात् ब्रह्मात्मभूत चैतन्य अनादि होने से अनुपपन्न है, तथापि उसकी अभिव्यक्ति अन्तकरण की वृत्ति द्वारा ही होती है। अन्तकरण की यह वृत्ति इन्द्रियसन्निकर्ष द्वारा निरन्तर उत्पन्न होती रहती है। अतएव वृत्ति से विशिष्ट चैतन्य भी उत्पत्ति धर्मा ही हुआ। [2] इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमा रूप चैतन्य मे चक्षुरादि इन्द्रियाँ करण प्रतीत होती है।

अन्तकरण की वृत्ति एव ज्ञान मे विशेष्य विशेषण अथवा अवच्छेद–अवच्छेदक सा सम्बन्ध है। इसलिए वृत्ति अर्थ मे चैतन्य ज्ञान का प्रयोग लक्षणा अर्थ मे किया जाता है। इस सदर्भ मे 'विवरण' प्रकाश मे

---

[1] ननु चैतन्यमनादि तत्कथ चक्षुरादेस्तत्करणत्वेन प्रमाणत्वामिति – वे0 परि0 पृ0 24

[2] चैतन्यस्नानादित्वऽपि किमि व्यजकान्त करणवृत्तिरिन्द्रियसन्निकर्षादिनी जायते, इति वृत्ति विशिष्ट चैतन्यमादिमादित्युच्यते–वे0 परि0, पृ0 25 एव अद्वैत तत्वशुद्धि, पृ0 3

'प्रमा' एव 'प्रमाण' दोनो ही के लिए के लिए 'प्रत्यक्ष शब्द प्रयुक्त होता है। यथा 'घट' का नेत्रेन्द्रिय से सन्निकर्ष द्वारा 'अय घट ' इस प्रकार का प्रमा ज्ञान 'प्रत्यक्ष' कहलाता है, तथा इस प्रमा ज्ञान का करण 'प्रमाण 'भी प्रत्यक्ष ही अभिहित होता है।

'प्रमाया पद के स्थान पर लक्षण मे 'ज्ञानस्य' शब्द का प्रयोग नही कर सकते, क्योंकि 'ज्ञान' तो भ्रम ज्ञान' भी होता है, तथा 'भ्रम ज्ञान' 'यथार्थ ज्ञान' हो नहीं सकता। क्योकि शुक्तिका मे रजत का प्रत्यक्ष होते हुए भी यह प्रमाण नही बनता क्योकि यहॉ भ्रम ज्ञान है।

अद्वैत वेदान्त मे चैतन्य को प्रत्यक्ष प्रमा माना जाता है तथा प्रत्यक्ष प्रमा रूप चैतन्य बह्म ही है। तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष प्रमा, चैतन्य एव ब्रह्म ये एक दूसरे के पयार्यवाची है।

यहॉ यह आशका उपस्थित होती है कि प्रत्यक्ष प्रमा रूप चैतन्य मे चक्षुश्रोत्रादि इन्द्रियॉ 'करण' कैसे बन सकती है क्योकि चैतन्य तो अनादि होने से अनुपपन्न है। [1] वेदान्त शास्त्र इसका समाधान देता है कि यद्यपि साक्षात् ब्रह्मात्मभूत चैतन्य अनादि होने से अनुपपन्न है, तथापि उसकी अभिव्यक्ति अन्त करण की वृत्ति द्वारा ही होती है। अन्त करण की यह वृत्ति इन्द्रियसन्निकर्ष द्वारा निरन्तर उत्पन्न होती रहती है। अतएव वृत्ति से विशिष्ट चैतन्य भी उत्पत्ति धर्मा ही हुआ। [2] इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमा रूप चैतन्य मे चक्षुरादि इन्द्रियॉ करण प्रतीत होती है।

अन्त करण की वृत्ति एव ज्ञान मे विशेष्य विशेषण अथवा अवच्छेद– अवच्छेदक सा सम्बन्ध है। इसलिए वृत्ति अर्थ मे चैतन्य ज्ञान का प्रयोग लक्षणा अर्थ मे किया जाता है। इस सदर्भ मे 'विवरण' प्रकाश मे

---

[1] ननु चैतन्यमनादि तत्कथ चक्षुरादेस्तत्करणत्वेन प्रमाणत्वामिति – वे० परि० पृ० 24

[2] चैतन्यस्नानादित्वऽपि किमि व्यजकान्त करणवृत्तिरिन्द्रियसन्निकर्षादिनी जायते, इति वृत्ति विशिष्ट चैतन्यमादिमादित्युच्यते–वे० परि०, पृ० 25 एव अद्वैत तत्वशुद्धि, पृ० 3

प्रकाशत्म्ययति अन्त करण की वृत्ति मे औपचारिक दृष्टि से ज्ञान का प्रयोग कहते है।[1]

अन्तत वेदान्तशास्त नेत्रादि इन्द्रियो को प्रत्यक्ष प्रमारूप चैतन्य की अभिव्यजक होने के कारण, करण रूप मे स्वीकार तो करता है, किन्तु उसमे शुद्व चैतन्य के प्रति करणत्व सम्भव नही है क्योकि शुद्ध चैतन्य तो स्वय प्रमाण है एव स्वय प्रमाण चैतन्य की सिद्धि के लिए प्रमाण–व्यापार अपेक्षित नही । प्रमाण व्यापार व्यावहारिक स्तर पर ही सम्भव है, परमार्थिक स्तर पर नही, ऐसी अद्वैत वेदान्त की मान्यता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद

अद्वैत वेदान्त शास्त्र 'ज्ञान' के प्रत्यक्ष के साथ ही इसके विषयो को भी प्रत्यक्ष मानता है। किन्तु सभी वेदान्ताचार्यो द्वारा "ज्ञानगत प्रत्यक्ष" एव "विषयगत प्रत्यक्ष" के अतिरिक्त 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' तथा 'सविकल्पक प्रत्यक्ष'[2] एव पुन इनके दो भेद 'जीव–साक्षी' तथा 'ईश्वर–साक्षी' प्रत्यक्ष स्वीकार किये जाते है।[3] प्रकारान्तर द्वारा इस प्रत्यक्ष के 'इन्द्रिय जन्य' तथा 'इन्द्रियाजन्य' भेदो को स्वीकार किया जाता है।[4]

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष

अद्वैत वेदान्तानुयायी "निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' का लक्षण अन्य शास्त्रो अन्य शास्त्रो की भॉति ही स्वीकार करते है। किन्तु निर्विकल्पक 'प्रत्यक्ष' द्वारा होने वाले 'अर्थ–बोध' के विषय मे अन्य मतो से वेदान्त का मतभेद है।[5]

वेदान्त शास्त्रानुसार 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' का लक्षण इस प्रकार है– " विशेष्य एव विशेषण के सम्बन्ध को, अर्थात् ससर्ग को विषय न करने वाला

---

[1] ज्ञानावच्छेदकत्वाच्च वृत्तौ ज्ञानत्वोपचार । तदुक्त विवरेणअन्त करण वृत्तौ ज्ञानत्वोपचारात्–वे0 परि0 पृ0 25

[2] इद च प्रत्यक्ष सविकल्पक निर्विकल्पक भेदेन द्विविधम्–अद्वैत तत्व शुद्धि पृ0 15

[3] तच्च प्रत्यक्ष पुनर्द्विविधम् जीव साक्षि ईश्वर साक्षिचेति– वे0 परि0 पृ0 85

[4] उक्त प्रत्यक्ष प्रकारान्तरेण द्विविधम् इन्द्रियजन्य तदजन्य चेति–वे0 परि0 पृ0/42–43

[5] The Six Systems of Indian Philosophy – Page 76

ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान होता है।"[1] अर्थात् जिस ज्ञान मे विशेष्य–विशेषण क परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान न हो उसे निर्विकल्पक कहते है। यथा यह वही देवदत्त है 'अथवा' तुम वही हो।[2] इसमे 'सोऽय देवदत्त ' यह लौकिक तथा 'तत्त्वमसि' यह वैदिक उदाहरण है।

'सोऽय देवदत्त का तात्पर्य है कि किसी पुरूष ने पूर्वकाल मे देवदत्त नामक व्यक्ति को देखा था। कुछ काल पश्चात् पुन देवदत्त को देखने पर उसे ज्ञान हुआ कि वही देवदत्त है। इस उदाहरण मे 'स' का अर्थ है तत्काल विशिष्ट एव तत्स्थान विशिष्ट। देवदत्त एव 'अय' का तात्पर्य है वर्तमान काल विशिष्ट एव वर्तमान देश विशिष्ट देवदत्त। यदि यहॉ पर 'सोऽय देवदत्त मे भूतकाल विशिष्ट एव अतीत देश विशिष्ट देवदत्त का वर्तमान काल विशिष्ट एव वर्तमान देश विशिष्ट देवदत्त से अभिन्नता का बोध होता, तो यह ज्ञान सविकल्पक माना जाता। किन्तु 'सोऽय देवदत्त' मे विशेषण सम्बन्ध स्थापित हुए बिना ही ज्ञान होता है, केवल देवदत्त की प्रतीति मात्र होती है, तथा इस प्रतीति मे भाग–त्याग लक्षणा सहायक बनती है। इस लक्षणा द्वारा विशेषण अशों को छोड दिया जाता है। अत ऐसे स्थान मे शुद्ध देवदत्त की प्रतीति होती है, विशिष्ट देवदत्त की नही। यही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है।

वैदिक उदाहरण 'तत्त्वमसि' मे भी केवल चैतन्य मात्र का बोध होता है। 'तत्' का तात्पर्य है सर्वज्ञत्व एव परोक्षत्व विशिष्ट चैतन्य तथा 'त्व' का तात्पर्य है अल्पज्ञत्व विशिष्ट चैतन्य। यद्यपि विरूद्ध धर्मों के कारण इन दोनो प्रकार के चैतन्य का ऐक्य सभव नही, तथापि यहॉ भी भाग– त्याग लक्षणा से विशेषणाश सर्वज्ञत्व एव परोक्षत्व तथा अल्पज्ञत्व का त्याग कर केवल मात्र 'चैतन्य' का बोध होता है। यह ज्ञान इन्द्रिय जन्य नही है। इन्द्रिय–जन्य

---

[1](क) निविर्कल्पक तु ससर्गानवगाहि ज्ञानम्– के० परि० पृ० 76
(ख) तद्दिद प्रत्यक्ष निर्विकल्पकमिति–अद्वेत तत्वशुद्धि पृ० 15

[2] यथा 'सोऽयदेवदत्त तत्वमसि' इत्यदि वाक्य जन्यज्ञानम्–वेदान्त परिभाषा, पृ० 76–76

ज्ञान मे विशेषण–विशेष्य के सम्बन्ध का ज्ञान देश, कालादि विषयक ज्ञान होता है, किन्तु शब्द के माध्यम से उत्पन्न ज्ञान मे ये तथ्य नही है, उसमे केवल तात्पर्य का ही ज्ञान होता है। अतएव यहॉ निर्विकल्पक ज्ञान द्वारा शुद्ध चैतन्य का ही बोध हो रहा है।

यहॉ यह आशका उपस्थित होती है कि 'सोऽय देवदत्त' एव 'तत्त्वमासि' इत्यादि तो वाक्यजन्य ज्ञान होने से शब्द रूप कहे जाएगे न कि प्रत्यक्ष ज्ञान। क्योकि प्रत्यक्ष तो इन्द्रिय–जन्य ज्ञान कहलाता है। किन्तु वेदान्त दर्शन इसका समाधान करता है कि 'ज्ञान के प्रत्यक्ष' मे 'ज्ञान का इन्द्रिय जन्य होना प्रयोजक नही है, अपितु प्रत्यक्ष योग्य एव वर्तमान विषय से अवच्छिन्न चैतन्य का प्रमाण चैतन्य के साथ अभेदता ही उस प्रत्यक्ष ज्ञान का प्रयोजक है।[1]

इस प्रकार अद्वैत मतानुयायी स्वीकार करते हे कि 'सोऽय देवदत्त.' इस वाक्य जन्य ज्ञान द्वारा सन्निकृष्ट वस्तु को विषय बनाने के लिए अन्त करण की वृत्ति बाहर निकलती है। ऐसा मानने से देवदत्तावच्छिन्न चैतन्य तथा देवदत्ताकारवृत्यावच्छिन्न चैतन्य का अभेद होने पर 'सोऽय देवदत्त' तथा इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इत्यादि भी प्रत्यक्ष ही है। क्योकि इस ज्ञान मे प्रमाता के ही विषय होने से विषयावच्छिन्न चैतन्य एव वृत्त्यावच्छिन्न चैतन्य का अभेद रहता है।[2]

पुन यह सदेह उपस्थित होता है कि वाक्य जन्य ज्ञान भी वाक्य स्थित प्रत्येक पद के अर्थ मे संसर्ग को विषय करता है, अत 'पदार्थ' ससर्गावगाही होने से सविकल्पक ही होना चाहिए, न कि निर्विकल्पक। इस समस्या का समाधान 'वेदान्त परिभाषा' मे मिलता है कि वाक्य जन्य ज्ञान पदार्थ ससर्ग को ही विषय करता है, ऐसा कोई सिद्धान्त नही बनता। क्योकि

---

[1] न हि इन्द्रिय जन्यत्व प्रत्यक्षत्वे तन्त्र दृषितत्वात्। किन्तु योग्यवर्तमान विषयकत्वे सति प्रमाणचैतन्यस्य विषयचैतन्या भिन्नत्वभित्युक्तम् – वे0 परि0, पृ0 79। तथा– नहि इन्द्रियजन्यमेव प्रत्यक्षमित्यद्वैतिना सिद्धान्त – अद्वैत तत्व शुद्धि, पृ0 13

[2] तथा च 'सोऽयदेवदत्त इति विषयत्वतृदभयाभेदेस्य सत्वात्–वे0परि0,पृ0 79

ऐसा मानने पर तो अनभिमत ससर्ग भी वाक्य जन्य ज्ञान का विषय होने लगता। यथा, भोजन के समय 'सैन्धवमानय' से तात्पर्य है 'सैन्धव–नमक', न कि 'सिन्धु देश के घोडे। अतएव विद्वान 'तात्पर्य विषयत्व' को ही वाक्यजन्य ज्ञान मे नियामक स्वीकार करते है अर्थात् वक्ता का जो तात्पर्य होता है, वही वाक्यजन्य ज्ञान का विषय होता है।[1]

वेदान्त दर्शन अभिमत "निर्विकल्पक प्रत्यक्ष" न्याय दर्शन से भिन्न है। न्याय का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष, प्रत्यक्ष ज्ञान का अश माना जा सकता है। सविकल्पक प्रत्यक्ष मे इसकी पूर्णता होती है।

बौद्ध दर्शन मत मे निर्विकल्पक का विषय स्वलक्षण है। किन्तु स्वलक्षण क्षणिक होने से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय नही बन सकता।

न्याय के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मे घट–घटत्व के ज्ञान के लिए इन्द्रिय सन्निकर्ष अपेक्षित है किन्तु वेदान्त दर्शन के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मे नही। वेदान्त मतानुसार शुद्ध चैतन्य ही निर्विकल्पक ज्ञान का विषय है। शुद्ध चैतन्य का ज्ञान किसी इन्द्रिय से नही वरन् साक्षात् होता है। अतएव यत् साक्षात् अपरोक्षात् ब्रह्म' रूप से इसका निर्वचन किया गया है।

सविकल्पक प्रत्यक्ष

समस्त दार्शनिक सम्प्रदायो मे सविकल्पक प्रत्यक्ष को स्वीकार किया गया है। केवल बौद्ध मतानुयायी इसे स्वीकार नही करते।[2] सामान्यत इसके स्वरूप के विषय मे मतैक्य पाया जाता है। इसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के बाद माना गया है। इस प्रकार यह व्यवसायात्मक एव निश्चयात्मक ज्ञान होता है।

किन्तु अद्वैत वेदान्त पहले सविकल्पक ज्ञान मानता है, फिर निर्विकल्पक ज्ञान मानता है।[3] वेदान्त शास्त्र 'सविकल्पक ज्ञान', का लक्षण

---

[1] वाक्यजन्य ज्ञान विषयत्वे हि न पदार्थ ससर्गत्व तत्रम् अनभिमत ससर्गस्यापि वाक्यजन्य ज्ञान विषयत्वपते किन्तु तात्पर्य विषयत्वम् – वे0 परि0, पृ0 82

[2] प्रत्यक्ष कल्पनापोढ नामजात्याद्यसयुक्तम्–प्रमाणसमुच्चय 1/3

[3] तदेव सविकल्पकनिर्वकल्पक भेदन . . अद्वैत तत्व शुद्धि, पृ0 17

देता है कि वैशिष्ट्य अर्थात् विशेषण–विशेष्य एव उनके सम्बन्ध को विषय बनाने वाले ज्ञान को सविकल्पक कहा जाता है[1] यथा– 'अह घट जानामि', इस सविकल्पक ज्ञान मे सर्वप्रथम विशेषण एव विशेष्य का ग्रहण होता है, तत्पश्चात् दोनो के सम्बन्ध का 'ज्ञान' होता है। इस सम्बन्ध के ज्ञान को 'ससर्गावगाहि ज्ञान' अथवा 'वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञान' कहते है।

यथा, घट' उच्चारण करने पर 'घट' व्यक्ति, 'घटत्व' जाति, एव इन दोनो समावाय' सम्बन्ध, तीनो ही विषय होते है, यह सविकल्पक ज्ञान है। इसी भाति 'अह घट जानामि' मे भी 'घट' रूप विशेषण से विशिष्ट ज्ञान का ग्रहण होने से इस ज्ञान को भी "वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञान" कहते है। किन्तु नैयायिक 'घटाह जानमि' इस ज्ञान को अनुव्यवसायात्मक स्वीकार करते है, क्योकि इसमे विषय के साथ ही ज्ञान का भी प्रत्यक्ष होता है। अतएव यह 'ज्ञान' का ज्ञान है।[2] अद्वैत वेदान्त मानता है कि "निर्विकल्पक ज्ञान द्वारा 'सोऽय देवदत्त' अथवा 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यो मे तादात्म्य से अखण्डार्थ बोध होता है[3] एव इसके पूर्व 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' द्वारा 'देवदत्त' अथवा 'चैतन्य' का ज्ञान होना अपेक्षित है। निर्विकल्पक ज्ञान के स्वत· प्रत्यक्ष होने से 'शुद्ध चैतन्य' का ग्रहण होता है।[4]

अद्वैत वेदान्त जो यह मानता है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष, सविकल्पक प्रत्यक्ष के ज्ञानोपरान्त होता है, अत यह 'स्मृति' माना जाएगा, न कि 'प्रत्यक्ष"। तो इस प्रकार की आशका निराधार ही होती है, क्योकि 'सोऽय देवदत्त.' इत्यादि वाक्य प्रत्यक्ष पर ही आधृत है। वस्तुत वेदान्तशास्त्रो मे

---

[1] सविकल्पक वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानम् वे0 परि0 पृ0 76।

[2] न्यायसूत्रो पर वात्स्यायन भाष्य, सूत्र–4 ।

[3] तत्वमस्यादि वाक्यनामखण्डार्थत्वम्, यत् ससर्गानवमाहियथार्थज्ञान जनमत्वामिति–वे परि पृ 84

[4] अद्वैत तत्वशुद्धि पृ 16

अखण्डार्थ बोध के लिए निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को माना है, क्योकि अखण्डार्थ से ही जीव–ब्रह्मैक्य प्रतिपादित होता है।[1]

"सविकल्पक" एव "निर्विकल्पक" से प्रत्यक्ष ज्ञान के दोनो भेदो मे 'ज्ञान' तो चैतन्य रूप एक ही है। उस चैतन्य रूप ज्ञान के दो भेद "जीव–साक्षी" एव "ईश्वर–साक्षी" स्वीकार किये जाते है।

अद्वैत वेदान्त शास्त्र मे 'जीव' एव 'जीव–साक्षी' का भेद तथा 'ईश्वर' एव 'ईश्वर–साक्षी' का भेद प्रदर्शित करने के लिए 'विशेषण'[2] तथा 'उपाधि'[3] को माना गया है। 'विशेषण' एव 'उपाधि' मे कुछ भेद है। 'विशेषण' वह है जो कार्य से सम्बन्धित हो, वर्तमान हो तथा अन्य वस्तुओ से उसके भेद को प्रदर्शित करे। यथा, 'रूपविशिष्ट घट अनित्य है', मे 'घट' विशेष्य का विशेषण 'रूप' है जो 'घट' से सम्बन्धित है, वर्तमान है, एव नित्य पदार्थों से विभेद करता है।[4]

किन्तु 'उपाधि' वह है, जो कार्य मे तो नही रहती, किन्तु वर्तमान होती है एव कार्य को व्यावृत्त करती है। इसकी विशेषता है कि वस्तु के साथ न रहते हुए भी उस वस्तु को अन्य वस्तु से पृथक कर देती है।[5] यथा, "कर्णशष्कुली से अविच्छन्न आकाश ही श्रोत्र है", मे आकाश निरवयव है एव कर्ण सावयव। इन दोनो का सम्बन्ध न रहते हुए भी, कार्यभूत आकाश मे कर्णशष्कुली न रहती हुई भी अन्य इन्द्रियो से श्रोत्रेन्द्रिय का विभेद करती है, अत कर्णशष्कुली 'उपाधि' है। इस उपाधि को नैयायिक 'परिचायक' अथवा 'प्रयोजक' भी कहते है।[6]

---

[1] ससर्गा– – – –तत्प्रतिपादिकार्थता।। – तत्व प्रदीपिका 1/19

[2] विशेषणत्वोपाधित्वाभ्यामनर्योभेद – – –। –वे• परि• पृ• 85

[3] मायया विशेषणत्वे ईश्वरत्वम्, उपाधित्वे साक्षीत्वम् – वे• परि•, पृ• 92

[4] (क) विशेषण च कार्यान्वयि व्यावर्तक – वे0 परि0 पृ0 85
(ख) विशेषण च कार्यान्वयि व्यावर्तक वर्तमानम् इति पाठान्तरम् – वे0 परि0, पृ0 85

[5] उपाधिश्च कार्यान्वयी व्यावर्तको वर्तमानश्च। वे0 परि0 पृ0 85

[6] (क) प्रयोजकयोर्पाधिरित्युच्यते– तर्कभाषा पृ0 75
(ख) उपाधिनैयायिकै परिचायक इत्युच्यते – वे0 परि0, पृ0 85

जीव साक्षी

'जीव साक्षी प्रत्यक्ष 'अन्त करण से उपहित चैतन्य' है, एव 'जीव' अन्त करण से अवच्छिन्न चैतन्य'।[1] अर्थात् अन्त करण मे जीव एव जीव–साक्षी का भेद विशेषत्व एव उपाधि के कारण है।[2] तात्पर्य यह है कि एक ही अन्त करण विशेषणरूप एवं उपाधिरूप होकर एक ही चैतन्य मे 'जीव' एव 'जीव–साक्षी' रूप से अभिहित किया जाता है। अन्त करण जब अवच्छेदक या विशेषण रहे तो 'चैतन्य जीव' कहलाता है, एव वही अन्त करण जब उपाधि मात्र बने तो 'चैतन्य जीव–साक्षी' कहा जाता है।

अन्त करण से अवच्छिन्न जीव रूपी प्रमाता, 'साक्षी' के बिना ही ज्ञानेन्द्रिय द्वारा उत्पन्न वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य के माध्यम से ही विषयो को जान सकता है। तब यह आशका उपस्थित होती है कि प्रमाता को फिर विषयो का ज्ञान करने के लिए साक्षी की आवश्यकता नही होनी चाहिए, तथा साक्षी की सिद्धि के लिए अन्त.करण को उपाधि मानना तर्कसगत नही होगा।[3]

परन्तु वेदान्त दर्शन इस आशका का समाधान करता है कि अन्त करण अविद्या का कार्य होने से जड है। इस कारण उसमे विषयो को जानने की सामर्थ्य नही है। उसकी वृत्तियाँ अनेक है तथा प्रत्येक क्षण उत्पन्न होती रहती है। उन वृत्तियो से अविच्छन्न चैतन्य भी अनेक होगे। इस प्रकार असख्य वृत्तियो द्वारा सम्पूर्ण विषयो का ज्ञान सभव नही होगा। प्रत्येक क्षण मे उत्पन्न वृत्तियो का विनाश भी हो जाता है। अतएव ये वृत्तियाँ स्वय विषयो का ज्ञान नही कर सकती। प्रमाता भी अन्त करण से अवच्छिन्न होने के कारण भूत, वर्तमान एव भविष्य इन तीनो कालो के विषयो

---

[1] जीवो नामान्त करणावच्छिन चैतन्यम् , तत्साक्षी तु अन्त करणीय हित चैतन्य ।– वे परि0 पृ0 85

[2] अन्त करणस्य विशेषणत्वोपाधित्वाभ्यामनयोर्भेद – वे0 परि0, पृ0 85।

[3] न हि प्रमाता विषयभासनाय स्वसासिणमपेक्षते, चक्षुयणादिजन्य विषयावच्छिन्नचैतन्येनैव विषयप्रकाशसम्भवात्–दर्पणटीका, पृ0 37

का ज्ञान नही कर सकता। इस ज्ञान प्राप्ति हेतु प्रमाता को दूसरे के सहयोग की अपेक्षा रहती है। इसलिए ब्रह्म से अभिन्न साक्षी की आवश्यकता है। इस साक्षी की सिद्धि हेतु अन्त करण को उपाधि मानना अनिवार्य है।

अद्वैत वेदान्तानुसार यह जीव–साक्षी चैतन्य प्रत्येक आत्मा मे भिन्न–भिन्न होता है।[1] क्योकि ऐसा न मानने पर एक व्यक्ति को होने वाला ज्ञान व्यक्तिगत न रह कर अन्यो को भी होने लगेगा। इसी कारण अद्वैत वेदान्त में 'अन्त करण रूप उपाधि' के भेद के कारण जीव–साक्षी मे भी अनेकता मानी जाती है।

ईश्वर साक्षी

जीव एव जीव–साक्षी की भॉति ही ईश्वर एव ईश्वर–साक्षी मे भी भेद है। जिस प्रकार अन्तःकरण विशिष्ट चैतन्य जीव एवं अन्त करण उपहित चैतन्य जीव–साक्षी है, उसी प्रकार माया विशिष्ट चैतन्य ईश्वर[2] एव मायोपहित चैतन्य 'ईश्वर–साक्षी'[3] है।

तात्पर्य यह है कि जीव–साक्षी का भेदक अन्त करण उपाधि एवं ईश्वर–साक्षी का भेदक मायोपाधि है। यह ईश्वर–साक्षी एक ही है, क्योकि माया की उपाधि भी एक ही है।[4] कुछ विचारको का मत है कि जीव–साक्षी की अनेकता की भॉति ही ईश्वर–साक्षी की भी अनेकता है। 'इन्द्रोमायाभि पुरुरूपईयते' इस श्रुति वचनानुसार माया बहुवचन मे प्रतीत होती है। किन्तु यह तर्क उचित नही है, क्योकि वस्तुत माया है तो एक ही, किन्तु सत्त्व, रजस्, तमस् इन शक्ति विशेषणो से युक्त होने से माया के लिए बहुवचन

---

[1] अय च जीव साक्षी प्रत्ययात्य नाना– वे परि0, पृष्ठ 88

[2] मायावच्छिन्न चैतन्य परमेश्वर – वे0 परि0 पृ 92

[3] ईश्वर साक्षि तु मायोपहित चैतन्यम् – वे0 परि0, पृ 89

[4] तच्चैकम् । तदुपाधिभूतमायया एकत्वात् – वे0 परि0, पृ0 89

का प्रयोग किया गया है।[1] अत माया के एक होने से उससे उपहित ईश्वर–साक्षी भी एक ही है।[2]

माया की एकत्व की पुष्टि अन्य वृत्तियो द्वारा भी होती है। 'अजोऽध्येको' पद माया के एकत्व का प्रतिपादन करता है।[3] यह मायोपहित चैतन्य 'ईश्वर–साक्षी' अनादि है क्योकि उसकी उपाधिभूता माया अनादि एव एक है।[4] एक ही चैतन्य मे माया को 'विशेषण' मानने से 'ईश्वर' तथा 'उपाधि' मानने से 'साक्षी' रूप में माना जाता है। अर्थात् एक ही माया 'ईश्वर' का विशेषण एवं 'ईश्वर–साक्षी' की उपाधि बनती है।[5] 'ईश्वर' के एक होने से उसकी उपाधिभूत माया में रहने वाले सत्त्व, रजस् एव तमस् गुणत्रय भेद से विष्णु, ब्रह्मा एव महेश्वर इत्यादि भिन्न–भिन्न शब्दो द्वारा अभिहित किए जाते हैं।[6] ईश्वर चैतन्य को अनादि मानने पर यह आशका उपस्थित होती है कि 'तदैक्षत् बहुस्याम् प्रजायन्ते' इत्यादि श्रुति वाक्य द्वारा सृष्टि के पूर्वकाल मे परमेश्वर का जो आगन्तुक ईक्षण बताया गया है, वह कैसे सम्भव होगा ? इसका समाधान करते हुए अद्वैत वेदान्त मे कहा गया है कि जिस प्रकार विषय एव इन्द्रिय सन्निकर्ष द्वारा जीव की उपाधिरूपा अन्त करण मे अनेक वृत्तियो के भेद उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार परमेश्वर की उपाधि भूत माया मे वृत्ति विशेष उत्पन्न होती है। उत्पन्न होने वाले प्राणियो मे कर्मवशात् वृत्ति बनती है। उन वृत्तियो के सादि होने से उनमे प्रतिबिम्बित चैतन्य मे भी सादि व्यवहार होता है।[7]

---

[1] मायाभिरिति बहुवचनस्य मायागत शक्ति विशेषाभिप्रायतया मायागत सत्वरजस्तमोरूपगुणाभिप्रायतया चोपपत्ते – वे0 परि0, पृ0 89
[2] श्वे0 4/10
[3] अजामेका लोहितशुक्लकृष्णा वह्वी । श्वे 4/5
[4] मायया एकत्व तदुपाधेर्मायया अनादित्वात् – वे0 परि, पृ0 91
[5] मायया विशेषणस्ये ईश्वरत्वम्, उपाधित्वे साक्षित्वामिति – वे0 परि0 पृ0 92
[6] स च परमेश्वर महेश्वरादिशब्दवाच्याया भवते– वे0 परि0 पृ0 92 ।
[7] वेदान्त परिभाषा, पृ0 94–95

इस प्रकार चैतन्य के दो भेद होने से प्रत्यक्ष ज्ञान के भी दो भेद हो गए। विषयगत एव ज्ञानगत प्रत्यक्ष का सामान्य लक्षण चैतन्य ही है। अतएव चैतन्य ही प्रत्यक्ष माना जाता है। किन्तु चैतन्य को प्रत्यक्ष मानने पर अनुमिति, उपमिति इत्यादि भी प्रत्यक्ष ही मानने पडेगे। क्योकि प्रत्यक्ष प्रमा की भॉति ही उनमे भी चित्व है। व्यावहारिक रूप मे वे प्रत्यक्ष नही माने जाते क्योकि 'यत् साक्षात् अपरोक्षात् ब्रह्म' श्रुत्यानुसार चित को ही प्रत्यक्ष माना गया है। यह चित्व ज्ञान स्वरूप है। यहॉ यह आक्षेप सभव है कि स्वप्रकाश चैतन्य को यदि प्रत्यक्ष माने तो समस्त ज्ञानो का प्रत्यक्ष होने लगेगा, तथा अनुमिति, उपमिति, इत्यादि प्रमाएँ प्रत्यक्ष होगी। इसके समाधन हेतु अद्वैत वेदान्त कहता है कि प्रत्यक्ष का प्रयोजक भिन्न है तथा अन्य प्रमाओ अनुमिति इत्यादि का भिन्न। अतएव सब ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमा नही बन सकते।

यहा एक अन्य सन्देह उपस्थित होता है कि यदि स्वप्रकाश चैतन्य को ज्ञानगत प्रत्यक्ष मान लिया जाए तो 'इद रजतम्' इत्यादि भ्रमज्ञान को भी ज्ञानाश में प्रत्यक्ष मानना पडेगा। किन्तु ऐसा उचित नही, क्योकि भ्रमज्ञान का यथार्थ ज्ञान के पश्चात् बाध हो जाता है। तब तो वेदान्तानुसार मान्य ब्रह्म के अतिरिक्त सम्पूर्ण प्रपच मिथ्या है, भ्रमज्ञान है। इन जागतिक पदार्थो का प्रत्यक्ष कैसे होगा ? इसका समाधान वेदान्त शास्त्र करता है कि वेदान्त तीन प्रकार की सत्ताएँ स्वीकार करता है–प्रातिभासिक, व्यावहारिक एव पारमार्थिक। 'रज्जु–सर्प' इत्यादि की सत्ता प्रातिभासिक है, जगत् की सत्ता व्यावहारिक है, एव पारमार्थिक सत्ता ब्रह्म की है। जगत् पारमार्थिक रूप से सत्य न होते हुए भी व्यावहारिक रूप से सत्य है। ब्रह्म ज्ञान के पूर्व जगत् ही यथार्थ ज्ञान है। अतएव प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा व्यावहारिक रूप से सत्य जगत् एव जागतिक पदार्थो का ज्ञान होता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के अन्य दो भेद भी माने जाते है– इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष तथा इन्द्रियाजन्य प्रत्यक्ष। सुख–दु:ख आदि का ज्ञान इन्द्रियो द्वारा न होकर,

मात्र अन्त करण द्वारा होता है। 'मन' को वेदान्त दर्शन का एक सम्प्रदाय इन्द्रिय नही मानता।[1]

प्रत्यक्ष प्रमाण मे इन्द्रियों की उपयोगिता

अद्वैत वेदान्त दर्शन मे प्रत्यक्ष प्रमाण के लिए अन्त करण की वृत्ति को एक आवश्यक घटक माना जाता है, इसके बिना आन्तर एव वाह्य प्रत्यक्ष सभव ही नही है। यह वृत्ति अन्त करण जन्य होती है। किन्तु यहॉ यह सदेह उपस्थित होता है कि जब अन्त करण के विषयाकाराकारित हो जाने से 'वृत्ति' द्वारा ही विषय का ज्ञान हो जाता है, तब इन्द्रियो की क्या उपयोगिता होगी ?

'प्रत्यक्ष' के लिए 'विषयावच्छिन्न चैतन्य' का प्रमात्रावच्छिन्न से भेद आवश्यक है।[2] अनादि चैतन्य मे आरोपित विषयादि के अज्ञान की निवृत्ति अन्त.करण की वृत्ति द्वारा ही होती है, एवं यह 'वृत्ति' विषय तथा इन्द्रिय के सयोग के बिना सभव नही है।[3] इसी कारण सयोग एव सयुक्त–तादात्म्य इत्यादि सम्बन्धो का उपयोग चैतन्य की अभिव्यक्ति करने वाली वृत्ति के उत्पादन मे होता है। [4] यथा–'सयोग' सम्बन्ध का 'घटाकार' की वृत्ति के उत्पादन मे विनियोग है तथा संयुक्त तादात्म्य का रुपवान घट की वृत्ति के उत्पादन मे उपयोग है।

वाह्य जगत् के पदार्थो के ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष को इन्द्रियो के माध्यम से जानने को 'इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष' कहते है। आन्तर प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियो की अपेक्षा न मानने हुए इसे 'इन्द्रियाजन्य प्रत्यक्ष' कहते है।[5]

---

[1] उक्त प्रत्यक्ष प्रकाशन्तेण द्विविध इन्द्रियजन्य तदजन्य चेति तत्रैन्द्रिमाजन्य सुखादि प्रत्यक्ष, मनस इन्द्रियत्व निराकरणात् – वे0 परि0, पृ0 142–143

[2] घटादेर्विषयस्य प्रत्यक्षत्व तु प्रमातृभिन्नत्वम् – वे0 परि0, पृ0 62

[3] अन्त करण वृत्तिरिन्द्रियसन्निकर्षादिना जायते– वे0 परि0, पृ0 25

[4] तत्र सयोग सयुक्त तादात्म्यादीना सन्निकर्षाणा चैतन्यभिव्यंजक वृत्ति विनियोग – वे परि0 पृ0 73

[5] वेदान्त परिभाषा पृ 143

इससे इतना तो स्पष्ट होता ही है कि प्रत्यक्ष प्रमाण मे इन्द्रियो की भी उपयोगिता है। किन्तु वेदान्त सम्मत 'इन्द्रियॉ' न्याय शास्त्र की भॉति प्रधान कारण न होकर निमित्त कारण होती है। यहॉ यह शका उपस्थित होती है कि ये निमित्तकारणरूपा इन्द्रियॉ, स्वग्राहय विषयो की प्राप्ति करके इनसे सम्पर्क स्थापन कर, उनका ग्रहण करती है, अथवा उनसे वास्तविक सम्पर्क के अभाव मे ही विषय ज्ञान प्राप्त करती है।

नैयायिक एव सांख्यानुयायियो की भॉति ही अद्वैत वेदान्त मतानुयायी इन्द्रियो को प्राप्य करने योग्य विषयो के साथ इन्द्रियो के वास्तविक सम्पर्क होने पर ही विषय–ज्ञान स्वीकार करते है । किन्तु इन दार्शनिको के अनुसार इस वास्तविक सम्पर्क मे भी कुछ इन्द्रियॉ विषय देश पर जाकर विषयो के साथ वास्तविक सम्पर्क स्थापित करती है तो कुछ इन्द्रिया अपने स्थान पर ही स्थित रहती है एव विषय के अपने अधिष्ठान के समीप आने पर वास्तविक सम्पर्क करती है। बौद्ध मतानुयायी इन्द्रियो को अप्राप्यकारी मानते है, क्योकि उनके मतानुसार इन्द्रियॉ विषयो को बिना प्राप्त किये हुए ही विषय ज्ञान कराती है।[1] जैन दार्शनिको के अनुसार पच ज्ञानेन्द्रियो मे नेत्रेन्द्रिय ही प्राप्यकारी है, जो ग्राहय विषय से वास्तविक सम्पर्क के बिना भी प्रकाश की सहायता से विषय ज्ञान करा देती है।[2]

अद्वैत वेदान्त मे इन्द्रियो को अप्राप्यकारी माना जाता है, जो स्वय तथा स्वविषयो से सम्बद्ध होकर ही प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न कराती है,[3] प्रमुख इन्द्रियॉ है– घ्राण, रसन् , त्वक् , चक्षु , श्रौत्र तथा इनके विषय क्रमानुसार है– गन्ध, रस, स्पर्श , रूप, शब्द।

इनमे प्रथम तीन इन्द्रियॉ घ्राण, रसन्, त्वक्, अपने–अपने अधिष्ठान मे अधिष्ठित रहती है तथा विषय के समीप आ जाने पर ही उनका आकार

---

[1] The Six ways of Knowledge – D.N.Dutta, Page-40

[2] न चतुरिन्द्रियाभ्याम्———— ।तत्त्वार्थ सू0 1/19

[3] सर्वाणि इन्द्रियाणि स्व स्व विषयसयुक्तान्येव प्रत्यक्षज्ञान जनयन्ति । चे परि पृ 143

ग्रहण कर प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न करती है।[1] जबकि शेष दो चक्षु तथा श्रोत्रेन्द्रिय स्वय ही विषय देश तक जाकर अपने–अपने विषय 'रूप' तथा 'शब्द' को ग्रहण कर प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न करती है।[2] किन्तु यहॉ यह आशंका सभव है कि चक्षुरीन्द्रिय तो अपने विषय के समीप पहुंचकर उसका प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न कर सकती है, किन्तु श्रोत्रेन्द्रिय के विषय मे यह सभव नही लगता, क्योकि कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न आकाश ही श्रोत्र है तथा आकाश सर्वव्यापक है। अतएव इस आकाश का विषय प्रदेश मे गमन सभव नही लगता।

अद्वैत वेदान्त मतानुसार श्रोत्रेन्द्रिय को आकाश के सत्त्वगुण से उत्पन्न माना जाता है।[3] यद्यपि आकाश सर्वव्यापी है, तथापि 'तेज' इत्यादि मे सत्त्वगुणोत्पन्न 'चक्षु' इत्यादि की भॉति श्रोत्रेन्द्रिय परिच्छिन्न भी है। अत उसका 'भेरी' इत्यादि स्थानो मे जाना असम्भव है। शब्द प्रदेश मे श्रोत्र के गमन के कारण ही 'भेरी' का 'श्रवण' अनुभव होता है।[4] अद्वैताभिमत यह सिद्धान्त नैयायिक मत का खण्डन करता है, क्योकि नैयायिक श्रोत्र तथा शब्द के सयोग की व्याख्या 'वीथि तरग न्याय' से करते हैं। किन्तु अद्वैत वेदान्त मानता है कि इस प्रक्रिया द्वारा अनन्त शब्दोत्पत्ति की गौरवपूर्ण कल्पना करनी पडेगी। अद्वैत मतानुसार तो तडागोदक की भॉति तैजस् अन्त करण की चक्षु, श्रोत्रादि इन्द्रियो द्वारा निकलकर विषय देश मे जाकर चाक्षुष अथवा श्रावण प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न करता है।[5] इस प्रकार चक्षुरिन्द्रिय

---

[1] तत्र घ्राण रसन त्वागेन्द्रियाणि स्वस्थानास्थिवान्येव गन्ध रस स्पर्शेलभ्भाजनयन्ति – वे परि, पृ 144

[2] चक्षु श्रोत्रे तु स्वत एव विषयदशगत्वा स्वस्व विषय गृहणीत ।–वे परि पृ 144

[3] वेदान्त परिभाषा, पृ 337 एव वेदान्तसार, खण्ड 19, पृ 69

[4] श्रोत्रस्यापि चक्षुरादिवत् परिच्छिन्नतया येर्थादिदेश गमन सम्भवात्। अतएवानुभवो 'मेरी' शब्दो मया श्रुत–वे० परि०, पृ० 144

[5] तत्रगोदक ——तैजसपन्न करणमपि चक्षुरादि द्वारा निर्गतत्य घटादि विषयदेश – वे० परि०, 39

की भॉति ही श्रोत्रेन्द्रिय का भी विषय स्थल पर विषय से सन्निकर्ष होना सिद्ध होता है।

अतएव अद्वैत मतानुसार इन्द्रियॉ प्रत्यक्ष प्रमाण मे 'प्रधान' न होकर निमित्त कारण बनती है।

विभिन्न वेदान्त सम्प्रदायो मे इन्द्रियो की सख्या के विषय मे मतवैभिन्य पाया जाता है। किन्तु इन्द्रिय' पद का प्रयोग सामान्यत पच ज्ञानेन्द्रियो–नेत्र, त्वक् , रसन् , घ्राण एव श्रोत्र तथा पाच कर्मेन्द्रियो वाक् , पाणि, पाद , पायु तथा उपस्थ के लिए किया जाता है। इनके अतिरिक्त 'मन' को भी कुछ मतानुयायी 'इन्द्रिय' स्वीकार करते है। किन्तु 'इन्द्रिय' का इतना व्यापक अर्थ होते हुए भी अधिकतर पच ज्ञानेन्द्रियो के लिए 'इन्द्रिय' पद का प्रयोग किया जाता है। साख्य, जैन, न्याय – वैशेषिक दर्शन वाह्य पदार्थो के ज्ञान के साधन रूप मे 'घ्राण, रसन, चक्षु , श्रोत्र एव त्वक, 'इन पच ज्ञानेन्द्रियों को स्वीकार करते है।[1] जबकि नैयायिक मन के 'इन्द्रियत्व' को भी मानकर छ इन्द्रियो को मान्यता प्रदान करते है।[2] किन्तु अद्वैत वेदान्त मतानुयायी मन के इन्द्रियत्व का खण्डन करते है, एवं पच ज्ञानेन्द्रियो को ही स्वीकार करते है।[3] इनके अनुसार सत्त्वगुण युक्त अपचीकृत पचभूतो के पृथक्–पृथक अशो द्वारा श्रोत्र, त्वक्, चक्षु जिह्वा एव घ्राण की उत्पत्ति होती है।[4] इनमे सत्त्वगुण प्रधानता के साथ ही विषय प्रकाशन की योग्यता होती है, अतएव ये ज्ञानेन्द्रिय कहलाते है।

---

[1](क) चक्षु क्षोत्र घ्राणरसनत्वामारव्यानि – साख्य कारिका, 27, पृ0 236
(ख) भारतीय दर्शन – डा0 नन्द किशोर देवराज, पृ 118
(ग) वैशेषिक सुत्रोपस्कार–दुष्ढिराज शास्त्री – पृ0 196
[2] तानि चेन्द्रियाणि षटा घ्राणरसन चक्षुस्तवक् श्रोत्रमनासि– तर्कभाषा, आचार्य विश्वेश्वर पृ0 166
[3] (क) इन्द्रियाणि पच घ्राणरसनचक्षु श्रोत्रत्वगात्मकानि–वे0 परि0, पृव 114
(ख) श्रोत्रत्वगक्षिरसन घ्राणाख्यम् । पचदशी।/19
(ग) श्रोत्रादि पचकम् । सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसग्रह कारिका, पृ0 340
[4] इमानिभूतानि त्रिगुण माया कार्यणि। वेयत्र परिभाषा पृ0 337

मन के इन्द्रियत्व मे मत

अद्वैत वेदान्त मे अन्त करण के विभिन्न परिणाम द्वारा बनी 'वृत्ति' ही 'मन' , 'बुद्धि' , 'चित्त' , 'अहकार' आदि सज्ञाओ से अभिहित की जाती है।[1] यही कारण है कि मन के लिए अन्त करण का व्यवहार किया जाता है। जबकि वेदान्ती 'मन' को इन्द्रिय नही मानते है । यदि मन को इन्द्रिय मान ले तब प्रत्यक्ष को इन्द्रिय जन्य मानकर मनोजन्य अनुमिति स्थल पर भी प्रत्यक्ष लक्षण की अतिव्याप्ति होने लगेगी। अतएव 'मन' को इन्द्रिय नही माना जा सकता ।[2] इसके अतिरिक्त 'मन' के इन्द्रियत्व के विषय मे प्रमाण भी प्राप्त नही होते ।

'मन षष्ठानि इन्द्रियाणी' , यदि भगवत गीता के इस वचन को माने तो भी मन के इन्द्रिय होने की पुष्टि नही होती क्योकि यहॉ षटत्व सख्या पूर्ति मात्र 'मन' शब्द से की गयी है जो मन को इन्द्रिय न मानने पर भी सम्भव है। इन्द्रिय सख्या की पूर्ति इन्द्रियभिन्न–इन्द्रिय सदृश पदार्थ से भी सम्भव है यथा स्मृति वाक्य मे वेदगत पचत्व की पूर्ति वेदेतर महाभारत से होती है।[3] मन के अतिन्द्रियत्व के विषय मे इन्द्रियो से परे अर्थ होता है एव अर्थों से परे मन होता है।[4] ज्ञान श्रुति के अनुसार यह सिद्ध होता है कि 'मन' इन्द्रियभिन्न पदार्थ है।

किन्तु अधिकतम भारतीय दर्शन मन को इन्द्रिय मानते है। डा0 सिन्हा के अनुसार 'न्याय वैशेषिक मन को आन्तरिक इन्द्रिय मानते है। "उसके द्वारा हमे सुख दु ख का प्रत्यक्ष होता है। मीमासक भी इसे आन्तरिक ज्ञानेन्द्रिय

---

[1] (क) सत्वगुणोपेते पचज्ञानेन्द्रियाणि जायन्ते वे0 परि0, पृ0 337।
(ख) वेदान्त सिद्धान्त सार सग्रह कारिका, पृ0 341
(ग)पचदशी 1/19

[2] (क) एकमप्यन्त करण मन इति बुद्धिरिति अहकार इति चित्तमिति व्याख्यायते – वे0 परि0 पृ0 74
(ख) वेदान्तसार, खण्ड 19

[3] महाभारत 1/64/131 ,12/351/20

[4] कठोपनिषद 1/3/10

कहते है।[1] शकराचार्य को भी मन को इन्द्रिय मानने मे कोई आपत्ति नही है।[2] किन्तु कही–कही उन्होने केवल दस इन्द्रियाँ ही मानी है। जैन दर्शन मे तथा कुछ वेदान्त दर्शनो मे 'मन' इन्द्रिय नही माना जाता है।[3] अद्वैत वेदान्त दर्शन मे यह मान्यता है कि जब इन्द्रियाँ स्वय–स्व विषयान्मुख होती है [4] तो मन भी उनके साथ विषयान्मुख होता है तथा मन के रूपान्तरण के द्वारा ही जीव विभिन्न वाह्य वस्तुओ से सम्बन्ध स्थापित करता है।[5] इस प्रकार वस्तु का ज्ञान प्राप्त होता है। अतएव मन को वाह्येन्द्रियो से कुछ भिन्न प्रकार का माना जाता है। प्रो0 मैक्समूलर के मतानुसार 'सच्चे एकत्ववादी के रूप मे शकर स्वय दस इन्द्रियो एव मन की एकता को मानेगे।[6]

यह सत्य है कि पारमार्थिक दृष्टि से शकराचार्य केवल मन तथा दस इन्द्रियो में ही नही, वरन् समस्त वस्तुओ का ऐक्य मानते है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उनमे उतना ही भेद है, जितना अन्य वस्तुओ मे है। यद्यपि मन का कार्य अन्य सभी क्रियाओ के साथ होता है। [7] तथापि मात्र इन्द्रियो के साथ ही उसका ऐक्य नही माना जा सकता। सहवर्तन का अर्थ तादात्म्य नही है।

मन को 'बुद्धि'[8] के व्यापक अर्थ मे मानकर, अन्त करण से उसका तादात्म्य मान लिया जाता है। मन को अन्त करण का केवल एक कार्य कहा गया है। सकुचित दृष्टि से मन तथा बुद्धि मे भेद माना गया है तथा सकल्प एव विकल्प ही इसके कार्य है।[9] किन्तु व्यापक अर्थ मे मन के अन्तर्गत

---

[1] Indian Psycology- Persepton, पृ0 16
[2] मनोऽपीन्द्रियत्वेन श्रोत्रदिवत् सगृहयते– शा0 भा0 ब्र0 सू0 2/4/17
[3] Indian Psycholgy- Persepton , page 17
[4] स्व स्व विषयेसु प्रवर्तमानजा मन अनुप्रवर्तने– शा 0 भा 0 2/67
[5] शा 0 भा0 1/1/9
[6] Three Lectures On The Vedanta Philosophy , Page 97
[7] मन सर्वकरण साधारण । शा 0 भा0 केनो0 1/16
[8] मन इति बुद्धिमनसोरेकत्वेन गृहयते– केनो0 शा0 भा0 1/16
[9] सकल्प विकल्पात्मक मन – शा भा गीता 10/22

इच्छा, कल्पना, सशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, निष्ठा, अनिष्ठा, विकल्प, बोध, भय, इत्यादि सभी मानसिक अवस्थाएँ आती है।[1] बुद्धि निश्चयात्मक होती है।[2] मानसिक अवस्थाओ का सम्बन्ध–अन्त करण से है। अत उनके अभिज्ञान के लिए वाह्येन्द्रियो की मध्यस्थता अनिवार्य नही होती । मानसिक अवस्था के प्रत्यक्ष, वाह्य विषयो पर निर्भर नही करते यथा स्वरूप के अनुभव।[3]

मन अथवा वाह्येन्द्रियॉ कोई भी स्वय विषयो को व्यक्त नही कर सकती। उनकी अभिव्यक्ति का कारण, स्वय प्रकाश स्वरूप आन्तरिक चेतना है। इनके बिना अन्त करण मे कल्पना एव इच्छा जैसे कार्य भी सम्पन्न नही हो सकते।[4] प्रत्येक व्यक्ति का वास्तविक स्वरूप निर्धारित करने वाली आन्तरिक चेतना अभिज्ञान के लिए अपरिहार्य है।[5] वाह्य वस्तुओ की भॉति ही मन एव सभी ज्ञानेन्द्रियॉ जड अथवा भौतिक है। वे स्वय कुछ नही जानती। ज्ञान प्राप्त करने वाला तो 'जीव' है। ये आन्तरिक एव वाह्येन्द्रियॉ तो उपकरण मात्र है। उनका स्वय कोई उद्देश्य नही , वरन् वे जीव के उद्देश्य पूर्ति के लिए है। अत एक ऐसी सत्ता अवश्य है जो इन इन्द्रियादि की भॉति सघात मात्र न होकर वह कारण हो जिसकी ये उद्देश्यपूर्ति करती है।[6]

वाह्य वस्तु के प्रत्यक्ष मे चार कारक होते है, स्वय वस्तु, वाह्येन्द्रियॉ, मन एव जीव अथवा प्रत्यक्षकर्ता। मानसिक अवस्था के प्रत्यक्ष मे केवल मन तथा जीव ही अपेक्षित है। इस प्रकार दोनो ही अवस्थाओ के प्रत्यक्ष मे 'मन' का व्यावर्तन 'जीव' के साथ अपेक्षित है। इसे ही 'वृत्ति' कहते है। मन का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण इसकी वृत्ति मे विद्यमान चेतन तत्व

---

[1] काम सर्वमान एव केनो 0 शा 0 भा0 1/16
[2] बुद्धि निश्चयात्मिका– गीता शा0 भा0 3/42
[3] ब्र0 सू0 शा0 भा0 2/ 2/ 29
[4] सकल्प अध्यवसायादि–शा0 भा0 केनो 1/2
[5] ब्र0 सू0 शा0 भा0 2/2/29
[6] श्रोत्रादिनामेव तु सहतनम् पदार्थत्वादवगम्यते प्रयोक्ता – केनो0 श0 भा0 1/2

प्रतिबिम्बित होता है, जिसके द्वारा सम्बन्धित वस्तुओ का ज्ञान सम्भव होता है। इस प्रत्यक्ष–सिद्धान्त के सम्बन्ध मे डा0 राधाकृष्णन का कहना है कि "इसका वैज्ञानिक पक्ष तो अपरिष्कृत है, किन्तु इसकी तत्व मीमासीय अन्तर्दृष्टि मूल्यवान है।"[1] वे पुन कहते है कि "अन्तकरण एव पदार्थो की आकृति धारण करने वाली उसकी वृत्तियो की समस्या का निदान रूढिवादी ढग से किया गया है। इसमे स्थान तथा आकृतियो के महत्व का कोई उल्लेख नही है जो इन्द्रिय जन्य सामग्री समेत उक्त विचार को निर्मित करते है। मौलिक चैतन्य कोई द्वैत रूप नही है, किन्तु चैतन्य का एक पुज है, तथा समस्त ज्ञान इसी के अन्दर पृथक् भाव से उत्पन्न होता है। प्रत्यक्ष सम्बन्धी इस प्राक्कल्पना मे साख्य की प्राक्कल्पना के समान गुण यह है कि चैतन्य की केवल भौतिक परिवर्तन मानने की असम्भाव्यता को स्पष्ट रूप मे अगीकार कर लेती है। चैतन्य को अवश्य ही आदिम तथ्य मानना चाहिए, जिसकी व्याख्या अचेतन घटको के रूप में नही हो सकती।[2]

यह स्वीकार करना उचित ही है कि यह सिद्धान्त प्रत्यक्ष होने की प्रक्रिया को पूर्णरूपेण वर्णित करने मे अक्षम है। अद्वैत वेदान्तानुयायी ये मानते है कि "वस्तु केवल इन्द्रियो को प्रेरित करती है तथा अन्तकरण चक्षुमर्ण से वस्तु की ओर जाता है।" वे यह स्पष्ट नही करते कि चाक्षुस प्रत्यक्ष मे प्रकाश की किरणे नेत्र मे किस प्रकार प्रविष्ट होती है, तथा उनके क्या परिवर्तन होते है। पुन मुख्य शक्ति कैसे जाग्रत होती है, तथा वस्तु की ओर किस प्रकार प्रवाहित होती है।[3]

यही समस्या आधुनिक मनोवैज्ञानिको द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्ष के सिद्धान्त के विषय मे भी मानी जा सकती है। वस्तुत प्रत्यक्ष एक मानसिक

---

[1] इण्डियन फिलासफी –डा0 राधाकृष्णन, भाग द्वितीय, पृष्ठ 426
[2] इण्डियन फिलासफी – डा0 राधाकृष्णन, भाग द्वितीय पृ0 426
[3] Philosophical Quaterly, Vol 16 स0 3 Oct, 1940, Page187-188 [G. Hanumat Rao]

कार्य है, मात्र शारीरिक प्रक्रिया नही। इस विषय मे आधुनिक मनोवैज्ञानिको का विवरण भी अपूर्ण ही है। यह समस्या वस्तुत प्रत्यक्ष की वाह्य स्थित वास्तविक वस्तु तथा मस्तिष्क के दृष्टि क्षेत्र मे होने वाली शारीरिक प्रक्रियाओ के मध्य एक बिना व्याख्या के रिक्त स्थान की है। प्रत्यक्ष वस्तुत न दृष्टि क्षेत्र मे, न ही दृष्टि पटल पर होता है। अर्थग्रहिता तथा विभेदीकरण जैसी मानसिक क्रियाओ के अतिरिक्त इसमे प्रक्षेपण की क्रिया भी सन्निहित रहती है। अतएव प्रत्यक्ष का आधुनिक विवरण भी अपर्याप्त ही है, क्योकि यह वाह्य स्थित वस्तु के वास्तविक प्रत्यक्ष तथा तथाकथित शक्ति के प्रवाहित होने से मस्तिष्क के परिवर्तनो के मध्य सम्बन्ध स्थापित नही कर पाता। यह स्पष्ट तथा मान्य सिद्धान्त है कि दृष्टिपटल पर वस्तु की उल्टी प्रतिमा बनती है, फिर भी हम वस्तु को सीधा ही देखते है। अतएव प्रत्यक्ष की मात्र शारीरिक व्याख्या नही की जा सकती।

शकराचार्य के प्रत्यक्ष सम्बन्धी दृष्टिकोण की जो व्याख्या एवं विस्तृत विवेचन 'वेदान्त परिभाषा' मे हुआ है, वह आधुनिक वैज्ञानिको की व्याख्या का पूरक हो सकता है। ये दोनों ही स्वीकार करते है कि इन्द्रियॉ तथा विषयो के सपर्क द्वारा ही प्रत्यक्ष होता है। अतएव वे एक दूसरे के विरोधी नही, अपितु पूरक है।

तत्व विवेचन में प्रत्यक्ष का उपयोग

प्रत्यक्ष प्रमाण समस्त दार्शनिक मतवादो मे मान्य है। सभी इसका अस्तित्व स्वीकार करते है। यद्यपि उसके स्वरूप तथा क्षेत्र के विषय मे मतभेद प्राप्त होते है। बौद्ध दर्शन स्वलक्षण का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा मानता है, तो न्याय दर्शन व्यावहारिक पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा, एव अतीन्द्रिय पदार्थो का ज्ञान अनुमान प्रमाण द्वारा मानता है। न्याय दर्शन के

अनुसार अनुमान प्रमाण प्रत्यक्ष से उच्चतर है, प्रत्यक्ष दृष्ट वस्तु का ज्ञान तर्क रसिक विद्वान अनुमान द्वारा करते है।[1]

किन्तु अद्वैत वेदान्त का मत बौद्ध दर्शन एव न्याय दर्शन दोनो से भिन्न है। ये बौद्धो के इस मत से सम्मत नही है कि परमात्मा का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा होता है। अद्वैत वेदान्त प्रत्यक्ष प्रमाण के विश्लेषण की मुख्य रूप से कई विषयो की सिद्धि करता है।

मिथ्यात्व की सिद्धि – मिथ्यात्व की सिद्धि अद्वैत वेदान्त द्वारा मान्य एक मुख्य सिद्धान्त है। इसकी सिद्धि प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति आदि सभी प्रमाणो से होती है, किन्तु जिस प्रक्रिया द्वारा ये मिथ्यात्व सिद्धि करते हैं वह परस्पर नितान्त भिन्न है।

प्रत्यक्ष प्रमाण इदतया मिथ्यात्व का विवेचन अथवा निर्देश नही करता कि अमुक वस्तु मिथ्या है। किन्तु प्रत्यक्ष के विश्लेषण के माध्यम से ही मिथ्या वस्तु का ज्ञान होता है। यह ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव से ही होता है। इसी से यह ज्ञान सम्भव है कि जो असत् है, वह बाधित है। तथा जो सत् है, वह अबाधित है। यथा, रज्जु सर्प के ज्ञान मे रज्जु रूप अधिष्ठान मे सर्परूप अध्यस्त वस्तु मिथ्या है।

अद्वैत वेदान्त दर्शन के सिद्धान्तानुसार यह जगत् आभास मात्र है तथा उसका परिज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव पर अवलम्बित है। इसी कारण वे तत्व विवेचन मे प्रत्यक्ष प्रमाण को प्रमुख स्थान देते है।

प्रमाता एवं विषय की ऐक्यसिद्धि – प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर ही ब्रह्म को त्रिकालाबाधित एव जगत् को मिथ्या सिद्ध किया जाता है। प्रमाता एव प्रमेय का विषय सवर्था भिन्न नही है। किन्तु व्यावहारिक रूप से प्रमाता एव प्रमेय, ज्ञाता एव ज्ञेय या विषय परस्पर सर्वथा भिन्न है। प्रमाता चैतन्य है, प्रमेय जड। प्रथम अपरिच्छिन एव सत् है, तो द्वितीय मिथ्या। वेदान्तानुसार प्रत्यक्ष

---

[1] परिकल्पिमिति अर्थम् अनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्क रसिक

मे इन दोनो के ऐक्य का अनुभव होता है क्योकि वह प्रमेय को भी चैतन्य मानता है। चैतन्य विषय एव विषयी दोनों रूप मे भासित होता है।

वेदान्त दर्शन का मानना है कि जिस प्रकार इन्द्रियॉ चैतन्य मे अध्यस्त है, उसी प्रकार घट पटादि विषय भी अध्यस्त है। अन्त करण इन्द्रिय रूपी प्रणालिकाओ द्वारा निकलकर विषयाकार मे परिणत होता है, किन्तु विषय को प्रकाशित नही करता, वरन् विषय तथा वृत्ति का प्रकाशन चैतन्य द्वारा होता है। प्रमाता एव प्रमेय दोनो एक ही चैतन्य है। अतएव वेदान्त का निर्विकल्पक ज्ञान सम्बन्धी विचार मौलिक प्रतीत होता है।

अतीन्द्रिय पदार्थो की सिद्धि – उद्‌भूत रूपवान वस्तु का ज्ञान इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से होता है, किन्तु रूप रहित पदार्थो की भी प्रत्यक्ष प्रतीति होती है, यथा, सुख–दुख इत्यादि। इनके ज्ञान के लिए किसी अलौकिक सन्निकर्ष को नही माना जा सकता। इसके लिए सामान्य लक्षण सन्निकर्ष नही माना जा सकता, क्योकि अनुमान प्रमाण की आवश्यकता समाप्त हो जाएगी। यदि ज्ञान लक्षण सन्निकर्ष मानेगे तो अनुमान का विरोधी होगा। यहॉ योगज सन्निकर्ष भी उपयुक्त नही है, क्योकि योग से केवल चित्त शुद्धि होती है एव वह सर्व जन सुलभ भी नही है। योगज सन्निकर्ष द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार के लिए शब्द की आवश्यकता है।

अनुमान प्रमाण

वेदान्त शास्त्र मे 'अनुमिति करणमनुमानम्' अर्थात् अनुमिति के असाधारण कारण को अनुमान कहते है, यह सामान्य लक्षण प्राप्त होता है।[1] प्रमाण का नाम अनुमान है तथा प्रमा का नाम अनुमिति। अनुमिति व्याप्ति ज्ञान द्वारा होती है, अतएव व्याप्ति ज्ञान ही अनुमान प्रमाण है।[2] वेदान्त शास्त्रानुसार अनुमिति प्रमा व्याप्ति ज्ञानत्व धर्म से अवछिन्न व्याप्ति ज्ञान

---

[1] अनुमिति करणमनुमानम्। – वेदान्त परिभाषा पृ० 148 ।
[2] अनुमितिकरण च व्याप्ति ज्ञानम् – वेदान्त परिभाषा, पृ० 150

जन्या होती है।[1] 'व्याप्ति ज्ञानत्वेन' पद द्वारा इसे भली प्रकार समझा जा सकता है। इसे हटा देने पर अनुव्यवसाय व्याप्ति ज्ञान की स्मृति आदि मे भी उत्पन्न होने से उन्हे भी अनुमिति मानना होगा, अव्याप्ति दोष होगा। इसके निवारणार्थ ही 'व्याप्ति ज्ञानत्वेन' पद निवेशित किया गया है।

विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायो द्वारा अनुमान प्रमाण के भिन्न–भिन्न लक्षण स्वीकार किये गए है। अनुमान प्रमाण के सम्बन्ध मे 'न्यायभाष्यकार' 'ज्ञात लिग' को ही अनुमिति का करण मानते है।[2] इसके अतिरिक्त बौद्ध दर्शन तथा जैन दर्शन में भी ज्ञात लिग को ही अनुमिति के करण रूप मे स्वीकार किया गया है।

अद्वैत मतानुयायी 'ज्ञायमान लिग' को करण नही मानते। यदि ज्ञायमान लिंग करण माना जाए तब अतीत एवं अनागत लिग द्वारा अनुमिति न हो सकेगी, क्योकि उस समय वह अनुपस्थित रहेगा। वस्तुत· पर्वतो वह्निमान् मे उस पर अगले ही क्षण धूम–उत्पत्ति देखी जाएगी, ऐसी अनुमिति सभी को होती है। अतएव ज्ञायमान लिग मे कारणत्व ही नही है इसलिए यह मत असगत होगा।

अनुमिति

कुछ नैयायिक तृतीय लिग परामर्श को 'अनुमिति' के प्रति करण मानते है।[3] किन्तु वेदान्त शास्त्र मे इसका प्रबल खण्डन हुआ है तथा माना जाता है कि कभी–कभी लिग परामर्श के होने पर भी अनुमिति नही होती।

---

[1] अनुमितिश्च व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्ति ज्ञान जन्या – वेदान्त परिभाषा पृ० 148

[2] 'तत्पूर्वणम्' इत्यनेन लिग लिगिनो सम्बन्ध दर्शन लिगदर्शन चाभि सम्बध्यते– न्याय भाष्य, पृ० 21।

[3] तस्यानुमिति हेतुत्वाऽसिद्धया तत्करणत्वस्य दूर निरस्तत्वात्– वेदान्त परिभाषा, पृ० 151।

अत अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध न मानने से लिग परामर्श तो कारण भी नही सिद्ध होगा फिर अनुमिति के प्रति करण कैसे होगा ?

न्यायमत मे अनुमिति का क्रम इस प्रकार माना गया है–

(1) पक्ष पर हेतु का होना – पक्षधर्मताज्ञान,

(2) धूम का वह्नि व्याप्य होना – व्याप्ति स्मरण,

(3) व्याप्ति विशिष्ट धूम का पक्ष पर होना – लिग परामर्श,

(4) पर्वतो वह्निमान – अनुमिति।[1]

इस प्रकार न्यायमतानुसार लिग परामर्श के अव्यवहित पश्चात् अनुमिति ज्ञान माना गया है। वेदान्त शास्त्र मे नैययिकाभिमत सिद्धान्त का पूर्णतः खण्डन होकर 'व्याप्ति ज्ञान' को ही 'अनुमान प्रमाण' स्वीकार किया गया है।

अद्वैत वेदान्त मे अनुमिति रूपी प्रमा का कारण 'व्याप्ति ज्ञान' को तथा 'अवान्तर व्यापार' व्याप्ति ज्ञान के सस्कार को स्वीकार किया गया है।[2] सस्कार उद्बुध होने पर यदि व्याप्ति स्मरण होता है तो अनुमिति होगी, यह 'अन्वय' कहलाता है तथा सस्कार उद्बोधन के अभाव मे अनुमिति भी नही होगी, यह व्यतिरेक है।

व्याप्ति

अनुमान प्रमाण के सन्दर्भ में 'व्याप्ति' शब्द का अत्यधिक प्रयोग होता है। भारतीय दर्शन के विशाल साहित्य मे व्याप्ति के अनेक लक्षण प्राप्त होते

---

[1] वेदान्त परिभाषा, पृ० 158

[2] अनुमिति करण च व्याप्ति ज्ञान। तत्सस्कारोऽवान्तर व्यापार – वेदान्त परिभासा पृ० 150

है। साधारण रूप मे हेतु का साध्य के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध ही व्याप्ति कहा जाता है।[1]

वैशेषिक सूत्र मे महर्षि कणाद लिखते है– जो हेतु प्रसिद्धि पूर्वक (व्याप्ति पूर्वक) होता है वही 'सद् हेतु' कहा जाता है।[2] अत लिग का ज्ञान व्याप्ति ज्ञान के आधार पर होता है। साख्यशास्त्र व्याप्ति का लक्षण देता है कि साध्य एव साधन दोनो का अथवा किसी एक का निरन्तर साहचर्य ही व्याप्ति है।[3] यथा उत्पन्न हुए सब पदार्थ अनित्य हैं– (साध्य), जहाँ–जहाँ धूम होगा वहाँ–वहाँ वह्नि होगी (साधन)। बौद्ध दर्शन मे भी अविनाभाव सम्बन्ध को व्याप्ति बताया गया है।[4]

अद्वैत वेदान्त इन मतों से भिन्न व्याप्ति का लक्षण देता है। इसके मतानुसार व्याप्ति वह है जो समस्त साधनो के आश्रय मे आश्रित साध्यो मे सामानिधिकरण्य अर्थात् एकाधिकरणता रूप की हो।[5] इस व्याप्ति का ग्रहण व्यभिचार के अदर्शन के साथ सहचार के दर्शन से होता है। शिखा मणि 'मणि प्रभा' नामक ग्रन्थो मे व्याप्ति का लक्षण इसी प्रकार प्राप्त होता है।[6] यथा – पर्वत वह्निमान, धूमवत्वात् इस अनुमान वाक्य मे समस्त साधन धूम के आच्छेदक धर्म 'धूमत्व' से विशिष्ट, धूम के अधिकरण अर्थात् पर्वत मे रहने वाले साध्य–वह्नि का, हेतु–धूम के साथ समानाधिकरण–पर्वत मे रहना ही व्याप्ति है।

---

[1] तात्पर्य टीका 1/1/5 पृ० 165
[2] प्रसिद्धि पूर्वकत्वादुपदेशस्य – वेदान्त सूत्र 3/1/14
[3] भारतीय दर्शन भाग–२ डा० एस० राधाकृष्णन – पृ० 257
[4] सर्वदर्शन सग्रह, पृ० 23
[5] व्याप्तियच . समानाधिककरण्यरूपा –वेदान्त परिभाषा, पृ० 161
[6] The six ways of knowledge D. K. Dutta - पृ० 106

व्याप्ति ग्रहण के साधन

अद्वैत दर्शन मे व्यभिचार के अदर्शन के साथ सहचार दर्शन से उस व्याप्ति का ग्रहण किया जाता है।[1] तर्क से उसका ग्रहण नही होता, क्योकि व्याप्ति के आरोप से व्यापक का आरोप रूपी जो वह व्याप्ति के अधीन है। सहचार दर्शन से भी व्याप्ति का ग्रहण नही हो सकता क्योकि पदार्थो का साहचर्य एक बार अथवा बार–बार देखने पर भी उसका कदाचित् व्यभिचार भी दिखाई देता है अत व्यभिचार के अदर्शन के साथ सहचार दर्शन से उस व्याप्ति का ग्रहण किया जाता है। यथा– अग्नि का व्यभिचार न दिखाई देते हुए उसका सहचार धूम दिखने से ही वह्नि व्याप्य है, यह ज्ञान होता है। जहॉ धूम हो वहॉ अग्नि अवश्य होगी। धूम हो एव अग्नि न हो, यह नही सभव है। दो पदार्थो का नियमेन एकत्र दिखना ही सहचार दर्शन है, चाहे वह अनेक बार देखने से हो अथवा एक बार के देखने से।[2] अतः जिसका सहचार ग्रहण होता है उसी की व्याप्ति का ग्रहण भी होता है, जिसका सहचार ज्ञात नही, उसकी व्याप्ति का ग्रहण नही होता। इस प्रकार व्याप्ति का प्रयोजकत्व सहचार दर्शन मे ही होता है, न कि भूयोदर्शन अथवा सहृद्‌दर्शन मे।[3]

---

[1] सा च व्याप्ति चार दर्शन सति गृहयते – वेदान्त परिभाषा – पृ० 161
Page 61

[2] तच्च सहचार दर्शन भूयोदर्शन सकृद् दर्शन वेति विशेषो नादणीय – वे० परि० पृ० 161

[3] सहचार दर्शनस्मैव प्रयोजकत्वात् – वे० परि० पृ० 161

व्याप्ति के भेद

प्राय. सभी दार्शनिक सम्प्रदाय व्याप्ति के दो भेद – 'अन्वय व्याप्ति' तथा 'व्यतिरेक व्याप्ति' को स्वीकार करते है। यथा 'जहॉ हेतु के सद्‌भाव मे 'साध्य' का सद्‌भाव निश्चित रूप से उपलब्ध हो वह अन्वय व्याप्ति कही जाती है'। यथा– यत्र–यत्र धूमस्तत्र–तत्र वह्निः'। एव जहॉ साध्य के अभाव में हेतु का भी अभाव निश्चित रूप से प्राप्त हो, वहॉ व्यतिरेक व्याप्ति होती है। यथा–यत्रन्यत्र वहन्याभावः तत्र तत्र धूमाभावः।

सर्वप्रथम गौतम के 'न्यायसूत्र' मे द्विविध साधर्म्य एव वैधर्म्य के उदाहरणो में अन्वय व्याप्ति तथा व्यतिरेक व्याप्ति के सकेत प्राप्त होते है।[1] वात्स्यायन ने इन्ही सूत्रो की व्याख्या मे 'साध्यसाधनभाव' तथा 'साध्याभाव' शब्दो का प्रयोग किया है।[2] नव्य नैयायिक गगेशोपाध्याय व्यतिरेक व्याप्ति का परिष्कृत लक्षण भी देते है।[3] सांख्य में 'वीतावीत' अनुमान भेदों द्वारा इन्हीं दोनों व्याप्तियो का निर्देश किया गया है।[4] किन्तु वेदान्त मतानुयायी इस सभी मतो से भिन्नता स्थापित करते हुए अनुमिति ज्ञान मे व्यतिरेक व्याप्ति की अनावश्यकता मानते है। अद्वैत वेदान्ती धर्म राजाध्वरीन्द्र का कथन है कि 'अन्वय व्याप्ति' ज्ञान शून्य पुरूषो को वह्नि का ज्ञान 'अर्थापत्ति प्रमाण' से होता है, न कि अनुमान प्रमाण से।[5] इस प्रकार नैयायिक सम्मत

---

[1] न्याय सूत्र, पृ० 34-35

[2] न्यायभाष्य, पृ० 49-50

[3] साध्याभाव व्यापकी भूता भाव प्रति योगित्व व्यतिरेक व्याप्ति—तत्व चितामणि, गगेश।

[4] तत्र प्रथम तावत् द्विविध वीतमवीत च। अन्वयमुखेन प्रवर्तमान विधायक वीतम्। व्यतिरेक मुखने प्रवर्तमान निषेधक मवीतम्—साख्यतत्व कौमुदी—पृ० 112

[5] कथ तर्हि धूमा दावन्वय व्याप्ति भविदुषोऽपि व्याप्ति ज्ञानदनुमिति अर्थापत्ति प्रमाणादिति वक्ष्याम – वे० परि० पृ० 164

व्यतिरेक अनुमान से साध्य की सिद्धि के स्थान पर अद्वैत मत मे अर्थापत्ति प्रमाण की परिकल्पना की गयी है।

अनुमान प्रमाण का दूसरा आधार भूत तत्व 'पक्षधर्मता' ज्ञान है। व्याप्ति ज्ञान द्वारा तो केवल यह ज्ञान होता है कि जहॉ–जहॉ धूम होता है, वहॉ–वहॉ वह्नि होती है, किन्तु केवल व्याप्ति ज्ञान के आधार पर यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता, क्योकि व्याप्ति से यह ग्रहण नही होता कि पर्वत धूमवान् है। अतएव पर्वत पर वह्नि की सत्ता की सिद्धि के लिए वह्नि सूचक धूम की सत्ता का ज्ञान होना आवश्यक है, क्योकि धूमदर्शन के उपरान्त ही व्याप्ति ज्ञान का स्मरण होता है। इस प्रकार साध्य 'अग्नि' की पक्षधर्मता की सिद्धि, साधन 'धूम' की पक्षधर्मता के आधार पर की जाती है।[1]

अद्वैत मत मे अनुमान प्रमाण के आधार स्वरूप 'व्याप्ति ज्ञान' एव 'पक्षधर्मता' ज्ञान की अत्यन्त उपयोगिता स्वीकार की जाती है। इनमें से किसी एक के भी अभाव मे अनुमिति सम्भव नही होती।

अनुमान प्रमाण के भेद

अद्वैत वेदान्त मे न्याय दर्शन की भाति ही अनुमान प्रमाण के दो भेद स्वीकार किये जाते है स्वार्थानुमान एव परार्थानुमान।[2]

वस्तुतः अनुमान के दो कार्यो के आधार पर ये भेद किए गए है– प्रथम तो (प्रमाता को) स्वय अर्थ विषयक नवीन ज्ञान की प्राप्ति करना तथा द्वितीय अन्य पुरूष को उस नवीन अर्थ का बोध करवाना। यथा– रसोईघर इत्यादि स्थलो पर वह्नि एव धूम को बार–बार साथ देख कर यह ज्ञान

---

[1] एव च अय धूवामिति पक्षधर्मता ज्ञाने न धूमो वहिन व्याप्त इत्यनुभवाहित सस्का–रोद्बोधे । वे० परि० पृ० 158-159

[2] तच्चुनुमान स्वार्थ परार्थ भेदेन द्विविधम्–वे० परि० वृ० 166

होता है– यत्र यत्र धूम· तत्र तत्र वह्नि यही व्याप्ति है। इनके उपरान्त मनुष्य किसी पर्वत पर निरन्तर बनती धूमरेखा देखता है। उसके पश्चात् वद् पूर्वानुभूत व्याप्ति का स्मरण करता है। तब पर्वत पर अग्नि का निश्चय करता है। इसमें अवयव वाक्यों का प्रयोग नही होता।[1] किन्तु परार्थानुमान में दूसरो को ज्ञात अर्थ का बोध कराने के लिए अवयव–वाक्यो का प्रयोग किया जाता है।[2] इसके लिए पंचावयवों का प्रयोग होता है। ये हैं–प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त,उपनय एव निगमन।

अद्वैत वेदान्त स्वार्थानुमान का लक्षण देता है कि अपने विवाद का विषय बने हुए अर्थ के साधक अनुमान स्वार्थानुमान है।[3] एव दूसरे व्यक्ति के विवाद का विषय बने हुए पदार्थ के साधक अनुमान को परार्थानुमान कहते हैं।[4] इस परार्थानुमान की सिद्धि अवयव समुदाय से होती है।[5] किन्तु अद्वैत वेदान्त में अनुमान के अवयवों की संख्या तीन ही मानी गयी है। न्याय सम्मत पंचावयवो मे से किसी तीन द्वारा व्याप्ति एव पक्षधर्मता ज्ञान हो जाने से अन्य अधिक दो को मानना व्यर्थ है।

अद्वैत वेदान्त में अनुमान का 'अन्वयी रूप' एक ही प्रकार का स्वीकार किया गया है।[6] न्याय सम्मत तीन हेतु है– केवलान्वयी, केवल व्यतिरेकी, अन्वय व्यतिरेकी।

---

[1] स्वार्थ स्वमात्रा निष्ठ प्रतीति फलक न्याय प्रयोगान पेक्षम्– श० वे० ब्र० सू० भा० पृ० 64

[2] परार्थ च परषुरूषनिष्ठ प्रतीति फलक न्याय प्रयोजनम् – शा० वे० अ० सू० भा० वृ० 64

[3] वेदान्त परिभाषा, पृ० 167

[4] वेदान्त परिभाषा, पृ० 167

[5] न्यायो नामावयव समुदाय. वे० परि०, पृ० 166

[6] तच्चानुमानम – वयिरूपमेकमेव – वे० परि० पृ० 163

(i) केवलान्वयी – जिस अनुमान मे केवल अन्वय व्याप्ति का ही उदाहरण प्राप्त हो उसे 'केवलान्वयी' अनुमान कहते है, यथा शब्द अभिधेय प्रमेयत्वात्। वेदान्त शास्त्र इसका खण्डन करता है कि समस्त सासारिक धर्मो को ब्रह्मनिष्ठ अत्यन्ता भाव का माना गया है।, तथा केवलान्वयी लिग के साध्य का अभाव कभी नही रहता। यदि ऐसा माने तो निर्धर्मक ब्रह्म मे समस्त धर्मो के अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी साध्य की असिद्धि होने से साधक हेतु केवलान्वयात्व रूप धर्म की भी असिद्धि होगी।

(ii) केवल व्यतिरेकी – जिस हेतु का उदाहरण केवल व्यतिरेक व्याप्ति मे ही मिले, अन्वय व्याप्ति में नही उसे केवल व्यतिरेकी 'अनुमान कहते है। किन्तु अद्वैत वाद इसका भी खण्डन करता है। यह अनुभव सिद्ध हेतु नही है क्योंकि इसका ग्रहण तो अभाव मे ही होता है। ऐसे स्थल मे अर्थापत्ति प्रमाण की उपयोगिता है, अनुमान की नहीं।

(iii) अन्वय व्यतिरेकी – इसकी अन्वय और व्यतिरेक दोनो प्रकार की व्याप्ति होती है। यथा 'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात्' इसमे पर्वत पक्ष है, अग्निमत्व साध्य है, धूमवत्व हेतु है। यह धूमवत्व हेतु अन्वयव व्यतिरेकी है। इसकी दोनो प्रकार से व्याप्ति होती है, यथा यत्र–यत्र धूमः तत्र तत्र वह्नि यथा महानस., यह अन्वय व्याप्ति, 'यत्र वह्न्याभाव. तत्र तत्र धूमाभावः यथा ह्रद इसको व्यतिरेक व्याप्ति कहते है।

इस तृतीय हेतु का भी अद्वैत मत में निराकरण किया जाता है। व्यतिरेक ज्ञान मे अनुमिति जनकत्व नही है अतएव नैयायिक सम्मत अन्वय व्यतिरेक उभयरूपता अनुमान सम्भव नहीं होता क्योकि दोनों में से एक से ही व्याप्ति सभव है।

अद्वैत वेदान्त में अनुमान प्रमाण की आवश्यकता

अद्वैत वेदान्त मे अनुमान प्रमाण द्वारा ही रजत मिथ्यात्व की सिद्धि होती है।[1] यह सिद्धि प्रत्यक्ष प्रकरण के द्वारा सम्भव नही क्योकि यह इन्द्रिय का विषय नहीं है। स्वाश्रय से अभिमत जितनी वस्तु हो, तन्निष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है।[2] जैसे शुक्ति रूप काल्पनिक रजत। जब तक शुक्ति के समीप नहीं जाते तभी तक काल्पनिक रजत की प्रतीति होती है, नजदीक जाने एवं उठाने पर उसकी असत्यता सिद्ध हो जाती है। शुक्ति पर आरोपित रजतरूप अथवा रज्जु पर आरोपित सर्प के मिथ्यात्व के प्रति वास्तविक हेतु अविद्यान होकर ब्रह्म भिन्नत्व ही है। इस प्रकार ब्रह्म भिन्नत्व ही मिथ्यात्व का प्रयोजक है।[3]

प्रकृत अनुमान वाक्य मिथ्यात्व के लक्षण को स्पष्ट करता है–

1. यह पट इस तन्तुनिष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है (प्रतिज्ञा)
2. क्योकि इसमे पटत्व है (हेतु)
3. अन्य पट के समान है– (उदाहरण)

इसी अनुमान को तत्वदीपिकाकार ने गुणादिकों के मिथ्यात्व का अनुमान वाक्य कैसे बनेगा, बताते हुए कहा है–

1. अवयवी पदार्थ अपने अवयव मे विद्यमान अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है (प्रतिज्ञा)
2. क्योकि इसमें अवयवित्व है (हेतु)

---

[1] तस्माद् ब्रह्म भिन्न निखिल प्रपच मिथ्यात्व –वे० परि० पृ० 168

[2] मिथ्यात्व च स्वाश्रय त्वेज्ञाऽभिमत यावत्रिठात्यन्ता मान प्रतियोगित्वम्– वे० परि०, वृ० 169 170

[3] न च दृष्टान्ताऽ सिद्धि तस्यसाधि तत्वात् न चा प्रयोजकत्व शुक्ति रूथरजजु सर्पादीना मिथ्यात्वे ब्रह्म भिन्नत्व स्यैव लाव्यवेन प्रयोग कत्वात् वे० परि० पृ० 168

3. अन्य अवयवो के समान है – (उदाहरण)

यहाँ आशका उपस्थित होती है कि पटादि के मिथ्यात्व का साधक अनुमान वाक्य तो प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित हो जाता है, क्योकि अनुमान वाक्य तो यही बनता है कि ब्रह्म भिन्न समस्त प्रपच मिथ्या है तथा उसी प्रपंच में तो पटादि पदार्थ आते है, परन्तु ब्रह्म से भिन्न घट पर पटादि समस्त पदार्थ असत् न होकर सत् होंगे क्योकि अनुभव सिद्ध है कि धट का 'प्रत्यक्ष' हो रहा है। ज्येष्ठ प्रमाण होने से प्रत्यक्ष द्वारा अनुमान का बाध होगा।

अद्वैत वेदान्त इसका निवारण करता है कि 'सत्घट' इत्यादि प्रत्यक्ष ज्ञान में 'सत्' एवं 'घट' ये दो विषय हैं। उनमे सत् ज्ञान का विषय सत् ब्रह्म है तथा घट ज्ञान का विषय सद्भिन्न असत् घट। अतः सत् घटः इस प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय अधिष्ठान ब्रह्म होने से उससे भिन्न घट पटादि की सत्यता सिद्ध नहीं होती। इस प्रकार अनुमान वाक्य प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित नही होता।[1]

इस प्रकार सिद्ध है कि 'ब्रह्म भिन्न' सब कुछ मिथ्या है जैसे शुक्ति रूपादि यह अनुमान वाक्य जगत् के मिथ्यात्व की सिद्धि मे पूर्णतया सक्षम है।

तत्व विवेचन में अनुमान प्रमाण की उपयोगिता

चार्वाक के अतिरिक्त प्राय सभी दार्शनिक अनुमान प्रमाण मानते है। वेदान्त का मानना है कि आत्मा या ईश्वर का ज्ञान अनुमान से नहीं हो सकता। ब्रह्म निर्गुण, स्वयसिद्ध है, उसके विषय मे व्याप्ति नही बन सकती।

---

[1] वेदान्त परिभाषा, पृ० 174

जगत् कारण के रूप मे ईश्वर की सिद्धि अनुमान से नही अपितु श्रुति से होती है।

जहॉ–जहॉ व्याप्ति बनती है, वहॉ–वहॉ अनुमान प्रमाण के द्वारा ज्ञान हो सकता है, किन्तु जहॉ व्याप्ति नही बनती, वहॉ उसका ज्ञान अनुमान द्वारा नहीं हो सकता। निर्गुण ब्रह्म के विषय में किसी प्रकार की व्याप्ति नही बनती इसलिए उसका ज्ञान अनुमान प्रमाण द्वारा नही हो सकता।

यद्यपि अनुमान द्वारा ब्रह्म का ज्ञान नही हो सकता, तथापि वेदान्त सिद्धान्त मे अनुमान का तात्विक महत्व माना जाता है। अनुमान के द्वारा स्वतन्त्र विधि से ब्रह्म का ज्ञान नही होता किन्तु यह ब्रह्म ज्ञान मे सहायक है। श्रुति सम्मत अनुमान से या श्रुति समर्थक अनुमान से ब्रह्म ज्ञान की पुष्टि होती है। अनुमान स्वतत्र रूप के कारण नही है।

जगत् प्रपच का कारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति नही तथा परमाणु भी नही, इत्यादि विकल्पो का खण्डन श्रुति मूलक अनुमान द्वारा होकर वेदान्त ने ब्रह्म को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण माना है इस प्रकार साक्षात् न होकर परोक्ष रूप से अनुमान तत्व विवेचन मे सहायक माना जाता है।

शब्द प्रमाण

शब्द का दार्शनिक जगत् में विशेष महत्व है। शब्द के बिना किसी प्रकार का ज्ञान नही हो सकता। ससार के समस्त व्यवहार एव दर्शन के सभी प्रमाणो का ज्ञान शब्द के माध्यम से होता है। इसलिए शब्द सबसे

महत्वपूर्ण है। आचार्य भर्तृहरि ने शब्द को ब्रह्म माना है। इसी शब्द या ब्रह्म का विवर्त यह समग्र विश्व है।[1]

चार्वाक, बौद्ध तथा वैशेषिक दार्शनिको के अतिरिक्त समस्त दार्शनिक सम्प्रदाय शब्द प्रमाण को स्वतन्त्र रूप से स्वीकार करते हैं। किन्तु अद्वैत वेदान्त शास्त्र में शब्द प्रमाण को ज्ञान का महत्वपूर्ण साधन स्वीकार किया गया है। इसी कारण 'शब्द' को ज्ञान के स्रोत के रूप मे स्वतन्त्र माना गया है। शब्द का स्वतन्त्र अस्तित्व 'वेदों' के प्रामाण्य का निरूपण करने के लिए स्वीकार किया गया है।

शंकराचार्य साहसपूर्वक घोषित करते है कि परम सत् या इन्द्रियानुभवातीत ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष या ज्ञान के दूसरे साधनों द्वारा न होकर केवल आगम द्वारा ही संभव है।[2] ब्रह्म को परम्परागत वैदिक गुरूओ की शिक्षाओं से ही जाना जा स कता है।[3] वेदो मे जिन विषयों का प्रतिपादन हुआ है, उन पर वेदों का वैसा ही स्वतन्त्र और साक्षात् अधिकार है, जैसे सूर्य का प्रकाश हमारे रूप एव रग के ज्ञान का साक्षात् साधन है। परम सत् का ज्ञान केवल उपषिदो द्वारा ही प्राप्त होता है।[4] इन्द्रियातीत ज्ञान 'शब्द' द्वारा ही प्राप्त होता है श्रुतियॉ परम ज्ञान की साधन है।[5]

---

[1] अनादि निधन ब्रह्म शबद तत्व यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थ भावेन, प्रक्रिया जगतोयत । वाकयपदीय ब्रह्मकाण्ड।

[2] प्रत्यक्षदिभि प्रमाणेन पर प्रत्याययितु शक्य, आगमेन तु शक्यते एव प्रत्याययितु। शा० भा० के० 1/4

[3] ब्रह्म .आचार्यो पदेशपरम्प रायेवाधि गन्तवा – श० भा० केन० 1/4

[4] शब्दमूल एवातीन्द्रियार्थ मायात्म्याधि गम – शा० भा० सू० 2/1/27

[5] शास्त्त अन्त्य प्रमाणम् – श० भा० गीता 2/18

शकराचार्य के अनुसार श्रुति प्रमाण की आवश्यकता केवल इन्द्रियातीत विषयो के ज्ञान के सम्बन्ध मे ही मानते हैं, इन्द्रियानुभव या सासारिक विषयो के साक्ष्य के लिए नहीं।[1] इसलिए अतिरिक्त ब्रह्म या सर्वव्यापी आत्मा के ज्ञान के विषय में भी आचार्य श्रुतियो, शिक्षाओ से सन्तुष्ट नहीं हो जाते। उनकी दृष्टि में केवल श्रुतियों द्वारा प्राप्त परोक्ष ज्ञान पर्याप्त नही है, अपितु अपरोक्षानुभूति द्वारा प्रमाणित किया जाता हैं। व्यक्ति स्वयं साक्षात् अनुभव के द्वारा ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो सकता है। अतः वे शाब्दिक ज्ञान की उपेक्षा भी करते है।[2]

शब्द प्रमाण का लक्षण

अद्वैत वेदान्त मे शब्द प्रमाण का लक्षण माना गया है। जिसका पदार्थ संसर्ग, किसी भी अन्य प्रमाण से बाधित नहीं होता, ऐसे वक्ता के तात्पर्य विषयीभूत ससर्ग के बोधक वाक्य को ही शब्द प्रमाण कहते है।[3] शब्द प्रमाण मे कभी–कभी तात्पर्य अर्थ का प्रमाणान्तर से आपाततः अर्थ खण्डन हो सकता है परन्तु तात्पर्य का प्रमाणान्तर से बाध्य नहीं हो सकता इसलिए शब्द प्रमाण के लक्षण मे 'मानान्तराबाधित्वं' तथा 'तात्पर्य विषयी भूतत्व' ये दो विशेषण दिये गए है

'मानान्तराबाधित्वं' विशेषण के प्रयोग न करने पर वह्निना सिचते वाक्य मे अतिव्याप्ति होगी, क्योकि प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा यह अर्थ रोका जा रहा

---

[1] अनुभवावसन च ब्रह्म विज्ञान मोक्ष साधन – शां० भा० ब्रह्मसूत्र 2/1/4

[2] अपरोक्षानुभूति 133

[3] यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूत स सर्गो मानान्तरेण न बध्यते तद्वाक्य प्रमाणम्– वे० परि० पृ० 187-189

है। सिचन क्रिया जल से हो सकती है अग्नि जैसे अद्रव्य पदार्थ से सभव नही है।

इसी प्रकार 'तात्पर्यविषयीभूतत्वं' के न होने पर 'स प्रजापतिरात्मनो वपाउदखिदत्' इत्यादि श्रुति वाक्य पर अव्याप्ति दोष आता है। श्रुतिवचन की अप्रमाणिकता को रोकने के लिए वाक्य का तात्पर्य निर्धारित किया जाता है। इस वाक्य का तात्पर्य है कि प्रजापति ने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक यज्ञ किया, जन सामान्य को भी यह अत्यन्त श्रद्धा पूर्वक करना चाहिए।

शब्द का स्वरूप

शब्द के स्वरूप के विषय मे दार्शनिकों मे वैमत्य है। न्याय–वैशेषिक, सख्य–योग, बौद्ध–जैन इत्यादि दार्शनिक शब्द को अनित्य स्वीकार करते है। जबकि अद्वैत वेदान्ती तथा मीमांसक शब्द को नित्य मानते है। शकराचार्य ने वृत्तिकार उपवर्ष से सहमत होकर कहा है कि अक्षर ही शब्द है। ये अक्षर नष्ट नही होते, क्योकि प्रत्येक बार जब उन्हे नये रूप मे प्रकट किया जाता है तो उन्हे 'ये वही अक्षर है' इन प्रकार पहचान लिया जाता है।[1] शब्द सख्या मे अनेक होने के कारण जाति अथवा आकृति का बोध कराते है, व्यक्तियो का नही। परवर्ती वेदान्तियो ने भी शब्द के नित्यत्त्व को स्वीकार किया है।

---

[1] वर्णा एव तु शब्द इति भगवानुवर्ष ननूत्पन्न – प्रध्वसित्व वर्णानामुक्त तन्न न एवेति प्रत्य भिज्ञानात् – ब्र० सू० शा० भा० 3/8/28

पदार्थ

वक्ता अपने अभीष्ट अर्थ को शब्दो द्वारा अभिव्यक्त करता है, तथा श्रोता उन्ही शब्दों के द्वारा अर्थ का ग्रहण करता है। 'वाक्य' को शब्द बोध कराने वाली सबसे छोटी इकाई माना गया है। वाक्य की छोटी इकाई 'पद' होती है कई पदो से मिलकर वाक्य बनता है। पद भी अपना अर्थ स्पष्ट करने में समर्थ होता है। 'वर्ण' अर्थ बोधन मे कुसमर्थ होने से वाक्य की इकाई नही स्वीकार किये जाते। पाणिनि के अनुसार 'सुप्त' एव 'तिडन्त' ही पद है।[1] अद्वैत वेदान्ती शक्ति को पृथक् पदार्थ मानकर उनसे अर्थ बोधन को स्वीकार करते है।[2]

पदार्थ बोध के भेद

वाच्य तथा वाचक के सम्बन्ध से ही पदार्थ बोध होता है। वाच्य–वाचक की सम्बन्ध प्रणाली जिस प्रकार की होगी, अर्थ बोध भी उसी प्रकार का होगा। नैयायिको ने वाच्य–वाचक का सम्बन्ध सकेतिक मानते हुए उसे तीन प्रकार का माना है, अतएव पदार्थ बोध भी तीन प्रकार का ही है।

(i) मुख्यार्थ(ii) लक्ष्यार्थ(iii) परिभाषित

इन्ही के प्रकाशनार्थ अभिधा लक्षणा तथा परिभाषा को स्वीकृति प्रदान की गयी है।[3] किन्तु अद्वैत वेदान्त मे पदार्थ बोध तीन न मानकर शक्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ दो प्रकार के ही माने गए है तथा इनके प्रकाशन के लिए अभिधा शक्ति तथा लक्षणा शक्ति को स्वीकार किया गया है।[4]

---

[1] सुप्तिड्न्त पद – अष्टाध्यायी 1/4/14
[2] सा च शक्रि पदार्थान्तरम् – वे० परि० पृ० 207
[3] कारिकावली, पृ० 81
[4] पदार्थश्च द्विविध शक्योलक्ष्यश्चेति–के० परि० , पृ० 207

(i) **शक्यार्थ अथवा मुख्यार्थ** – वेदान्त शास्त्र मे कहा गया है कि जिस अर्थ को शक्ति वृत्ति से पद बतलाना है उसे 'शक्यार्थ' कहते है तथा जिस अर्थ को लक्षणवृत्ति से पद बतलाता है उसे 'लक्ष्यार्थ' कहते है। वृत्ति के भेद से ही पदार्थो के दो भेद है। पदो मे अपने – अपने अर्थो मे रहने वाली मुख्य वृत्ति को 'शक्ति वृत्ति' कहा जाता है।[1] इस शक्ति वृत्ति से जिस अर्थ का ज्ञान होता है, उसे अभिधेयार्थ या शक्यार्थ कहते है। यथा– 'घट' पद के तल तथा मध्य भाग मे वर्तुल आकार से युक्त वस्तु विशेष मे रहने वाली वृत्ति ही शक्ति कही गयी है। –

(ii) **लक्ष्यार्थ** – 'अभिधा वृत्ति' के शब्दगत मुख्य वृत्ति होने से समस्त दार्शनिक सम्प्रदाय इसे निर्विरोध रूप से स्वीकार करते है। अद्वैत वेदान्तानुसार शक्य सम्बन्ध का नाम 'लक्षणा' है तथा लक्षणा वृत्ति के विषयको 'लक्ष्य' कहते है। लक्षणा 'केवल लक्षणा' तथा 'लक्षित लक्षणा' के भेद से दो प्रकार की होती है।[2] इनमे शक्य से सीधा रखने वाली 'केवल लक्षणा' कही जाती है।[3] यथा गगाया घोष.। प्रकृत दृष्टान्त मे गाव मे पाव का रहना सम्भव नही अतएव गगा के प्रवाह से जिसका सीधा सम्बन्ध हो अर्थात् 'तट' अर्थ मे लक्षणा है।

जिस स्थल पर परम्परा सम्बन्ध से अर्थान्तर की अर्थात् वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है, वहॉ 'लक्षित लक्षणा' कही जाती है।[4] यथा – 'द्विरेफ' पद। इस पद का वाच्यार्थ है– 'दो रकार'। किन्तु 'शर्करा' इत्यादि

---

[1] तत्र शक्तिर्नाम पदानार्थेषु मुख्या वृत्ति – वही।
[2] लक्षणा च द्विविधा, केवल लक्षणा लक्षित लक्षणा चेति – वे० परि० पृ० 221
[3] शक्य साक्षात्सम्बन्ध केवल लक्षणा – वे० परि० पृ० 221
[4] यज्ञ शक्य परम्परा सम्बन्धेनर्थान्तरप्रतीतिस्तत्र लक्षित लक्षण – वे० परि० पृ० 223

दो रेफो से युक्त पदो की भी उपस्थिति होती है, उसके निवारणार्थ 'भ्रमर' रूप अर्थ मे ही यह लक्षणा निरूढ है। उस भ्रमर पद का भ्रमर रूप अर्थ शक्ति सम्बन्ध है, इस कारण मधुकर अर्थ की प्रतीत होती है। आलकारिक गौणी वृत्ति का अद्वैत मतानुयायी लक्षणा मे ही समन्वय कर लेते है। यह 'सिहो माणवक' मे सिह शब्द का पशु वाच्यार्थ है तथा उससे सम्बन्धी है शौर्य एव कौर्य इत्यादि धर्म। इन धर्मो के सम्बन्ध से माणवक की प्रतीति लक्षित लक्षणा वृत्ति से ही है। इसलिए भिन्न गौणी वृत्ति की आवश्यकता नही है।[1] नैयायिक 'लक्षणा' की पदमात्र वृत्ति मानते है, अर्थात् जो भी वृत्ति हो उसका लक्षणा में भी शक्ति के समान वृतित्व है। परन्तु अद्वैत वेदान्त में इस मत को अस्वीकार करते हुए कहा गया है कि लक्षणा केवल पदमात्र वृत्ति नही, अपितु वाक्य वृत्ति भी है।[2] अर्थात् वाक्य की भी लक्षणा हो सकती है। इस प्रकार प्रशंसारूप 'अर्थवाद' वाक्यों की विधि के 'प्राशस्त्य मे लक्षणा' एव 'साऽरोदीत्' इत्यादि निन्दार्थक अर्थवाद वाक्यो की निन्दा अर्थ मे लक्षणा होती है।[3]

प्रकारान्तर से लक्षणा के तीन भेद होते है। जहद् लक्षणा, अजहद् लक्षणा, जहदजहद् लक्षणा।

(क) **जहद् लक्षणा** –जब शब्द अपने वाच्य अर्थ को बिल्कुल छोड देता है तथा केवल लक्ष्य अर्थ का ही ज्ञान कराता है, तो उसे 'जहद् लक्षणा' कहते है। जहद् का अर्थ है छोडना। यहॉ शब्द अपने मुख्यार्थ को छोड देता है,

---

[1] गौण्यपि लक्षित लक्षणैव –वे० परि० पृ० 224

[2] लक्षणा च न पदमात्र वृत्तिः; किन्तु वाक्य वृत्तिरपि – वे० परि०, पृ० 238

[3] एवमर्थवाद वाक्याना प्रशसा रूपाणा निन्दितत्वे लक्षणा – वे० परि० पृ० 240

यथा – 'विष खादय' का वाच्य अर्थ है विष खालो। किन्तु शब्द इस अर्थ को छोड देता है। यहॉ शत्रु के घर भोजन करने जा रहे व्यक्ति को उलाहना है कि शत्रु के घर भोजन करने से अच्छा है स्वय अपने ही घर में विष खालो। इस प्रकार यहॉ विष खालो का अर्थ है शत्रु के यहॉ भोजन करने मत जाओ।[1]

(ख) अजहद् लक्षणा- लक्षणा का दुसरा भेद है अजहद् लक्षणा। जब वाक्य अपने वाच्य अर्थ के साथ ही साथ लक्ष्य अर्थ का ज्ञान कराता है, तो अजहद् लक्षणा होती है। यथा 'शुक्ल घटः' मे शुक्ल पद, शुक्ल गुण का वाचक होते हुए भी शुक्ल गुण विशिष्ट घट का ज्ञान करा रहा है।[2]

(ग) **जहद् अजहद् लक्षणा–** जहद् का अर्थ है छोड देना एव अजहद् का है, नही छोडना, जब कोई विशिष्ट अर्थ वाचक शब्द अपने विशेषण के अर्थ को छोड कर केवल विशेष्य के द्वारा प्राप्त अर्थ का ही ज्ञान कराता है तो जहदजहद् लक्षणा होती है। यथा– 'सोऽयं देवदत्तः' यहॉ सः का अर्थ 'वह' है, भूतकाल वाला एव उसी भूतकाल के स्थान वाला देवदत्तः, अय का अर्थ है यह, वर्तमान काल वाला देवदत्त, इस अर्थ से दोनो देवदत्तो का अभेद सम्बन्ध नही हो सकता। इन दोनो को अभिन्न लिग करने के लिए विशेषण के अर्थ का त्याग करना पडेगा, देवदत्त बचेगा, इस प्रकार दोनो का परस्पर अभेद हो जाएगा। इस लक्षणा का 'भाग त्याग लक्षणा' भी कहते है।

---

[1] यत्र शक्यमनन्तर्भाव्य यत्रार्थान्तरप्रतीतिस्तत्र जहल्लक्षणा, यथा विष गुड्द वेति – वे० परि० पृ० 226

[2] यत्र शक्यार्थमन्तर्भाव्यैवार्थान्तर प्रतीतिस्तत्राजहल्लक्षण, यथा शुक्लोघट इति – वे० परि० पृ० 228

अद्वैत वेदान्त शास्त्र मे 'तत्वमसि' महावाक्य का अर्थ इसी लक्षणा द्वारा किया जाता है। 'तत्' पद का अर्थ है सर्वज्ञ एव अपरोक्ष चैतन्य 'त्वम्' पद का अर्थ है अल्पज्ञ चैतन्य, ये दोनो विरूद्ध धर्म वाले है। इनका अभेद नही हो सकता। अतएव इनका अभेद सिद्ध करने के लिए इनके भी विशेषण अश सर्वज्ञ एवं अल्पज्ञ को छोडकर विशेष्य अश के अभेद माना जाएगा। विशेष्य अश चैतन्य है, इस प्रकार का दोनो का अभेद सिद्ध होता है।[1]

शब्द शक्ति

अद्वैत वेदान्त दर्शन मे पदनिष्ठा शक्ति प्रत्येक पद से उत्पन्न पदार्थ ज्ञान रूप कार्य से अनुमान प्रमाण के द्वारा ज्ञेय है।[2] इस शक्ति से उत्पन्न होने वाले ज्ञान का जो विषय बनता है, वह पदार्थ 'शक्त' होता है अर्थात् वाच्य होता है। तथा यह 'शक्तत्व या वाच्यत्व' जाति में ही होता है, व्यक्ति में नही। व्यक्तियो के असंख्य होने से प्रत्येक व्यक्ति मे पृथक् शक्तत्व मानने पर गौरव दोष होगा। नैयायिको द्वारा मान्य 'व्यक्ति शक्तिवाद' का अद्वैत वेदान्त मे निराकरण किया जाता है।

अद्वैत वेदान्त मानता है कि जाति एव व्यक्ति के एक ही ज्ञान हो से ज्ञात होने के कारण 'जाति' का ज्ञान होते ही व्यक्ति का भी ज्ञान जाता है।[3] किन्तु पदनिष्ठ शक्ति 'जाति' मे ही निहित होती है। शाब्दबोध मे 'शक्ति' दो

---

[1] यथा वा तत्वमसीत्यादौ तत् पद लक्षणेति साम्प्रदायिका – वे० परि० पृ० 229

[2] सा च तत्तत्पदजन्य पदार्थज्ञान कार्य्यानुमेया – वे० परि० पृ० 210

[3] तच्च जातेरेव न व्यक्ते व्यक्तीनामानन्त्येन समान सवित्सवेधत्वादिति, ब्रूम – वे० परि० पृ० 210-211

प्रकार से कारण बनती है, एक तो स्वरूपत, दूसरा ज्ञायमान होकर। यथा– 'गो' आदि पदो की व्यक्ति मे शक्ति स्वरूप से रहती है, किन्तु व्यक्ति के बोधन मे वह शक्ति बिना ज्ञात हुए ही बनती है। 'गो' जाति मे निहित शक्ति ही गो–व्यक्ति शक्ति का भी ज्ञान कराती है।[1] अद्वैत वेदान्त मे शक्ति का निरूपण शक्त पदार्थ के प्रसग मे किया जाता है।

अद्वैत वेदान्त में नैयायिको के मान्य 'ईश्वरेच्छा पदनिष्ठ शक्ति' मत का खण्डन करते हुए शक्ति को पृथक् पदार्थ स्वीकार किया जाता है। सामान्य इच्छा पद मनुष्य की इच्छा में रूढ है इसलिए वृत्ति रूप शक्ति को पृथक् पदार्थ ही मानना उचित होगा। मात्र पदार्थ बोधन सामर्थ्य रूप पदवृत्ति शक्ति ही पृथक् पदार्थ नहीं, अपितु संसार की समस्त वस्तुओं के कारणों मे विद्यमान कार्योत्पादनानुकूलता को ही शक्ति समझकर सामान्य शक्ति को भी अतिरिक्त पदार्थ के रूप मे स्वीकृत किया है।

वाक्यार्थ निरूपण

कुछ पदों के समूह को वाक्य कहते है। वक्ता अपने अभिप्राय को श्रोता तक सम्प्रेषित करने के लिए इस समूहभूत वाक्य का प्रयोग करता है। यही सभी पद मिलकर एक पूर्ण अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। इस अर्थ बोध का आधार शब्द के रूप मे 'पद' होने के कारण, इस बोध को 'शाब्द बोध' या 'शाब्दी प्रमा' कहते है।

---

[1] यद्वा गवादि पादाना व्यक्तो शक्ति व्यक्तिधीविलम्बाभावाच्च–वे० परि० पृ० 214-215

वाक्य जन्य ज्ञान के सहकारी कारण –

यद्यपि पदो का समूह ही वाक्य कहा जाता है, तथापि पदो के प्रत्येक समूह को वाक्य नही कहा जा सकता। एक विशेष स्थिति मे उच्चरित होने पर ही ये वाक्य कहलाते है। अद्वैत वेदान्त मे 'आकाक्षा' योग्यता, आसत्ति अथवा सन्निधि तथा तात्पर्य ज्ञान को वाक्य जन्य ज्ञान मे सहकारीकारण के रूप मे स्वीकार किया गया है।[1] न्याय शास्त्र तात्पर्य ज्ञान को नही मानता, परन्तु अद्वैत वेदान्त मे 'तात्पर्य ज्ञान' पर ही अधिक बल दिया गया है।

(i) **आकांक्षा**– आकांक्षा से तात्पर्य है शब्दो की पारस्परिक अपेक्षा। यथा– गो·, अश्व·, मनुष्य· इन शब्दों का समूह अर्थ की प्रतीति नहीं करा सकता, क्योंकि ये परस्पर आकाक्षा रहित है। कोई भी वाक्य कम से कम दो पदो से बनता है, जिसको सुनने पर पदार्थ का ज्ञान होता है। वेदान्त शास्त्र मे आकाक्षा का लक्षण बताया गया है कि पदार्थो का परस्पर जिज्ञासा का विषय होने की योग्यता को 'आकाक्षा' कहते है।[2] ऐसी परस्पर योग्यता की अपेक्षा जिन पदो मे रहती है, उसे आकाक्षा माना जाता है, यथा – 'गामानय' वाक्य मे 'गा' पद के तुरन्त बाद 'आनय' पद की आकाक्षा उत्पन्न हो जाती है। जिज्ञासा रहित व्यक्ति को भी वाक्यार्थ का बोध होने के कारण कही आकाक्षा का लक्षण अव्याप्ति दोष युक्त न हो जाए अतएव लक्षण मे 'योग्यत्व' पद का निवेश किया जाता है।[3] क्रियाकारकत्वादि योग्यता के अवछेदक है। गो, अश्व इत्यादि पद समूहो मे क्रिया कारकत्वादि का अभाव है किन्तु 'तत्वमसि'

---

[1] वाक्यजन्ये ज्ञाने च आकाक्षायोग्यताऽऽसत्त्यास्तात्पर्यज्ञान चेति चत्वारि कारणानि – वे० परि०, पृ० 189

[2] तत्र तदार्थाना परस्पर जिज्ञासा विषयत्व योग्यत्वमाकाक्षा – व० परि०,पृ० 191

[3] अपिज्ञासोऽपि वाक्यार्थ बोधाद्योएत्वमुपात्म् – वे० परि० पृ० 192

इत्यादि अलौकिक वाक्यो मे सभी पद समान विभक्ति वाले है, तथा उन दोनो पदो के अभेद अर्थ का प्रतिपादन ही अभीष्ट होने के कारण योग्यता के अवच्छेदक के विद्यमान होने से अव्याप्ति दोष नही है।[1]

(ii) **योग्यता** – तात्पर्य विषयी भूत संसर्ग का बाध न होना ही 'योग्यता' कहा जाता है।[2] योग्यता का तात्पर्य है अर्थ का अविरोधी होना, ताकि पद विशेष के अर्थ का वाक्य के दूसरे पदो के अर्थ के साथ अन्वय करने पर वाध न हो। यथा गौ को बाध दो, यह वाक्य योग्य होने से प्रामाणिक है। किन्तु 'अग्निना सिञ्चति' वाक्य मे योग्यता का अभाव है।

'तत्वमसि' आदि महावाक्यों मे 'योग्यता' विद्यमान है क्योकि इसका तात्पर्य विषयीभूत अर्थ 'तत्' एव 'त्वम्' पदार्थ का अभेद ही है। इन पदो के द्वारा लक्ष्यार्थ विवक्षित एव अबाधित है।[3] इस प्रकार योग्यता का लक्षण दोषरहित है।

(iii) **आसत्ति** – व्यवधान रहित पदजन्य पदार्थ की उपस्थिति को 'आसत्ति' कहते हैं।[4] यथा 'गाम्' पद के अन्तिम 'म्' पद के उच्चारण के अव्यवहित पश्चात् 'आनय' पद के आदि वर्ण 'अ' का उच्चारण प्रारम्भ हो जाना चाहिए। इन दोनो पदो के विलम्ब से उच्चारण करने पर दोनो पदो मे आसत्ति अथवा संन्निधि का अभाव होगा। आसत्ति का यही रूप न्याय शास्त्र मे भी मान्य है।

---

[1] अभेदान्वय च समान विभक्ति प्रति पाद्यत्व तदवच्देदक मिति तत्व मस्यादि वाक्येषुनाव्याप्ति – वे० परि० पृ० 192

[2] योग्यता च तात्पर्य विषयी भूत ससर्गा बाध – वे० परि०, पृ० 202

[3] तत्वमस्यापियाक्येष्वपि वाच्याभेद बाधेऽपि लक्ष्यस्वरूपाभेदे बाधाभावाद्योग्यता – वे० परि० पृ० 202

[4] आसत्तिश्चाव्यवधानेन पदजन्य पदार्थोपस्थिति। – वे० परि० पृ० 204

पदार्थ की उपस्थिति पद जन्य होने पर भी उस पदार्थ का शाब्द बोध होता है तथा किसी अन्य उपाय से पदार्थ का ज्ञान होता है तो वह प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणो से होता है।[1] लौकिक वाक्यो के समान ही वेद मे भी माना जाता है। जैसे 'इषेत्वा' इत्यादि मन्त्रो 'छिनछिन' पद का अध्याहार कर लिया जाता है। इस प्रकार आसत्ति एव शाब्द बोध मे कार्यकारणभाव सम्बन्ध सिद्ध होता है।

(iv) **तात्पर्य ज्ञान** – अद्वैत वेदान्ती तथा कुछ नैयायिक भी तात्पर्य ज्ञान को शाब्द बोध में हेतु स्वीकार करते हैं। तात्पर्य का लक्षण न्याय एव वेदान्त दोनों में भिन्न–भिन्न है। न्याय दर्शन वक्ता की इच्छा को ही तात्पर्य मानता है।[2] किन्तु वेदान्त शास्त्र तात्पर्य का परिष्कृत लक्षण प्रस्तुत करता है। उनके अनुसार पदार्थो के ससर्ग का अनुभव उत्पन्न करने की वाक्य में योग्यता का होना ही तात्पर्य है।[3] अर्थात् जो वाक्य विवक्षित अर्थ की प्रतीति कराता है, किन्तु विवक्षित अर्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति नही कराता, उस शब्द का उसी अर्थ मे तात्पर्य समझना चाहिए। भोजन के समय 'सैन्धव आनय' वाक्य का उच्चारण हुआ। 'सैन्धव' पद के कई अर्थ है। वक्ता उसको अपने विवक्षित अर्थ में ही प्रयोग करेगा। इसलिए सैन्धव पद का प्रकारणानुसार अर्थ 'नमक' हुआ।

यहाँ शंका होती है कि शुकोच्चारित तथा अव्युत्पन्न पुरूष के वाक्य मे अव्याप्ति होगी, क्योकि उच्चारण करते समय वास्तविक अर्थ की प्रतीति की इच्छा उन दोनो मे नही होती। इसका समाधान देते हुए अद्वैत वेदान्त शास्त्र

---

[1] मानान्तरोप स्थापित पदार्थस्यन्वय बोधाभावात्पद जन्येति – वे० परि० पृ० 204
[2] वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यम् – तर्कसग्रह कारिका, पृ० 84
[3] तत्प्रतीति जनन योऽयत्व तात्पर्यम्– वे० परि० पृ० 247

मे कहा गया है कि चूकि अपने विवक्षित अर्थबांध जनन की योग्यता उक्त वाक्यो मे है, तथा उससे भिन्न अर्थ की प्रतीति की इच्छा से इनका अच्चारण नही किया गया है, अतएव यहा अव्याप्ति दोष नहीं है। अद्वैत वेदान्त मे विवक्षित अर्थ प्रतीति मात्र जनन योग्यता की अवच्छेदिका 'शक्ति' को ही माना गया है। इस प्रकार शब्द मे विशिष्ट शक्ति के होने पर विशिष्ट अर्थ प्रतीति करा देने की योग्यता रहती है।[1] अद्वैत वेदान्त शास्त्र मानता है कि कार्य परक शब्दो के समान 'लोक' तथा वेद मे 'सिद्धार्थ' बोधक शब्दो मे भी प्रामाण्य होता हैं। वेदान्त वाक्यो का न तो क्रिया बोधन एव न ही उपासना बोधन में तात्पर्य है, अपितु ये वाक्य स्वतन्त्र रूप से 'ब्रह्म' अर्थ के बोधक है। 'ब्रह्म' में ही तात्पर्य होने के कारण इनका प्रामाण्य कहा गया है।[2]

शब्द प्रमाण के भेद

अद्वैत वेदान्त मे पौरूषेय तथा अपौरूषेय वेद रूप से शब्द प्रमाण के दो भेद स्वीकार किये गए हैं।[3] वेदान्त मत से वेद अपौरूषेय तो है, किन्तु सृष्टि के समय उसका प्रादुर्भाव होता है, एव प्रलय के समय वह तिरोहित हो जाता है। ब्रह्म के श्वास– प्रश्वास से वेदो की रचना मानी गयी है।[4] इसलिए वेद नित्य नही हैं। किन्तु वेद अनित्य भी नही हैं। वह आकाश के समान है। सृष्टि के प्रारम्भ मे परमेश्वर ने वेदो की रचना की थी वह रचना

---

[1] उक्त प्रतीति मात्र जनन योग्यतायास्वावच्छेदिका शक्ति, अस्माक तु मते सर्वत्र कारणताया शक्तेरेवावच्छेदकत्वान्न कोऽपि दोष – वे० परि० वृ० 253

[2] अतएव वेदान्त वाक्याना ब्रह्मणि प्रामाण्यम् – वे० परि० पृ० 258

[3] एव पौरूषेयापौरूषेय भेदेनागमोद्विधा निरूपित – वे० परि० पृ० 265

[4] अस्य महतो भूतस्य नि श्वासितम् एतत् यद् ऋग्वेद – वृहगा० उप० 2/4/10

स्वतन्त्र नही थी। वेद की रचना मे परमेश्वर भी स्वतन्त्र नही है, वह भी यथापूर्वम् नियम से वेद की अभिव्यक्ति करता है। अत. वेद अपौरूषेय ही है।

पौरूषेय शब्द प्रमाण पुरूष प्रणीत होने के कारण लौकिक शब्द प्रमाण भी कहा जाता है। ज्ञान के सभी साधनो मे प्रत्यक्ष की प्राथमिकता सर्वस्वीकृत तथ्य है। एक बार इसे स्वीकार कर लेने पर यह भी मानना पडेगा कि अनुभव जितना अपरोक्ष और और स्पष्ट होगा, वह उतना ही अधिक विश्वसनीय होगा। किन्तु वाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष कभी–कभी त्रुटि पूर्ण होता है, इसका कारण इन्द्रियों एवं प्रत्यक्ष वस्तु के बीच माध्यम का त्रुटि पूर्ण होना है। इन्द्रियाँ ही प्रत्यक्ष की माध्यम है, किन्तु उनकी शक्तियाँ अनेक प्रकार से सीमित है। कठोपनिषद मे कहा गया है कि स्वभू ईश्वर ने इन्द्रियों को बहिर्गामी बनाया है, वे वाह्य वस्तुओं को ही देख और जान सकती हैं। उनसे आत्मा का ज्ञान नही हो सका।[1] इसके अतिरिक्त उनकी सहायता से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह ससीम प्रकृति अथवा कुछ विशेष तथ्यों से ही सम्बन्धित होता है। वस्तुओं के विश्वव्यापी या आन्तरिक ज्ञान के लिए हमे प्रज्ञा, तर्कशक्ति या अर्न्तदृष्टि का सहारा लेना पडता है। इसके अतिरिक्त उचित–अनुचित, पाप पुण्य आदि का ज्ञान भी इन्द्रिय द्वारा सभव नही। इन्द्रियातीत विषयो मे प्रज्ञा के द्वारा किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है। किन्तु आत्मा के स्वरूप के विषय मे कोई एक निश्चित मान्यता निर्धारित नही हो पाती अतः शकराचार्य का मानना है कि इस प्रकार के प्रश्नो पर श्रुतियों का सबसे बडा अधिकार है क्योकि वे ऐसे ऋषियो एव द्रष्टाओ द्वारा प्रणीत है जिन्हें उनका साक्षात् एव निश्चित ज्ञान हुआ था।

---

[1] कठोपनिषद 2/4/1

तत्व विवेचन में शब्द प्रमाण की उपयोगिता

तत्व विवेचन मे शब्द प्रमाण का प्रमुख स्थान है। ब्रह्म का निर्वचन शब्द प्रमाण के आधार पर ही सभव है। इसी को श्रुति प्रमाण भी कहते है। श्रुति एव अनुभव दोनो ही ऐसे प्रमाण है जिनके माध्यम से ब्रह्म का ज्ञान किया जा सकता है। ब्रह्म जगत् का उत्पत्ति कर्त्ता, पालनकर्त्ता एव विनाशकर्त्ता है। उपनिषद् वाक्यो एव ब्रह्म सूत्र के आधार पर ही इस तथ्य की पुष्टि होती है। प्राय सभी उपनिषद् वाक्यो के माध्यम से ब्रह्म की सिद्धि होती है। अभेद का प्रतिपादन करने वाले उपनिषद् वाक्यो के रहते हुए इन वाक्यों का दूसरा अर्थ नही किया जा सकता।

ब्रह्मसिद्ध वस्तु है, तथा इसका प्रतिपादन श्रुति के अतिरिक्त अन्य से नही हो सकता। 'तत्वमसि' इस प्रकार के अभेद का प्रतिपादन श्रुति के अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण से सम्भव नही है।

'विवरणमत' का आशय है कि विषय के समीप होने पर अपरोक्ष ज्ञान तथा विषय के समीप न होने पर परोक्ष ज्ञान होगा। 'तत्वमसि' इन वाक्य के द्वारा जो ब्रह्म ज्ञान होता है, वह ब्रह्म प्रमाता से अभिन्न है तथा इस कारण अत्यन्त समीप भी। किन्तु 'भामती' मत के अनुसार इन्द्रियो मे सूक्षम विषय को ग्रहण करने की यदि क्षमता है तो विषय का अपरोक्ष ज्ञान होगा, अन्यथा नही। शब्द के द्वारा अपरोक्ष ज्ञान नही होता। उससे परोक्ष ही होता हे। श्रवण , मनन, निदिध्यासन के द्वारा जब मन सस्कार युक्त हो जाता है, तो उस सस्कार सम्पन्न मन के माध्यम से ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान होता है। जो मन ब्रह्म के समीप नही पहुच सकता (यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा

सह) वह संस्कार सम्पन्न नही होगा। सक्षेप में वेदान्त के इस सिद्धान्त का निष्कर्ष इस प्रकार होगा –

(क) ब्रह्म उपनिषद् वेद्य है। (ख) ब्रह्म केवल उपनिषद् वेद्य है। (ग) केवल ब्रह्म ही उपनिषद वेद्य है। इस प्रकार तत्त्व विवेचन की दृष्टि से शब्द प्रमाण का महत्वपूर्ण स्थान है।

वेदान्त सम्मत अन्य प्रमाण

इन तीन प्रमाणो के अतिरिक्त उपमान, अर्थापति एव अनुपलब्धि ये तीन अन्य प्रमााण भी वेदान्त मान्य है। 'उपमान प्रमाण के विषय के' मीमासा मत एव न्याय मत में भेद है। न्याय मतानुसार उपमान 'सज्ञा–संज्ञि' सम्बन्ध ज्ञान है, यथा–'गोसदृशगवयः' पद वाच्य यही गवय पशु है। उपमान में दृश्यमान 'गवय' का स्मृत 'गो' से सादृश्य का ज्ञान होता है 'गोसदृशो गवयः'। मीमासक उपमान के इस न्यायकृत निरूपण का खण्डन करते है। मीमांसा के अनुसार न्याय मत सम्मत 'संज्ञा संज्ञि सम्बन्ध ज्ञान' शब्द प्रमाण से होता है, उपमान से नही, तथा गवय का ज्ञान प्रत्यक्ष से हो जाता है। गवय के गोसादृश्यवान् होने का ज्ञान 'गोसदृशोगवय' इस आप्तवचन से हुआ, तदनन्तर वन में गोसदृश पशु को देखकर उसके प्रत्यक्ष से आप्तवचन की स्मृति होती है। अत मीमासाक मानते हैं कि न्याय का उपमान स्वतन्त्र प्रमाण न होकर, शब्द, स्मृति एव प्रत्यक्ष का मिश्रण मात्र है। मीमासा के अनुसार उपमान प्रमाण का स्वरूप है– उपमान मे स्मृत गो का दृश्यमान 'गवय' से सादृश्य, ज्ञान होता है – गवय सादृशी गौ। इसमे आप्त वचन की आवश्यकता नही होती, सादृश्य स्मरण पूर्वक ही उपमान होता है। चूकि सादृश्यज्ञान 'स्मृति' से भिन्न है, अतः उपमान प्रमाण की स्वतत्र सत्ता है। दृष्ट या श्रुत अर्थ की उपपत्ति जिस अर्थ से अभाव मे न हो सके उस अर्थ

की कल्पना को अर्थापत्ति कहते है।[1] प्रभाकर एव कुमारिल दोनो इसे स्वतन्त्र प्रमाण मानते है। किसी अर्थ की उपपत्ति के लिए अर्थान्तर की कल्पना की जाए अथवा दो तथ्यो के विरोधाभास को दूर करने के लिए जिस अर्थ की कल्पना की जाए वह 'अर्थापत्ति' है। 'जीवित देवदत्त घर मे नही है' इस वाक्य के दो तथ्यो मे अर्थात् देवदत्त के जीवित होने तथा उसके घर मे न होने मे असगति अथवा विरोधाभास का निराकरण देवदत्त के घर से बाहर होने की अर्थ कल्पना से हो जाता है। अर्थापत्ति मे कोई लिंग या हेतु नहीं होता।

कुमारिल तथा अद्वैत मत में अनुपलब्धि को भी स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है। कुमारिल का मानना है कि प्रमाण के ज्ञान के लिए अनुपलब्धि नामक स्वतन्त्र प्रमाण मानना आवश्यक है। यद्यपि प्रत्यक्ष एव अनुमान द्वारा भी ब्रह्म–ज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं है तथापि लौकिक ज्ञान में इनकी अत्याधिक आवश्यकता होती है। तथा उपमान अर्थापत्ति एव अनुपलब्धि इन्ही के आधार पर थोडे भेद से माने जाते है।

- प्रामाण्यवाद

समस्त दार्शनिक सम्प्रदायो में प्रामाण्यवाद की समस्या महत्वपूर्ण समस्या है ज्ञान के प्रमाण्य के लिए विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायो मे विभिन्न मतों का प्रतिपादन किया गया है। यथार्थ ज्ञान ही प्रमा है तथा उसकी कारण सामग्री प्रमाण है। प्रमाता को प्रमा के याथार्थ्य तथा प्रमाण के सत्यत्व की इच्छा होती है। ज्ञान के इस निश्चय को हो ही 'प्रामाण्य' कहा जाता है।

---

[1] अर्थापत्ति रवि दृष्ट श्रुतो वाऽथोऽन्यथा नोपद्यते इत्यर्थकल्पना –शवर भाष्य 1/1/5

अयथार्थ ज्ञान अप्रमा है तथा अप्रमा के अप्रमात्व तथा अप्रमाण के अप्रमाणत्व को 'अप्रामाण्य' कहा जाता है।

प्रामाण्य एव अप्रमाण्य पर ज्ञान तथा उत्पत्ति इन दो दृष्टिकोणो से विचार किया जाता है। मुख्य प्रश्न है कि ज्ञान का प्रामाण्य उससे वाह्य अन्य ज्ञान से होता है अथवा नही। जो मत यह स्वीकार करते है कि ज्ञान का प्रामाण्यीकरण किसी अन्य ज्ञान से नही हो सकता, 'स्वत· प्रमाण्यवादी' कहे जाते हैं। इसके अनुसार प्रत्येक ज्ञान में प्रामाण्य स्वतः ही होता है अर्थात् ज्ञान के कारण व उसमें प्रमाण्य के कारण भिन्न भिन्न न होकर एक ही हैं। इस मत से ज्ञान का, तथा ज्ञान के साथ ही उसके प्रामाण्य का भी स्वतः ही ज्ञान हो जाता है। अर्थात् ज्ञान स्वतः प्रमा रूप ही उत्पन्न होता है। अद्वैत वेदान्त मे स्वतः प्रामाण्यवाद ही स्वीकृत है। वेदान्तमतानुसार छहों प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः ही अर्थात् ज्ञान सामग्री से उत्पन्न होता है तथा स्वतः ही ज्ञान भी होता है।[1] यह स्वतः प्रामाण्य स्मृति एवं अनुभव दोनो के लिए साधारण तथा सवादि प्रवृत्ति के लिए अनुकूल प्रमात्व अर्थात् तद् ज्ञात पदार्थ मे तत्प्रकारक ज्ञान है।[2] प्रामाण्य का जनक ज्ञान जन्य सामग्री है।

अद्वैत वेदान्त में प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वत· मानने के साथ ही उसकी प्राप्ति भी स्वत· ही मानी गयी है। इसी को 'स्वतो ग्राह्यत्व' कहा जाता है– इसमे दोष का अभाव रहते हुए समस्त स्वाश्रय का ग्रहण करने वाली सामग्री के द्वारा ग्रहण किया जाता है। तात्पर्य यह है कि 'यवत्' (समस्त) जो आश्रय, उसका ग्राहक जो साक्षीज्ञान, उससे ग्राहय होना ही 'स्वतो ग्राहयत्व'

[1] एवमुक्ताना प्रमाणा प्रामाण्य स्वत स्वोत्पद्यते ज्ञायते च। वे० परि० पृ० 314

[2] तथा हि स्मृत्यनुभव साधारण सवादि प्रवृत्यनुकूल तद्वति तत्प्रकारक ज्ञानत्व प्रामाण्यम् – वे० परि० पृ० 314

का लक्षण है। यथा – बीज में अकुरोत्पत्ति की योग्यता के रहते हुए भी पर्जन्य आदि के अभाव मे अकुरोत्पत्ति नही होगी। अत. दोषाभाव विशेषण न होने पर भी योग्यत्वघटितस्वतोग्राहयत्व यह लक्षण युक्त है तथा प्रामाण्य स्वतोग्राहय ही सिद्ध होता है।[1]

अद्वैत वेदान्त में प्रामाण्य को तो स्वतः ही स्वीकार किया गया है। इसके अनुसार उसका ज्ञान परत. ही होता है। अप्रामाण्य की उत्पत्ति दोष से ही होती है।[2] जो सामान्य ज्ञान–सामग्री से बिल्कुल भिन्न है। यह अप्रामाण्य स्वतोग्राहय भी नहीं है। रजताभाव मे रजतत्व प्रकारक ज्ञान होना ही अप्रमाण्य का लक्षण है। ऐसे अप्रामाण्य का ज्ञान समस्त स्वाश्रय ग्राहक सामग्री से नही होता क्योकि अप्रामाण्य के लक्षण मे तद्भाववत्व रूप अवयव का वृत्ति के द्वारा ज्ञान नहीं हो पाता, अतएव उसका साक्षीज्ञान भी नही होता। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त ज्ञान तो स्वतः प्रामाण्य मानता है तथा अज्ञान को परत· अप्रामाण्य।

तार्किक ज्ञान की अपूर्णता

शकरसाचार्य का अन्तत· मानना है कि तार्किक ज्ञान ज्ञाता, ज्ञान एव ज्ञात विषय के परस्पर भेद को प्रकट करता है,[3] किन्तु यथार्थ सत्ता इन सभी भेदो से मुक्त है।[4] तार्किक ज्ञान अविद्या है, क्योकि वह वस्तुओ के सत्य स्वरूप का ज्ञान नही कराता है। यथार्थ स्वरूप आत्मा, जो विशुद्ध

---

[1] यद्वा यावत्स्वाश्रय ग्राहकत्व योग्यत्व त्वतस्त्वम्। सशय स्थले प्रामाण्य स्योक्तयोग्यता सत्त्वेऽपि दोषवशेनागृहात् न सशयानुपपत्ति – वे० परि० पृ० 322

[2] किन्तु दोष प्रयोज्यम – वे० परि० पृ० 323

[3] अविद्या कल्पित वेद्य वेदितृ वेदनाभेदम् – शा० भा० 1/1/4

[4] सर्वसिद्धान्त सग्रह 12/47 तथा अद्वैत मकरन्द, प्र० 19, एव श० भा० गो० का० 4/67

चैतन्य है, ज्ञान की प्रक्रिया का विषय नही हो सकती। मन की किसी अवस्था मे भी विषयी अपने सम्मुख एक विषय के रूप मे उपस्थित नही होता।[1] कोई भी वस्तु विषय का रूप तभी धारण करती है जबकि हम उनके विषय मे देश और काल से सम्बद्ध रूप मे विचार करते है, किन्तु देश तथा काल दोनो ही, तथा वे पदार्थ भी जिनका सम्बन्ध इन दोनो से है, उस आत्मा से सम्बन्द्ध हो कर ही अपनी अस्तित्व रखते है, जो उन्हे एक साथ सयुक्त रखती है। इस प्रकार ज्ञान का सार्वभौम साक्षी अव्यक्त तथा अदृश्य है।[2] समस्त ज्ञान मे यथार्थतत्व को ज्ञान का विषय बनाने की असम्भव्यता ही अतीतता का कारण है। चूकि ज्ञान की प्रक्रिया केवल परमयथार्थ सत्ता की ही अभिव्यक्ति है, अतएव यथार्थ सत्ता को आत्म चैतन्य की प्रक्रिया मे ग्रहण नही किया जा सकता।

शकर सम्पूर्ण तार्किक ज्ञान की अपूर्णता का समर्थन इसे पशुओ के ज्ञान के समान निर्देश करके करते है।[3] शकर इस विषय पर बल देते है कि तर्क पूर्ण विचार चाहे कितना भी विस्तृत क्यो न हो, हमे यथार्थ सत्ता के बोध्यग्रह की ओर नही ले जा सकता। ज्ञान के समस्त साधन तभी तक प्रामाणिक है, जब तक कि परम सत्यकी प्राप्ति नही हो जाती।[4] वस्तुत· हमारा समस्त ज्ञान अज्ञान (अविद्या) है तथा इन सबका निराकरण कर देने पर परम चैतन्य को निश्चयपूर्वक जान लेने का नाम ही विद्या अथवा 'ज्ञान' है।[5]

---

[1] तैति० उ०˙ श० भा० 2/1
[2] अव्यक्तमतीन्द्रियग्राहय सर्वदृश्य साक्षित्वात्-- 3/3/23
[3] पश्वादिभिश्चाविशेषात्– श० भा०–प्रस्तावना
[4] श० भा० ब्र० सू० 1/1/4
[5] शा० भा० ब्र० सू० 1/1/1

समीक्षा

ब्रह्मसूत्र भाष्य का प्रारम्भ करते हुए शकराचार्य ने अनुभव का विवेचन करते समय दर्शन की मूल भूत समस्या 'भ्रम की समस्या' का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। शकराचार्य का मानना है कि यह समस्त लोक व्यवहार दो तत्वो, शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्म तत्त्व, जो विषयी ज्ञाता, चेतन एव नित्य है, 'अह' प्रत्यय गोचर है, तथा विषय या ज्ञेय पदार्थ जो जड एव अनित्य है तथा 'इद' अथवा युष्मद् प्रत्ययगोचर है, के तादात्म्य पर निर्भर है। इस शुद्ध आत्मतत्त्व पर अविद्या के कारण अनात्म पदार्थो का तथा देहेन्द्रियान्तकरणादि अनात्म धर्मो का अध्यास होते ही यह शुद्ध साक्षिचैतन्य जीव अथवा प्रमाता के रूप मे अवभासित होता है। यही मुख्याध्यास है। इसे नष्ट करने के लिए ही अद्वैत आत्मतत्व का अपरोक्ष ज्ञान आवश्यक माना गया है।

शकराचार्य 'अध्यास' के तीन लक्षण देते हैं, जिनमे कोई वस्तुत तात्त्विक भेद नही है। (1) "अध्यासो नाम स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभास" अर्थात् अध्यास वह अवभास है जो अभी भासित हो रहा है किन्तु सत् ज्ञान से बाधित हो जाता है यह अवभास स्मृति रूप तो है, परन्तु स्मृति नही।

(2) आचार्य ने दूसरा लक्षण दिया है 'अन्यस्यअन्यधर्मावभासता', एक वस्तु के द्रव्याश (इद) पर किसी अन्य वस्तु के 'धर्म' को आरोपित करना अध्यास है यथा, रज्जु या शुक्ति के द्रव्याश पर सर्पत्व या रजतत्व धर्म का आरोप।

(3) 'अतस्मिन् तद् बुद्धि' अर्थात् अध्यास किसी वस्तु का, किसी अन्य वस्तु के रूप मे ज्ञान है। यथा रज्जु अथवा शुक्ति जो वस्तुत सर्प अथवा रजत् नही है, का सर्प अथवा रजत् रूप मे ज्ञान।

अध्यास मिथ्या ज्ञान अथवा अन्यथा ज्ञान है यह सत् पर असत् का आरोप मात्र है। यहॉ शकराचार्य प्रभाकर के अख्यातिवाद तथा न्याय के अन्यथाख्यातिवाद का उल्लेख करते है, तथा यह बताते है कि भ्रम विवेकाग्रह या ज्ञानाभाव अथवा

अपूर्ण ज्ञान नही है अपितु मिथ्या ज्ञान या अन्यथा ज्ञान है। वस्तुत अविद्या, अध्यास भ्रम का तादात्म्य भी मिथ्या है। यह तादात्म्य वस्तुत सम्बन्ध नही अपितु भेद, अभेद एव भेदाभेद रूपी सम्बन्ध का अभाव है।

अद्वैत वेदान्त अनिर्वचनीयख्याति' को स्वीकार करता है। अध्यस्त वस्तुत असत् होता है। किन्तु भ्रम दशा मे इसकी सत् रूप मे प्रतीति होती है अत वह शशश्रृग इत्यादि नितान्त असत् पदार्थो से भिन्न भी है। अतएव अध्यस्त पदार्थ को 'सदसदनिर्वचनीय' कहा गया है। शुक्ति–रजत अथवा रज्जु सर्प सत् नही है क्योकि ज्ञान से उनका बाध हो जाता है, वह असत् भी नही है, क्योकि भ्रम दशा मे उसकी सत् रूप मे प्रतीति होती है, उसे सदसत् भी नही कह सकते क्योकि सत् एव असत् प्रकाश एव अधकार की भाति एक साथ नही रह सकते। अत अध्यस्त पदार्थ सदसदनिर्वचनीय है, इस कारण वह मिथ्या है। व्यक्तिगत भ्रम को 'प्रतिभास' कहा जाता है। लौकिक पदार्थ भी समष्टिगत भ्रम है, जिन्हे व्यवहार कहते है। ये प्रतिभास एव व्यवहार अनिर्वचनीय एव मिथ्या है। इस कारण अद्वैत वेदान्त 'अनिर्वचनीयख्यातिवाद' स्वीकार करता है।

'प्रतिभास' का बाध हमारे लौकिक ज्ञान से हो जाता है। शकराचार्य मानते है कि व्यवहार भी मिथ्या सिद्ध होता है। दोनो ही अधिष्ठान– अध्यस्त–अध्यास की त्रिपुटी मे मिथ्या पाए जाते है। आचार्य मानते है कि व्यावहारिक ज्ञान ज्ञेय वस्तु के बिना नही हो सकता। वे इस सिद्धान्त को वस्तुवादी से भी अधिक दृढता से स्वीकार करते है। शकराचार्य के अनुसार भ्रम में भी ज्ञेय विषय होता है, रज्जुसर्प के भ्रम मे सर्प की वाह्य पदार्थ के रूप मे प्रतीति होती है। आचार्य व्यवहार मे वस्तुवाद तो स्वीकार करते है, किन्तु तात्विक वस्तुवाद का विरोध करते है। आचार्य के प्रतिभास एव व्यवहार मे भेद के द्वारा व्यवहार को उच्चतर स्तर का माना है, तथा जगत् की व्यवहारिक सत्ता का एव उसके सापेक्ष समत्व

का प्रतिपादन किया है। यह व्यावहारिकता वास्तविकता है, जो ब्रह्मज्ञान होने तक बनी रहती है।

आचार्य शकर का कहना कि समस्त बुद्धि विकल्प जन्य लौकिक ज्ञान अनिर्वचनीय एव मिथ्या पदार्थो तक ही सीमित है। आत्मज्ञान के पूर्व समस्त लौकिक एव वैदिक व्यवहार अक्षुण्ण एव अव्याहत बना रहता है, जिसे लोक सत्य मानता है, वह व्यवहार लोक दृष्टि से सत् है, जिसे अनृत अथवा मिथ्या मानता है, वह व्यवहार लोक दृष्टि से अनृत है। इस प्रकार आचार्य शकर व्यवहार के स्तर पर समस्त प्रपञ्च के सत्यत्व को स्वीकार करते है।

जीवात्मा मे जो शुद्ध चैतन्य प्रकाशित हो रहा है, वही ब्रह्मरूप से इस समस्त वाह्य जगत् मे भी व्याप्त है। वह शुद्ध चैतन्य ही समस्त ज्ञान तथा अनुभव का अधिष्ठान है। वही शुद्ध स्वप्रकाश, आत्मचैतन्य, अविद्या के कारण शरीर, इन्द्रिय एव अन्त करण से परिच्छिन्न होकर जीव के रूप मे प्रतीत होता है। जाग्रत, स्वप्न एव सुषुप्ति आत्मा की अभिव्यक्ति की तीन व्यावहारिक अवस्थाएँ है। इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष होने पर अन्त करण 'अर्थ' का रूप ग्रहण कर वस्त्वाकाराकारित हो जाता है, जिसे 'वृत्ति' कहते है। जब इस वृत्ति पर साक्षि चैतन्य का प्रकाश पडता है तब हमे वृत्ति रूप पदार्थ का ज्ञान होता है। जाग्रतावस्था मे वाह्य पदार्थो का ज्ञान बहिरिन्द्रिय एव विषय के सन्निकर्ष द्वारा होता है, एव मानस पदार्थो का अनुभव अन्त-करण एव मनोभावो के सन्निकर्ष द्वारा होता है। स्वप्नावस्था में अन्त करण स्वय ही मानस पदार्थो की कल्पना करता है, जो साक्षि चैतन्य द्वारा ही प्रकाशित होते है। सुषुप्ति मे वाह्य एव मानस् दोनो प्रकार के विषयाभाव मे अन्त करण अपने कारण अविद्या मे लीन हो जाता है। आत्मा तुरीय अथवा शुद्ध चैतन्य है। तुरीयावस्था मे अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर शुद्ध आत्म चैतन्य अपने स्वरूप मे प्रकाशित होने लगता है।

'साक्षी' अद्वैत वेदान्त का एक विशिष्ट तत्व माना गया है। यह आत्मा अथवा ब्रह्म, ईश्वर एव जीव, इन तीनो से भिन्न है। अद्वैत वेदान्तानुसार 'ज्ञान' से तात्पर्य ही साक्षी से प्रेरित वृत्ति है, अर्थात् समस्त ज्ञानो एव अनुभवो का 'साक्षी' अधिष्ठान है। ज्ञात अथवा अज्ञात समस्त पदार्थ साक्षिचैतन्य के विषय है। किन्तु यह स्वय कभी विषय के रूप मे ज्ञात नही हो सकता, क्योकि यह द्रव्य के रूप मे प्रत्येक अनुभव मे प्रकाशित रहता है। उपाधि भेद से, अन्त करण से उपहित साक्षी 'जीवसाक्षी' तथा माया से उपहित साक्षी 'ईश्वर साक्षी' सज्ञाओ से अभिहित किया जाता है। अविद्या की निवृत्ति होते ही ईश्वर, साक्षी एव जीव एक साथ परब्रह्म रूप मे प्रकाशित होते है।

अद्वैत वेदान्त मे 'प्रमा' से तात्पर्य उस ज्ञान से है जो कभी बाधित नही होता है, एव जो पहले प्राप्त नहीं हुआ है। आचार्य शकर के अनुसार 'ज्ञान' के तीन मुख्य स्रोत माने जाते है – प्रत्यक्ष, अनुमान एव शब्द। इसके अतिरिक्त परवर्ती अद्वैत दर्शन तीन अन्य प्रमाणो को भी स्वीकार करता है। उपमान, अर्थापत्ति एव अनुपलब्धि। स्मृति को यथार्थ ज्ञान मे सम्मिलित नही किया जाता। शकराचार्य स्वय प्रत्यक्ष एव अनुमान प्रमाण की व्याख्या नही करते अपितु परवर्ती अद्वैतवदियो ने इसका विवेचन किया है। वेदान्तपरिभाषाकार प्रत्यक्ष की परिभाषा देते है कि प्रत्यक्ष वह है, जो चैतन्य पदार्थो के विषय मे बिना किसी माध्यम के एव साधारणत· इन्द्रियो की क्रिया के द्वारा ज्ञाता (साक्षी) एव विषय पदार्थ के सम्पर्क से ज्ञात होता है। अनुमान के व्यापार मे प्रस्तुत एव अनुमित तत्व एक दूसरे से भिन्न होते है। अनुमान मे व्याप्ति का विशेष महत्त्व माना गया है। व्याप्ति का तात्पर्य है, जो समस्त साधनो के आश्रय मे आश्रित साध्यो मे सामानाधिकरण्य रूप की है। इस व्याप्ति का ग्रहण तर्क द्वारा नही किया जा सकता, अपितु व्यभिचार के दर्शन के साथ सहचार के दर्शन से होता है। अद्वैत मत मे

अनुमितिरूपी प्रमा का कारण 'व्याप्ति ज्ञान' तथा अवान्तर व्यापार व्याप्ति ज्ञान के सस्कार को स्वीकार किया जाता है।

प्राय सभी दर्शन सम्प्रदायो मे व्याप्ति के दो भेद माने जाते है। अन्वय व्याप्ति, व्यतिरेक व्याप्ति। जहॉ हेतु सद्भाव मे साध्य का सद्भाव निश्चित रूप से उपलब्ध हो वह अन्वय व्याप्ति है, जैसे यत्र–यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्नि तथा जहा साध्य के अभाव मे धूम का भी अभाव निश्चित रूप से प्राप्त हो वहा व्यतिरेक व्याप्ति होती है, जैसे यत्र यत्र अग्न्याभाव तत्र तत्र धूमाभाव। किन्तु अद्वैत वेदान्त व्यतिरेक व्याापि की आवश्यकता नही मानता क्योकि व्याप्ति ज्ञान शून्य को वह्नि का ज्ञान 'अर्थापत्ति प्रमाण' से होता है। अद्वैत वेदान्त शास्त्र मे व्याप्ति सस्कार के उद्बोधनार्थ 'पक्षधर्मता ज्ञान' को आवश्यक बतलाया गया है।

अद्वैत वेदान्त में न्याय शास्त्र की भाति अनुमान प्रमाण के स्वार्थानुमान एव परार्थानुमान दो भेद स्वीकार किये गए है। प्रमाता को स्वय अर्थ विषयक नवीन ज्ञान की प्राप्ति कराने एवं अन्य पुरूष को उस नवीन अर्थ का बोध कराने के उद्देश्य से अनुमान प्रमाण के ये भेद कहे गए है।

अनुमान प्रमाण के अवयवो की सख्या तीन ही मानी गयी है–प्रतिज्ञा, हेतु, एव उदाहरण अथवा उदाहरण, उपनय, निगमन। अद्वैत वेदान्त मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए अनुमान प्रमाण की उपयोगिता मानता है।

अद्वैत वेदान्त मे शास्त्र प्रमाण को ज्ञान का महत्वपूर्ण साधन स्वीकार किया गया है। इसी कारण 'शब्द' ज्ञान के स्वतन्त्र स्रोत के रूप मे माना गया है साख्य एव न्याय भी शब्द प्रमाण को स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार करता है। किन्तु उनकी प्रतिपादन शैली वेदान्त से भिन्न है।

शकराचार्य दृढतापूर्वक मानते है कि परम सत् अथवा इन्द्रियानुभवातीत ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष या ज्ञान के दूसरे साधनो द्वारा न होकर मात्र आगम द्वारा ही होता है। किन्तु व्यावहारिक ज्ञान एव आत्मसाक्षात्कार मे भी श्रुति प्रमाण द्वारा

प्राप्त परोक्ष ज्ञान ही पर्याप्त नही है। आचार्य शकर के मतानुसार व्यक्ति स्वय साक्षात् अनुभव के द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर के मुक्त हो सकता है। अत शकराचार्य शाब्दिक ब्रह्म ज्ञान की उपेक्षा कहते है।

ज्ञान के प्रमाण्य के निश्चय हेतु अद्वैत वेदान्त मे स्वत प्रामाण्य वाद स्वीकार किया गया है। प्रत्यक्षादि छ प्रमाणो का प्रामाण्य स्वत ही अर्थात् ज्ञान की सामग्री से उत्पन्न होता है एव स्वत ही ज्ञान भी होता है। किन्तु अप्रामाण्य का ज्ञान परत ही होता है। समस्त दार्शनिक सम्प्रदायो ने वेदो को स्वत प्रामाण्य माना है। अद्वैत वेदान्त इन्हें अपौरूषेय मानता है।

शकराचार्य पारमार्थिक सत्ता एव व्यावहारिक सत्ता मे भेद करते है। उनके अनुसार आत्मतत्व का ज्ञान जड जगत् के ज्ञान की तरह सर्वसाध्य नही है। व्यवहार मे ज्ञेय को ही ज्ञाता माना जाता है, जिसे शकराचार्य ने 'अध्यास' कहा है। शकराचार्य मानते है कि ज्ञान का कार्य हमारे लिए सत् को प्रकाशित अथवा व्यक्त करना है, वह वस्तवाश्रित होता है, पूर्ण रूपेण आत्मगत नहीं है। शकराचार्य का मानना है कि ज्ञाता अथवा आत्मा किसी भी प्रकार के अनुभव से विच्छिन्न नही किया जा सकता, यह सभी अनुभवो या सज्ञानो के लिए एक आवश्यक शर्त है।

शकराचार्य ज्ञान को पराविद्या व अपरा विद्या मे बाटते है। पराविद्या परम सत् या निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान है एव अपरा विद्या सगुण ब्रह्म का। परा विद्या को ही आचार्य सर्वोच्च ज्ञान कहते है। शकराचार्य के अनुसार 'अपरोक्षानुभूति' ही ब्रह्म का साक्षात्कार करा सकती है। ब्रह्म ज्ञाता है, ज्ञेय नही है कि उसका ज्ञान किसी अन्य प्रमाण द्वारा हो सके। अनुभूति के अतिरिक्त अन्य समस्त प्रमाण अनुभव की प्राप्ति के साधन मात्र है। स्वानुभूति के अतिरिक्त समस्त प्रमाओ का का कार्य ब्रह्म साक्षात्कार नही, अपितु अविद्या के भेदो की निवृत्ति करना है। समस्त ज्ञान का लक्ष्य अनुभव ही है। प्रत्यक्ष, अनुमान एव शब्दादि प्रमाणो का

कार्य मात्र इतना ही है कि वे आत्मा को अनात्म वस्तुओ से एकदम पृथक प्रदर्शित करे। श्रुति प्रमाण का भी परम कार्य अनादि एव नैसर्गिक अध्यास को दूर करना है। आत्म ज्ञान को प्राप्त करने की अपेक्षा अनात्म बुद्धि की निवृत्ति ही प्रमाणो का कार्य है। इनके द्वारा अनात्म ज्ञान का निरास होकर आत्म ज्ञान प्राप्ति होती है जो जीव का परम लक्ष्य है।

तृतीय अध्याय

विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय

आचार्य शकर का मानना है कि ब्रह्म निर्गुण, निरपेक्ष एव अन्तिम (परमार्थ) सत्ता है। ज्ञाता एव ज्ञेय, भेद तथा विभिन्न प्रकार के ज्ञान उस पर आरोप मात्र एव मिथ्या है। ये मिथ्या भ्रमोत्पादक है तथा सद् ज्ञान द्वारा विनष्ट होने योग्य है। 'अविद्या' अथवा 'माया' ही भ्रम को उत्पन्न करती है तथा ब्रह्म ज्ञान द्वारा निवृत्त हो जाती है।

रामानुजाचार्य शकराचार्य के इन मतो का खण्डन करते है एव कहते है कि 'सत्ता' को निर्गुण नही कहा जा सकता, क्योकि समस्त प्रमाण गुणो की मान्यता पर ही आश्रित है। यह निर्गुणत्व प्रत्यक्ष अनुभव का विषय नही बन सकता, क्योकि अनुभव के बिना कोई गुण के आश्रय मे नही होता। ज्ञान स्वय प्रकाश है, उसी के द्वारा ज्ञाता समस्त पदार्थों को जानता है। निद्रा एव मूर्च्छा इत्यादि की अवस्था मे भी अनुभव निर्गुण नही होता।

शास्त्र भी ऐसी वस्तु का अर्थ प्रकट नही करते जो निर्गुण है। प्रत्यक्ष देखने पर, यह सर्वमान्य है कि सविकल्पक प्रत्यक्ष सगुणयुक्त पदार्थ को ही प्रकट करता है तथा निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मे भी कुछ गुण अवश्य प्रकट होते है। अनुमान प्रत्यक्ष पर ही आधारित है, इसलिए प्रत्यक्ष मे विशेष गुणो का ज्ञान होना आवश्यक है। इस प्रकार ज्ञान के तीनो स्त्रोत अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान एव शब्द गुण रहित किसी भी वस्तु को प्रकट नही करते। प्रत्येक ज्ञान अपने विषय से नित्य सम्बन्धित है तथा प्रत्येक पदार्थ का विषय समय की मर्यादा मे है, अत ज्ञान भी समय से मर्यादित है।

'आत्मा' का 'अविद्या' से भेद युक्त ज्ञान, का एक विशेष प्रकार है और इसे न मानना अनुचित होगा। स्वप्रकाश आत्मा ज्ञाता है। तथा ज्ञान का अर्थ है कि किसी ज्ञाता को कुछ प्रकट हुआ अतएव आत्मा एव ज्ञान का भेद स्पष्ट ही है।

प्रतिपक्षी 'आत्मा' एव अह' दोनो भिन्न मानता है। 'अह' के दो भाग है एक भाग तो स्वयप्रकाश और स्वतन्त्र है जो शुद्ध चैतन्य है और दूसरा है विषयरूप, परतन्त्र प्रकाशहीन, जिसे 'मम्भाव' कहा जाता है। इसमे पहला

अश 'आत्मा' है तथा द्वितीय अश प्रथम से सम्बन्ध रखता हुआ भी अत्यन्त भिन्न है। प्रथम के सम्बन्ध द्वारा ही द्वितीयाश मम् का ज्ञान होता है। किन्तु रामानुजाचार्य के अनुसार ऐसा मानना युक्तिसगत नही है। वे मानते है कि 'मै' तत्त्व स्वय अविषयी आत्मा है। निद्रा मे भी आत्मा का अनुभव 'मै' के रूप मे रहता है। अर्थात 'मै' को अपना ज्ञान रहने से उसकी स्वप्रकाशता सिद्ध होती है। 'मै' प्रत्यय आत्मा को स्वरूप से निर्देश करता है जो कि अनुभव एव ज्ञान करता है।

ज्ञान का स्वरूप

रामानुजाचार्य के मतानुसार ज्ञान, अनेक कारण तत्त्वो का कार्य माना जाता है जिसमें प्रत्यक्ष ज्ञानेन्द्रियॉ साक्षात् एव नियत रूप से महत्त्वपूर्ण कार्य करती है।

अन्य मतानुयायियो की भॉति रामानुजाचार्य भी 'ज्ञान' मे ज्ञाता एव ज्ञेय वस्तु दोनो का अस्तित्व निहित मानते है, परन्तु कुछ बातो मे अन्यो से उनका विभेद भी है। रामानुजाचार्य के अनुसार प्रत्येक ज्ञान मे विवेचन आवश्यक रूप से शामिल रहता है तथा जो कुछ ज्ञात होता है, किसी न किसी रूप मे अनिवार्यत विशिष्ट होता है।

रामानुजाचार्य के अनुसार, ज्ञान का स्वरूप समझने के लिए उन वस्तुओ का वर्गीकरण, जो विशिष्टाद्वैत मे सबसे भिन्न है, जानना आवश्यक है। चेतन एव जड तत्त्व के अतिरिक्त वे तीसरी वस्तु भी मानते है जो न चेतन है, न जड। यही तृतीय पदार्थ 'ज्ञान' है। जड पदार्थों से वह इस अर्थ मे भिन्न है कि यह किसी साधन के बिना ही स्वय को एव अन्य वस्तुओ को अभिव्यक्त करने मे सक्षम है, जबकि जड पदार्थ ऐसा नही कर सकते परन्तु ज्ञान जो कुछ अभिव्यक्त करता है, वह स्वय उसके लिए नही, सदैव दूसरो के लिए होता है, अर्थात वह प्रदर्शित मात्र करता है, उन्हे स्वय नही जान सकता। इसका अर्थ है मै यह चेतन तत्त्व 'आत्मा' से व्यतिरिक्त है।

विशिष्टाद्वैतवाद मानता है कि ज्ञान का ज्ञान या तो वस्तु के साथ होता है, अथवा बिल्कुल होता ही नही। स्वप्नावस्था मे जानी गयी वस्तुओ का विशिष्टाद्वैतवादी सत् अस्तित्व मानते है। अत उस समय स्वप्नज्ञान का भी ज्ञान होता है, परन्तु उस की सक्रियता जाग्रतावस्था की अपेक्षा कम होने से स्वप्न के पदार्थो का ज्ञान अस्पष्ट होता है। इसके विपरीत मोक्षावस्था मे ज्ञान की क्रिया पूर्णत मुक्त हो जाती है। अर्थात् ज्ञान सर्वव्यापक हो जाता है तथा मुक्त जीव सर्वज्ञ हो जाता है।

रामानुजाचार्य ज्ञान को एक पृथक् पदार्थ मानते है, किन्तु यह सदैव किसी दूसरी वस्तु से सम्बन्धित एव उस पर आश्रित रहता है। ज्ञान मात्र मनस् के द्वारा अथवा किसी ज्ञानेन्द्रिय की सहायता प्राप्त मनस् के द्वारा प्रवाहित होता है। रामानुजाचार्य के अनुसार ज्ञान आत्मा से निकलकर मनस् मे पहुचता है और तब ज्ञानेन्द्रियो से बाहर निकलकर वाह्य वस्तुओ से सम्पर्क करता है। इस सम्पर्क द्वारा वह तदाकाराकारित होकर ज्ञाता को उसकी जानकारी करा देता है। 'धर्मभूत ज्ञान' की यह धारणा अद्वैताभिमत अन्त करण' की धारणा के समकक्ष प्रतीत होती है, क्योंकि अद्वैत मान्यता मे भी इसी प्रकार अन्त करण बाहर निकलकर वस्तुओ की ओर जाकर उनका आकार ग्रहण करके ज्ञानोत्पत्ति करता है। किन्तु विशिष्टाद्वैत मत से भेद यह है कि अद्वैत मे अन्त करण जड है तथा साक्षी की सहायता से वह ज्ञान मे परिणत होता है, जबकि रामानुज मत मे धर्मभूत ज्ञान स्वय ही ज्ञानरूप है, इसे मनस् एव ज्ञानेन्द्रियो की सहायता की अपेक्षा केवल इसलिए होती है जिसके कारण यह रग, ध्वनि इत्यादि विशेष प्रकार के ज्ञानो का रूप ग्रहण कर लेता है। केवल ज्ञान ही धर्मभूत ज्ञान का रूपान्तर नही माना जाता, अपितु इच्छा एव क्रोधादि आन्तरिक अवस्थाएँ भी उसका रूपान्तर मानी जाती है, जो ज्ञान के ही प्रकार है।

रामानुजाचार्य मानते है कि वस्तुओ का अस्तित्व उनके ज्ञान के पूर्व भी रहता है, इसलिए उन्हे सत्य मानना चाहिए। चूकि उनका अस्तित्व

आत्मा अथवा उससे सम्बद्ध करने वाले ज्ञान के ऊपर निर्भर नही करता, अत उनकी सत्यता सापेक्ष मात्र न होकर निरपेक्ष मानी जानी चाहिए। इस मत को रामानुज 'वास्तववादी' मत कहते है जो प्रभाकर मत के समकक्ष प्रतीत होता है[1] तथा इस मत को वेद सिद्ध भी मानते है।

ज्ञान का स्व प्रकाशत्व

नैयायिक, वैशेषिक एव भाट्ट मीमासको द्वारा ज्ञान को परप्रकाश माना जाता है। वे कहते है कि ज्ञान स्वय प्रकाशित नही होता, क्योकि ज्ञान उत्पन्न होते समय स्वय प्रकाशित होते हुए किसी को भी अनुभूत नही होता, किन्तु ज्ञान उत्पन्न होने के बाद दूसरे ज्ञान से प्रकाशित होता है। उस दूसरे ज्ञान के विषय मे नैयायिक एवं वैशेषिक मानते है कि उत्पत्ति के पश्चात् ज्ञान का मानस् प्रत्यक्ष से पता चलता है। प्रथम क्षण मे 'अय घट' ज्ञान होता है। उस समय वह ज्ञान स्वय प्रकाशित नही होता, अपितु द्वितीय क्षण मे 'अह घट जानामि' इस मानस् प्रत्यक्ष द्वारा पूर्वक्षणोत्पन्न घटज्ञान का प्रकाशन होता है। ज्ञान की ही भॉति आत्मा के गुण सुख–दु ख इत्यादि का भी ज्ञान मानस् प्रत्यक्ष द्वारा ही होता है।

विशिष्टाद्वैत मतानुयायी नैयायिकाभिमत ज्ञान के मानस् प्रत्यक्षत्व का प्रत्याख्यान करते हैं। पराशर प्रभु का मानना है कि मानस् प्रत्यक्ष यदि ज्ञान का ग्राहक होता तो वह अनुभूत होता, परन्तु ऐसा नही होता है। इस योग्यानुपलब्धि द्वारा सिद्ध है कि मानस् प्रत्यक्ष ज्ञान का ग्राहक नही है। ज्ञान के प्रकाश के लिए यह कल्पना उचित नही क्योकि ज्ञान स्वय को ही प्रकाशित करने मे समर्थ है। तदर्थ मानस् प्रत्यक्ष की आवश्यकता नही है। इस प्रकार से कल्पना मे अनवस्था दोष की भी सभावना है। नैयायिको द्वारा ज्ञान के मानस् प्रत्यक्ष की सिद्धि के लिए जो हेतु दिये जाते है वे भी दोषयुक्त है।

---

[1] यथार्थ सर्वविज्ञानमिति वेदविदा मतम् – प्रकरणपचिका, पृ0 32

भाट्ट मीमासक ज्ञान को स्वयप्रकाश न मानकर उसे प्राकट्यानुमेय मानते है। वे कहते है कि ज्ञान से विषय मे उत्पन्न प्रकाश रूपी धर्म को देखकर ज्ञान का अनुमान किया जाता है। ज्ञान से जिस विषय मे धर्म उत्पन्न होता है, उसे प्रकाश, प्राकट्य एव ज्ञातता आदि सज्ञाओ द्वारा अभिहित किया जाता है। इस प्राकट्य द्वारा उसके कारणभूत ज्ञान का उसी प्रकार अनुमान किया जाता है जिस प्रकार होने वाले सुख दु खादि को देखकर उसके कारणभूत पुण्य–पापादि का अनुमान किया जाता है।

भाट्ट मीमासाको की इस मत की समालोचना करते हुए विशिष्टाद्वैतवादियो का कहना है कि यदि ज्ञान से विषय मे कोई धर्म उत्पन्न होता तो उसकी उपलब्धि अवश्य होती, चूकि ऐसा नही होता अतएव सिद्ध है कि ज्ञान से विषय मे कोई भी धर्म उत्पन्न नही होता है, अपितु ज्ञान ही घटादि विषयो का प्रकाश रूप माना जाता है। उसमे धर्म की उत्पत्ति मानने पर दोष होगा। घटादि को प्रकाशित करने वाला ज्ञान स्वपरनिर्वाहक न्याय से स्वय को भी प्रकाशित करते हुए उत्पन्न होता है। ऐसा अनुभव किसी को नही होता कि घटादि का ज्ञान हो एव घटादि विषयक ज्ञान का प्रकाश न होता हो। अतएव सिद्ध है कि ज्ञान स्वय प्रकाशित होता है।

विशिष्टाद्वैत मतानुयायियो का मानना है कि प्रत्येक मनुष्य की जागरण एव स्वप्नदशा मे प्रतिक्षण ज्ञान उत्पन्न एव विनष्ट होते रहते है। 'अह जानामि' इस अबाधित प्रतीति के अनुसार ज्ञान का आश्रय अहमर्थ है। जिस अहमर्थ मे जो ज्ञान उत्पन्न होकर विषयो को प्रकाशित करता है, वह ज्ञान विषय प्रकाशन काल मे उस अहमर्थ के प्रति स्वय प्रकाशित होता रहता है। ज्ञान विषयो को प्रकाशित करते समय दूसरे ज्ञान की अपेक्षा न करते हुए अपने आश्रय के प्रति स्वय प्रकाशित होता रहता है।

बौद्ध मतानुयायी ज्ञान को क्षणिक मानते है। उनके अनुसार प्रत्येक क्षण मे नवीन ज्ञान उत्पन्न होता है। नैयायिक ज्ञान को अपेक्षाकृत बुद्धि का विषय होने के कारण तीन क्षण पर्यन्त स्थायी मानते है। इनके अनुसार ज्ञान

एक क्षण मे उत्पन्न होता, दूसरे क्षण मे वह बना रहता है तथा तीसरे क्षण में विनष्ट हो जाता है। अद्वैत वेदान्ती ज्ञान के तीन भेद मानते है। प्रतिभासिक, व्यावहारिक एव पारमार्थिक। शुक्ति–रजत अथवा रज्जु सर्प इत्यादि स्थलो मे होने वाला ज्ञान प्रातिभासिक है। घटादि विषयक ज्ञान व्यावहारिक है तथा 'बह्मज्ञान' पारमार्थिक है। प्रातिभासिक ज्ञान की भॉति ही व्यावहारिक ज्ञान को भी मिथ्या माना गया है। क्योकि ये 'सत् ज्ञान–ब्रह्म' व्यतिरिक्त है। नैयायिक, वैशेषिक तथा भाट्ट मीमासक ज्ञान का परत प्रामाण्य स्वीकार करते है। बौद्ध तथा अद्वैत मतानुयायी ज्ञान को ही आत्मा मानते है। किन्तु इन सभी मतो का प्रत्याख्यान करते हुए विशिष्टाद्वैत वेदान्ती ज्ञान को नित्य, स्वत प्रमाण, स्वयप्रकाश एव आत्मा के धर्म रूप से प्रतिपादित करते है।

धारावाहिक ज्ञान एवं उसकी नित्यता

किसी एक पदार्थ के विषय मे धारा रूप से जो ज्ञान होता रहता है, उसे धारावाहिक ज्ञान कहते है। यथा, स्तम्भ के विषय मे स्तम्भ–स्तम्भ इस प्रकार धारा रूप से होने वाला ज्ञान धारावाहिक ज्ञान कहलाता है।[1] इस धारावाहिक ज्ञान के विषय मे यह आशका होती है कि बिना अन्तराल के निरन्तर प्रसक्त होने वाला दीर्घकालीन एक ही ज्ञान सूर्य किरण की तरह धारा रूप से बना रहता है, अथवा तेल एव बत्ती आदि किरणो के प्रतिक्षण प्राप्त होते रहने से प्रतिक्षण उत्पन्न एव विनष्ट होने वाले दीपसन्तान की तरह प्रतिक्षण उत्पन्न एव नष्ट होने वाला ज्ञानसन्तान है। विशिष्टाद्वैतवादी इनमे से प्रथम पक्ष को स्वीकार करते है। धारावाहिक ज्ञान बुद्धि स्थल मे ज्ञान की एकता का प्रतिपादन करते हुए 'प्रज्ञापरिमाण' मे आचार्य वरद नारायण का मानना है कि कुछ मत कहते है कि धारा रूप से होने वाले ज्ञानो मे प्रथम ज्ञान को छोडकर आगे वाले सभी ज्ञान प्रथम ज्ञान से ग्रहीत अर्थ के ग्राहक होने से स्मरण रूप है। किन्तु उनका यह मत समीचीन नही

---

[1] स्तम्भ स्तम्भ इत्यादिधारावाहिकज्ञान त्वेकमेव– यतीन्द्रमत दीपिका, सप्तमोऽवतार, पृ0 119।

है, क्योकि धारावाहिक ज्ञान पक्ति मे होने वाला प्रत्येक ज्ञान अनुभूति है, प्रमा है, न कि स्मरण।[1] प्रत्येक ज्ञान 'अय घट, अयघट' इस प्रकार से एक घट का ग्रहण करता है। 'अय' शब्द वर्तमान काल एव देश का द्योतक है अतएव यह ज्ञान भी वर्तमान देश–काल मे उत्पन्न होने वाला है। प्रत्येक धारावाहिक ज्ञान स्वोत्पत्ति क्षण मे विद्यमान रूप से विषयो का ग्रहण करता है। प्रत्येक ज्ञान का उत्पत्ति क्षण उसी ज्ञान से गृहीत होता है, पूर्वज्ञानो से नही। प्रत्येक ज्ञान पूर्व–पूर्व ज्ञानो द्वारा अगृहीत अपने उत्पत्ति क्षण को विशेष रूप से लेकर ही 'इस क्षण मे घट है' इस रूप से घटादि अर्थ का ग्राहक होने से अज्ञातार्थ का ग्राहक होता है अतएव वह प्रमा है। स्मृतिज्ञान के अपने मूलभूत पूर्वकालिक प्रत्यक्ष ज्ञान की अपेक्षा रखने की भाति धारावाहिक ज्ञान स्वय के लिए पूर्व ज्ञान की अपेक्षा नही रखते, अतएव धारवाहिक ज्ञान मे द्वितीयादि ज्ञान 'स्मरण' नहीं होता।

विशिष्टाद्वैतावादी मानते है कि धारावाहिक ज्ञान एक 'ज्ञान' ही है। वह धारा रूप से होने वाले अनेक ज्ञानो का सन्तान नही, अपितु एक ही ज्ञान व्यक्ति मे उतनी देकर तक बना रहता है।

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त मे मान्य है कि आत्मा का ज्ञान नित्य है, जब वह कर्म से संकुचित होता है तो विषयो का ग्रहण नही करता है। इन्द्रियादि से कर्मरूपी प्रतिबध के छूट जाने पर वह विकसित होकर विषयो का ग्रहण करता है ज्ञान के विकास को दूर करने मे ही इन्द्रियो का उपयोग है, ज्ञान को उत्पन्न करने मे नही। अत विषयेन्द्रियसयोग से ज्ञान के विकास का प्रतिबध दूर होने पर विकसित ज्ञान विषयो के समीय पहुँच कर तब तक विषयो का ग्रहण करता रहता है, जब तक कि इन्द्रियार्थ सयोग बना रहता है धारावाहिक ज्ञान स्थल मे प्रतिक्षण ज्ञान उत्पन्न नही होता। जो ज्ञान

---

[1] धारावाहिकधीपक्ति स्वकालीनार्थ भासिका। मेघातिरेकमद्भावाद् नैरपेक्ष्याद:पिप्रमा।।– 'प्रज्ञापरिमाण',– आचार्य वरद नारायण

विकसित होकर अनेक क्षणो तक विषय का ग्रहण करता रहता है, उसे ही धारावाहिक ज्ञान कहा जाता है।

ईश्वर का ज्ञान नित्य है, क्योकि वह अपनी उत्पत्ति के लिए आगमादि की अपेक्षा नही रखता है। शास्त्र भी ईश्वर के ज्ञान को नित्य बताता है। जिस प्रकार श्रुति ईश्वर के ज्ञान को नित्य बतलाती है, उसी तरह वह जीवो के भी ज्ञान की नित्यता बताती है। वह नित्य ज्ञान कर्मों से प्रतिबन्धित होने के कारण विकसित नही होता है। अतएव वह विषयो का ग्रहण नही करता है। इस प्रकार धारावाहिक ज्ञान एक प्रमा तथा अनुभूति रूप है, अनेक तथा स्मरण रूप नही। यतीन्द्रमत दीपिकाकार का मानना है कि धारावाहिक बुद्धि स्थल मे 'यह स्तम्भ है' 'यह स्तम्भ है' इत्यादि रूप से होने वाला ज्ञान एक ही रहता है।[1]

किन्तु यहॉ यह आशका उपस्थित हो सकती है कि श्रुत्यानुसार जीवो का ज्ञान यदि नित्य है तो फिर उनके जागरण, सुषुप्ति इत्यादि अवस्थाओ की सिद्धि कैसे हो सकती है ? इसका समाधान विशिष्टाद्वैतवादी देते हैं कि जिस प्रकार ईंधन के रहने पर भी प्रतिबन्धक मणि के रहने पर अग्नि जलाने का कार्य नही करता, उसी प्रकार ज्ञान को ढक देने वाले तमस् गुण के सन्निधान तथा असन्निधान के द्वारा स्वापादि दशाओ की सिद्धि होती है। तमस् गुण के हट जाने पर ज्ञान का विकास हो जाता है। वह विषयो का प्रकाश अपने आश्रय आत्मा के लिए करने लग जाता है। ज्ञान के विकास के प्रतिबन्धक तमोगुण के अभाव के काल को ही आत्मा की 'जागरण दशा' अभिहित किया जाता है। ज्ञान आत्मा का गुण है, क्योकि वह आत्माश्रित है, जो जिसके आश्रित होता है वह उसका गुण होता है।

---

[1] यत्तीन्द्रमत दीपिका, सप्तमाऽवतार, पृ0 119।

स्वतः प्रामाण्यवाद

किसी पदार्थ मे प्रमाणता एव अप्रमाणता के निश्चय के लिए गुणो की उपस्थिति एव दोषो की अनुपस्थिति अथवा इनकी बाधकता निर्णायक होती है रामानुजाचार्य मानते है कि प्रमाणता का समर्थन करने वाले गुणो का निश्चय करना, दोषाभाव के विश्वास के बिना निश्चित नही हो सकता एव दोषाभाव भी प्रमाण के पोषक गुणो की उपस्थिति के ज्ञान के बिना नही जाना जा सकता। अतएव उनके अन्योन्याश्रित होने से, उनका स्वतन्त्र रूप से निश्चय करना असम्भव है।

कुमारिल का मानना है कि प्रमाणता एव अप्रमाणता निश्चित होने के पूर्व एक मध्य की स्थिति होती है। ज्ञान यथार्थ है, अथवा अयथार्थ, यह ज्ञान के पहले अर्थ प्रकाश होना आवश्यक है। जो अर्थ की दृष्टि से स्वत. प्रमाण है तथा अपनी प्रमाणता के लिए दूसरी विधि के प्रयोग पर अवलम्बित नही है, वह भविष्य के अर्थ के लिए सत्य एव मित्यात्व की समस्त निश्चितता का आधार है। इसलिए ज्ञान का यह मूल अग अर्थ प्रकाश अर्थात् स्वत प्रमाण है।[1] सहायक गुणो का ज्ञान प्रमाणत्व का कारण नही है, अपितु जब प्रमाणत्व का निश्चय हो जाता है तब इन गुणो को सहायक माना जा सकता है। स्वत प्रामाण्य ज्ञान का होता है, तथात्व का नही। कुमारिल के अनुयायियो का मानना है कि ज्ञान के स्वत प्रामाण्य का यह अर्थ नही हो सकता कि ज्ञान ही स्वय तथ्य को तथात्व प्रदान करता है, क्योकि वे ज्ञान को स्वय प्रकाश नही मानते। इसलिए उन्होने प्रमाणता को प्रदान करने वाले अन्य साधनो की परिकल्पना की है। रामानुजाचार्य का मानना है कि इन साधनो की प्रमाणता के लिए पुन अन्य सहायक साधनो की परिकल्पना करनी होगी, इस प्रकार अनवस्था दोष प्रसक्त होगा। तब सहायक गुणो के समर्थन पर अवलम्बित रहने से प्रमाणत्व रहेगी ही नही। इस मतानुसार वेद भी स्वत

---

[1] यथार्थपरिच्छेद प्रामाण्यमयथार्थ परिच्छेद अप्रामाण्य । न्याय कुलिश

प्रमाण नही रहेगे। इसलिए प्रमाणत्व के विषय मे शका उत्पन्न होने की सभावना हो जाएगी।

रामानुजाचार्य कहते है कि वेदो की प्रमाणता के लिए मानना होता है कि वे परम आप्त पुरूष के वचन है। ज्ञान मात्र विषय को प्रकट नही करता, अपितु विशिष्ट द्रव्य अथवा पदार्थ को प्रकट करता है तथा वह वस्तु के ज्ञान मे प्रकट होने तक ही प्रमाण है।[1] इस प्रकार ज्ञान की प्रमाणता का सम्बन्ध विशिष्ट पदार्थ के सामान्य गुणो से है, उसके विशिष्ट कर्मों से नही।[2] इस प्रकार की प्रमाणता केवल ज्ञान के आकार को ही लक्ष्य करती है, विषयगत समर्थन को नही।[3]

'प्रमाण' वस्तु का यथार्थ ज्ञान है[4] एव 'अप्रमाण' मिथ्या ज्ञान अथवा अयथार्थ ज्ञान है।[5] मेघनादारि के अनुसार ऐसी प्रमाणता ज्ञान द्वारा स्वय प्रकट होती है। ज्ञान, स्वय को अपने स्वरूप से ही प्रकट करता है, वही उसकी प्रमाणता को स्थापित करता है क्योंकि किसी अन्य साधन के द्वारा उसकी प्रामाणता की स्वीकृति सदैव आशंका युक्त ही रहेगी, तथा ज्ञान की स्वत प्रमाणता न मानने पर उसे सिद्ध करने के लिए पुन अन्य प्रमाण की आवश्यकता होगी, फिर अन्य, इसी भाति होने पर अनवस्था प्रसक्त होगी।

मेघनादारि का मत है कि यदि प्रमाणता ज्ञान के सामूहिक कारणो से मानी जाए, जिसमे आत्मा, इन्द्रिय एव पदार्थों का समावेश है, तो पदार्थ को भी प्रमाण मानना पडेगा, तथा कोई प्रमेय नही रहेगा।

'योगीन्द्रमतदीपिकाकार' श्रीनिवास मानते है कि समस्त ज्ञान स्वत प्रमाण एव स्वय प्रकाश होते है। नैयायिक ज्ञान का परत प्रामाण्य स्वीकार

---

[1] यद् घी ज्ञाने विद्यते तदैव तस्य लक्षणमुचित वस्तुप्रकाशत्वमेव ज्ञाने विद्यते न तु विषय प्रकाशत्व यतो विज्ञाने, समुत्पन्ने विषयोऽयमिति नामाति किन्तुघटोऽयमिति –न्याय कुलिश
[2] ज्ञानाना सामान्यरूपमेव प्रामाण्य न वैशेषिक रूपम् – न्याय कुलिश।
[3] तस्माद् बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धे प्रमाणता – वही।
[4] तथा भूतार्थ ज्ञान हि प्रमाणमुच्यते
[5] अतथा भूतार्थ ज्ञान हि अप्रमाणम्।

करते है। उदयनाचार्य का मानना है कि ज्ञानो मे प्रमात्व गुण प्रामाण्य गुणो के द्वारा आता है। प्रत्यक्षादि ज्ञानो मे प्रमात्व उत्पन्न करने वाले गुण यथावस्थित वस्तुओ के साथ इन्द्रिय सन्निकर्षादि है। शब्दबोध के प्रामाण्य के कारण शब्द के स्वतन्त्र वक्ता पुरूष के गुण है। शब्द के वक्ता के आप्त होने पर शब्द प्रामाणिक होता है। वेदजन्य प्रमा भी अपने वक्ता के गुणो पर ही आश्रित है, क्योकि वेद शब्द प्रमाण है। अतएव नैयायिक मानते है कि ज्ञान की प्रामाणिकता स्वय से भिन्न उसके वक्ता की प्रामाणिकता पर निर्भर है, अतएव ज्ञान का परत प्रामाण्य है।

विशिष्टाद्वैतवाद नैयायिकों के परत प्रामाण्यवाद का खण्डन करता है। इनका मानना है कि ज्ञान का यह स्वभाव है कि जो वस्तु जैसी है उसका वह उसी रूप मे प्रकाशन कर देता है। यथा अग्नि का दाहकत्व स्वाभाविक होता है, उसी प्रकार ज्ञान का प्रामाण्य भी स्वाभाविक है। भ्रम ज्ञानस्थल मे भी धर्मी का ज्ञान भ्रमरहित रहता हे। भ्रमाश मे दोष के कारण अप्रामाणिकता आती है। नैयायिक भी मानते है कि हेत्वभाव के कारण ईश्वर का नित्य ज्ञान भी प्रामाणिक है। उसी प्रकार दोषाभाव के कारण अपौरूषेय वेद वाक्य जन्य ज्ञान भी स्वभावत प्रामााणिक ही है। अत ज्ञान की स्वत प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

भ्रम का स्वरूप

भारतीय दर्शन शास्त्र मे वाह्य जगत् की अनुभूति मे उपस्थित भ्रम–स्थल की समस्या का समाधान करने का प्रयास भिन्न–भिन्न प्रकार से किया गया है। प्रत्येक सम्प्रदाय के परमत के प्रत्याख्यान द्वारा स्वमत की प्रतिष्ठा करता है। यही 'भ्राति' अथवा 'भ्रम' का सिद्धान्त ही भारतीय दर्शन मे 'ख्यातिवाद' के नाम से प्रचलित है।

'ख्यातिवाद' के विस्तृत इतिहास से ज्ञात होता है कि रामानुजाचार्य के काल के पूर्व पॉच प्रकार की ख्यातियो का उल्लेख किया गया है।

(1) अख्यातिवाद–मीमासक प्रभाकर मत

(2) आत्मख्यातिवाद– विज्ञानवादी बौद्ध मत

(3) असत्ख्यातिवाद–शून्यवादी बौद्ध मत

(4) अन्यथाख्यातिवाद–न्याय मत

(5) अनिर्वचनीयख्यातिवाद–शांकर केवलाद्वैत मत।

श्री सम्प्रदाय के आविर्भाव के पूर्व यद्यपि केवलाद्वैत सम्मत अनिर्वचनीयख्यातिवाद में आचार्य शकर द्वारा अन्य चारों ख्यातियो को दोषपूर्ण मानकर उनका खण्डन किया गया तथा अनिर्वचनीयख्यातिवाद की विशेष रूप से प्रतिष्ठा की गई। किन्तु रामानुजाचार्य ने अनिर्वचनीयख्याति को भी दोषपूर्ण ही पाया, तथा अपने 'सत्ख्यातिवाद' मत की स्थापना की।

सत्ख्यातिवाद

'सत्ख्यातिवाद' का तात्पर्य है कि केवल सत् का ही ज्ञान होता है। तथा ऐसे ज्ञान की कल्पना भी नही की जा सकती जिसके अनुरूप किसी वस्तु का वास्तव मे अस्तित्व न हो। ज्ञान एवं वस्तु से तात्पर्य, उसके होने के लिए इतना पर्याप्त नही है कि ज्ञान के आलम्बन मात्र के रूप मे किसी चीज का बाहर अस्तित्व हो। रामानुजाचार्य अभेद अथवा केवलाद्वैत को एक तत्त्वमीमांसीय कल्पना तथा ज्ञान का अविषय मानते है तथा कहते है कि वस्तु का स्वरूप वैसा ही होना चाहिए जैसा ज्ञान में प्रकट होता है। अर्थात् ज्ञान प्रस्तुत वस्तु से न केवल प्रकारी की दृष्टि से सम्बन्धित हो, अपितु प्रकार की दृष्टि से भी सम्बद्ध हो। भ्रम के विषय मे रामानुजाचार्य दो प्रकार की व्याख्या देते है।

प्रथम, वे कुछ दृष्टान्तो मे वेदान्त के पञ्चीकरण सिद्धान्त के आधार पर वास्तववाद को मानते है। इस सिद्धान्त के अनुसार दृश्य जगत् मे जितनी भी वस्तुएँ है, वे सब यौगिक है तथा प्रत्येक मे पॉचो महाभूत रहते हैं यद्यपि उनका प्रत्येक में अनुपात अलग–अलग ही होता है। यथा–मारीरिका मे नेत्र के समक्ष तप्त बालू होती है, जिसमें प्रधान अश के रूप मे तो पृथ्वी होती है, परन्तु अल्पांश रूप में अप् इत्यादि अन्य चार भूत भी रहते है। इसीलिए वहाँ जल का प्रत्यक्ष होता है। किन्तु यह व्याख्या पच महाभूतो मे से किसी एक के वस्तु–भ्रम में संभव है। भ्रम केवल इतने में ही सीमित नहीं है। हमें शुक्ति को रजत समझने का भ्रम होता है तथा शुक्ति एव रजत इन दोनों में से कोई भी स्वतः भूत नहीं है। इस विषय में रामानुजाचार्य ने पञ्चीकरण के सिद्धान्त का विस्तार किया है।

शुक्ति रजत भ्रम के कारणो में से एक इन दोनो वस्तुओ का सादृश्य अर्थात् उनकी विलक्षण प्रकार की चमक है। रामानुज इस सादृश्य का अर्थ शुक्ति मे रजत् के द्रव्य की उपस्थिति मानते हैं, यद्यपि वह उसमे अल्पाश रूप ही रहता है। आचार्य की दृष्टि मे सादृश्य द्रव्य की आशिक एकता का ही अन्य नाम है।[1] इस प्रकार इस उद्धरण मे वही प्रत्यक्ष होता है जो नेत्रो के समक्ष रहता है। रामानुजाचार्य ऐसे स्थानो में अपने 'सत्ख्यातिवाद' का समर्थन करते है कि भौतिक जगत् में एकता है तथा उसकी वस्तुओं में रचना–साम्य देखा जा सकता है। यह उनके दर्शन का एक आधार भूत सिद्धान्त है।

---

[1] तदेव सादृश तस्य यत् तद् द्रव्यैकदेशभाक्–श्री भाष्य, पृ० 184

द्वितीय, श्वेत शख का पीलिया के रोगी को पीत वर्ण दिखाई देने सदृश भ्रमो मे भिन्न व्याख्या की अपेक्षा है क्योकि पीलिया मे पीत वर्ण का अस्तित्व आत्मा के बाहर, नेत्र मे होता है (पीत वर्ण का स्पष्टीकरण वे आवश्यक नही समझते)। किन्तु वह शख का गुण प्रतीत हो रहा है इसे व्याख्यायित करते हैं तत्कालीन प्रचलित दृष्टि सिद्धान्त के आधार पर रामानुजाचार्य कहते है कि रोगग्रस्त चक्षु में पाया जाने वाला पीत वर्ण उन किरणो के साथ, जो प्रत्यक्ष प्रक्रिया मे नेत्र से निकलकर शंख की ओर जाती है, वस्तुतः शंख मे संचारित हो जाता हैं तथा शंख का स्वाभाविक श्वेतत्त्व इस प्रकार आरोपित रग से दब जाता है। फलतः शख पीत वर्ण युक्त मान लिया जाता है, वस्तुतः यह कुछ ही काल का होता है यहॉ ज्ञान सम्बधियों एवं उनके सम्बन्धो की दृष्टि से यथार्थ है।

इसके विरूद्ध आपत्ति की जाती है कि यदि शख वास्तव में पीत वर्ण हो जाता है तो वह अन्य जनो को भी पीत वर्ण का दृष्टिगत होना चाहिए। आचार्य इसका समाधान देते है कि यहॉ पीत वर्ण इतना अधिक सूक्ष्म है कि जो उसका नेत्र द्वारा निकलकर शख तक पहुचने के पूरे मार्ग मे अनुसरण नही कर सका, वह उसे दिख भी नही सकता। यह व्याख्या नि सन्देह अविश्वसनीय है किन्तु आचार्य रामानुज की वास्तवादी प्रवृत्ति पर दृढता को स्पष्ट भी करती है। पुन- आचार्य ने स्वप्न भ्रम की व्याख्या दी है। उनकी यह व्याख्या उपनिषदो के आधार पर[1] मानी गयी है, वह यह कि स्वप्न मे दिखाई देने वाली वस्तुऍ, यथा हाथी इत्यादि, मन की कल्पनाऍ नही, अपितु तत्कालीन वास्तविकता है। रामानुजाचार्य[2] का मानना है कि परमात्मा उनको

[1] वृह० उप० 4/3/10
[2] श्री भाष्य 3/2/3

उत्पन्न करता है तथा उसका प्रयोजन जाग्रतावस्था की वस्तुओ की उत्पत्ति के प्रयोजन के समान ही व्यक्ति (जीव) को उसके प्रारब्ध कर्मानुसार सुख–दु ख को उपभोग करने के साधन प्रदान करना है। वह इन वस्तुओ को, जो प्रत्येक जीव के लिए अलग–अलग होती है तथा केवल अनुभव पर्यन्त ही अस्तित्व रखती है इसलिए उत्पन्न करता है कि जीव अपने किए हुए भले एव बुरे अत्यधिक गौण कर्मो के अनुसार उपयुक्त फल भोग कर सके।[1]

इन व्याख्याओ मे पीत–शख तथा स्वप्न हस्ति केवल व्यक्तिगत अनुभव की वस्तुएँ है। यद्यपि वे मिथ्या नहीं है तथापि इनका अस्तित्व भ्रम काल तक ही रहता है तथा इसी कारण केवल इसका द्रष्टा ही इन्हे प्रमाणित कर सकता है। मारीचिका अथवा शुक्ति–रजत का भ्रम भी एक प्रकार से विशेष व्यक्तियो से ही सम्बद्ध होता है, व्यक्ति भ्रम मे जिस जल अथवा रजत को देखता है वह प्राक्कल्पनात· प्रत्यक्ष वस्तु के वास्तविक अश के रूप मे भ्रम समाप्त हो जाने के बाद भी बने रहने पर सभी के द्वारा सत्यापनीय है। स्पष्ट है कि रामानुजाचार्य दो प्रकार की वस्तुओ मे भेद करते है– एक प्रकार की वे, जिन्हे सभी व्यक्ति देखते है, सार्वजनिक कहलाती है तथा दूसरे प्रकार की वे जो अकेले व्यक्ति को दिखाई देती है, 'निजी' कहलाती है। किन्तु यह वर्गीकरण सत्ता के विभिन्न प्रकारो को स्वीकार करना नही है, नही तो विशिष्टाद्वैतवाद की हानि होगी। वास्तविकता तो यह है कि विभिन्न प्रकार के भेद का निषेध करने के लिए ही आचार्य

---

[1] श्री भाष्य 3/2/5

'सत्ख्यातिवाद' प्रवृत्त करते है। वास्तविकता की दृष्टि से निजी एव सार्वजनिक वस्तुओ मे कोई भेद नही है दोनो ही वाह्यार्थ है, दोनो का ही अस्तित्व ज्ञान निरपेक्ष है तथा दोनो निरपेक्ष रूप से सत्य हैं। किसी वस्तु का निजीकरण उसे अवास्तविक नही बनाता। प्रत्येक के सुख–दुःख उसके निजी होते है, लेकिन उनकी वास्तविकता कम नही होती।

रामानुजाचार्य की सत्ख्यातिवाद का लक्ष्य यह स्पष्ट करना है कि ज्ञान, जिसमे वे भ्रम का अन्तर्भाव मानते है, वास्तविकता से अलग नही रहता तथा ज्ञान की वस्तु के अस्तित्व का समर्थन जब केवल एक ही व्यक्ति कर सकता है, तब भी उसमें कल्पना का कोई अश नहीं रहता। किन्तु जब सभी ज्ञान समान रूप से सत्य है, तो प्रश्न होता है कि प्रमा एव भ्रम का भेद क्यो है ? इसे स्पष्ट करने के लिए रामानुजाचार्य ने एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत किया है अलातचक्र का[1] जिसमे एक प्रकाश बिन्दु तेजी से घुमाए जाने के कारण एक वृत्त के रूप मे दिखाई देता है। इस भ्रम मे यह तो ज्ञात होता है कि प्रकाश बिन्दु वृत्त की परिधि के प्रत्येक बिन्दु मे स्थित है, किन्तु इस तथ्य पर ध्यान नही दिया जाता कि वह वृत्त परिधि के प्रत्येक बिन्दु में क्रमिक रूप मे पहुचता है, न कि एक ही समय मे।

रामानुज के 'सत्ख्यातिवाद' मे भी सत् ज्ञान मे कुछ तथ्य अनछुए रह गये प्रतीत होते है, यथा जब हम शुक्ति को शुक्ति रूप मे देखते है, तब प्राक्कल्पना के अनुसार उसमे रजत का भी अश रहता है, किन्तु उसकी उपेक्षा कर दी गयी है। सत्ख्यातिवाद यह तो मानता है कि केवल जो प्रस्तुत होता है, उसी का हमें ज्ञान होता है, परन्तु यह नही मानता कि जितना भी

---

[1] श्री भाष्य, पृ० 187

प्रस्तुत होता है वह समस्त रुप से ज्ञात हो जाता है। वस्तुत यह ज्ञान सदैव प्रस्तुत का ही होता है अतिरिक्त का नही, परन्तु यह आवश्यक नही कि सम्पूर्ण प्रस्तुत ज्ञात हो जाए। सत्ख्यातिवाद यह तो मानता है कि भ्रम मे बुद्धि अपनी ओर से कुछ नही जोड सकती। अतः भ्रम को अपूर्ण ज्ञान नही कहा जा सकता।

रामानुजाचार्य मानते है कि ज्ञान को सामान्यत· गृहीत अर्थ मे सत्य होने के लिए वाह्यार्थ के अनुरूप होने के अतिरिक्त जीवन मे उपयोगी भी होना चाहिए। जब शुक्ति–रजत अथवा मारीचिका को मिथ्या कहा जाता है तब यह तात्पर्य नहीं है कि वहॉ रजत अथवा जल विद्यमान नहीं है, क्योकि यदि ऐसा होता तो इनका हमे ज्ञान ही न हुआ होता, अपितु इन उदाहरणो मे जलाश अथवा रजताश की मात्रा इतनी नही है कि उसका व्यावहारिक उपयोग हो सके। इस प्रकार प्रमा तथा भ्रम का भेद व्यावहारिक दृष्टि से ही है, सैद्धान्तिक दृष्टि से इनमे कोई भेद नही है।

समस्त ज्ञान निरपवाद रूप से तथा अनिवार्यत प्रमाण हैं, किन्तु यह आवश्यक नही है कि जो ज्ञात हुआ है वह किसी व्यावहारिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए पर्याप्त है। प्रामाण्य की परिभाषा मे 'यार्थाथ्य' के अतिरिक्त 'व्यवहारनुगुण्य'[1] को भी समन्वित करने का यही तात्पर्य है।[2] यदि ज्ञान व्यवहार के अनुरूप है तो उसकी दो विशेषताऍ होनी चाहिए। प्रथम, उसे सार्वजनिक अनुभव की वस्तुओ का निर्देश करना चाहिए, (ऐसा न होने पर पीत शख, स्वप्न–हस्ति इत्यादि मिथ्या हो जाएगे) इनको एक व्यक्ति की

[1] व्यावहारिक आवश्कताओ के अनुकूल होने के गुण।
[2] यतीन्द्र मत दीपिका, पृ० 3

निजी वस्तुऍ न समझकर इन्हे सामान्य अथवा जाग्रतावस्था की तुल्य वस्तुऍ मान लिया जाता है, तब यहॉ कठिनाई उपस्थित होती है, इस कारण उसका मिथ्यात्व भी प्रकट हो जाता है। दूसरी विशेषता है, उसे प्रस्तुत के प्रधान अश का ग्रहण करना चाहिए। जिस वस्तु को शुक्ति माना गया है उनमें रजत अंश हो सकता है, परन्तु शुक्ति अंश प्रधान होने के कारण रजत के बजाय शुक्ति के रूप मे ग्रहण करना होता है। रजत अश का अल्प मात्राओ मे विद्यमान होने से व्यवहार में उसका कोई महत्त्व नही है। इसी कारण रजत ज्ञान हो जाना भ्रम कहा जाता है।

प्रमा वस्तु के जितने अंश को ग्रहण करती है, उसकी दृष्टि से तो यथार्थ होती है, परन्तु जीवनोपयोगी भी होती है। इसी प्रकार भ्रम भी जितने अंश का ग्रहण करता है, उसकी दृष्टि से वह यथार्थ ही है, परन्तु उपयोग की आशा करने पर भी वह उपयोगी नही है। अतः जब भ्रम दूर होकर सत्य का ज्ञान होता है तब अर्थ का निषेध नही होता, अपितु केवल प्रवृत्ति का बाध होता है।[1]

रामानुज के इस मत से दो प्रकार के परिणाम प्राप्त किये जा सकते है। जीवन के व्यावहारिक क्रियाकलाप के लिए यह आवश्यक नहीं है कि समस्त वस्तुओं का पूर्ण ज्ञान हो। दूसरी प्रकार से कह सकते है कि प्रयोजन साधक ज्ञान सर्वांश ग्राही नही, अपितु चयनात्मक होता है तथा अपूर्ण या आशिक ज्ञान जीवन के सामान्य साधनो की प्राप्ति मे बाधक नही हो सकता।

सत्ख्यातिवाद ज्ञान का एक सामाजिक पक्ष भी मानता है। सैद्धान्तिक निश्चितता के विषय मे व्यक्तिगत चेतना उतनी ही प्रामाणिक है, जितनी

---

[1] ज्ञानफलभूतप्रवृत्तिबाध्यत्वम्—श्री भाष्य की टीका, पृ० 185

सामूहिक चेतना, क्योकि ज्ञान चाहे एक व्यक्ति को हो अथवा अनेक व्यक्तियो को, वह समानरूप से स्वरूपत- सत्य प्रकट करता है, किन्तु उसकी उपयोगिता समाज के सामान्य साक्ष्य, तथा मानव की सामान्य बुद्धि पर निर्भर होती है। इस प्रकार रामानुजाचार्य ज्ञान को व्यवहार का साधन मानकर सत्यता की कसौटी के रूप मे अपनाते है। आचार्य ज्ञान का ज्ञापनात्मक मूल्य भी मानते हैं। ज्ञान के दो मुख्य कार्य है– सत्य को प्रकट करना तथा व्यावहारिक जीवन के प्रयोजनो को पूरा करना। दोनों ही समान महत्व के है। रामानुजाचार्य ज्ञान का स्वतः मूल्य मानते है तथा ज्ञान को उसके परिणाम से अधिक उसके प्रकाशकत्व के कारण महत्व देते हैं।

सत्ख्यातिवाद ज्ञान के एक ऐसे आदर्श रूप की ओर सकेत करता है जो न केवल प्रमाण है तथा व्यावहारिक मूल्य रखता हो अपितु पूर्ण एव सर्वग्राही भी है। रामानुजाचार्य ज्ञान की पूर्ण अवस्था को वास्तव में जीव की मोक्षावस्था की प्राप्ति मानते हैं। साधारण ज्ञान, जिसमे प्रमा भी सम्मिलित है, सत्य को अशतः ही प्रकट कर पाता है। सत्य की पूर्ण अभिव्यक्ति केवल मोक्ष मे ही सभव है, जब समस्त दोष दूर हो जाते है तब भ्रम की कोई सभावना नही रहती।

सत्कार्यवाद

रामानुजाचार्य कारण–कार्य के सिद्धान्त मे सत्कार्यवाद को स्वीकार करते है। उनके अनुसार प्रत्येक कार्य यह सकेत करता है कि उसका उपादान (भौतिक) कारण पहले से विद्यमान था। अवस्था मे परिवर्तन ही कारण–कार्य भाव है। अस्तित्व एव अभाव एक ही द्रव्य की भिन्न–भिन्न अवस्थाएँ है। कोई भी वस्तु जिसके अन्दर गुण है 'द्रव्य' कही जाती है। द्रव्य आधार है तथा उस पर जो भी निर्भर करता है वह आधेय अद्रव्य है। इस

प्रकार समस्त पदार्थ द्रव्य है तथा गुण एव सम्बन्ध अद्रव्य। बुद्धि को भी आचार्य एक द्रव्य मानते हैं क्योकि उसमे विकास एव सकोच गुण होते है। समस्त जगत् जो ईश्वर का विशेषण है, ईश्वर के दृष्टिकोण से अद्रव्य है, यद्यपि वास्तव मे इस जगत् में द्रव्य एव अद्रव्य दोनो सम्मिलित भाव से रहते है। ज्ञान की भॉति एक विशेषण द्रव्य हो सकता है। यह द्रव्य उपादान कारण हो सकते हैं, किन्तु अद्रव्य नही। विषय एवं पदार्थ अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते है तथा ज्ञान के द्वारा ही एक दूसरे से सबद्ध किये जाते है।

प्रमाण निरूपण

रामानुजाचार्य व्यवहारिक अथवा साधारण ज्ञान मे ही 'प्रमा' को समन्वित मानते हैं। 'प्रमा' का तात्पर्य है यथार्थ ज्ञान । रामानुज मत में समस्त ज्ञान यथार्थ है।

दर्शन शास्त्र के अधिकतर सम्प्रदायो मे प्रमाण की व्याख्या की जाती है कि प्रमाण वह स्थिति है जिसके अन्तर्गत ग्रहण किया हुआ विषय पहले कभी भी ज्ञात नहीं हुआ हो अर्थात् प्रमाण द्वारा सर्वप्रथम ज्ञात किया गया हो।[1] दर्शनशास्त्र मे एव विशिष्टाद्वैत मत मे भी स्मृति को प्रमाण से पृथक् माना गया है। योगीन्द्रमतदीपिकाकार प्रमा का लक्षण देते है 'जो वस्तु जैसी है, उसके उसी प्रकार के व्यवहार के अनुकूल जो ज्ञान होता है, उस ज्ञान को प्रमा कहते है।'[2] शुक्ति रजत इत्यादि स्थानो मे भ्रम ज्ञान की अतिव्याप्ति होने के कारण व्यवहार के अनुकूल ज्ञान को प्रमा कहा गया है। इससे भ्रम ज्ञान मे-प्रमा के लक्षण की अतिव्याप्ति नही होती। प्रमा के करण को प्रमाण

---

[1] 'अनधिगतार्थगतृ'।

[2] यथावस्थितव्यवहारनुगुण ज्ञान प्रमा—यतीन्द्रमतदीपिका—श्री निवास, प्रथमोऽवतार, पृ० 9

कहते है।[1] कार्य के सम्पादक कारणो मे जो सर्वोत्कृष्ट कारण होता है, उसे ही करण कहते है – प्रकृष्ट कारण करण। महर्षि पाणिनि करण को साधकतम कहते है। इस प्रकार प्रमा के साधकतम करण को 'प्रमाण' कहा गया है।

रामानुज सम्प्रदाय के विख्यात दार्शनिक वेकटनाथ दो प्रकार की प्रतिज्ञाएँ स्वीकार करते है – प्रमाण एव अप्रमाण। प्रमाण उसे कहा जाता है जिसके द्वारा सत्य ज्ञान (प्रमा) उपलब्ध हो, यथा प्रत्यक्ष के यथार्थ ज्ञान के लिए दोष रहित नेत्र, ध्यान सगत मानसिक व्यापार एव विषय की योग्यता इत्यादि के संयुक्त स्वरूप से 'प्रमाण' की उपलब्धि होती है। किन्तु 'शब्द' प्रमाण में ज्ञान की प्रमाणता वक्ता की दोष रहितता से है। प्रमाण का अन्तिम निश्चय प्रमा या सत् ज्ञान द्वारा ही है। जिससे सत् ज्ञान प्राप्त हो सकता है, वही प्रमाण है। वेद प्रमाण है क्योंकि वे ईश्वर के द्वारा कहे गए है जिसे सत्ज्ञान है। इस प्रकार ज्ञान की सत्यता ही अन्त मे प्रमाण की सिद्धि निश्चित करती है।[2]

रामानुजाचार्य प्रत्यक्ष, अनुमान एव शब्द प्रमाण को ही ज्ञान के प्रामाणिक साधन के रूप मे स्वीकार करते है।

प्रत्यक्ष प्रमाण

वेकटनाथ प्रत्यक्ष की व्याख्या 'साक्षात्कारि प्रमा' देते है। यह विशिष्ट प्रकार का ज्ञान (जाति रूप) या विशिष्ट उपाधि रूप है। यह स्वरूप से

---

[1] प्रमाकरण प्रमाणम्–वही।

[2] करणप्रमाणस्य आश्रयप्रमाणस्य च ज्ञान प्रमाण्याधीनज्ञानत्वात्तदुभयप्रामाण्यसिद्धयर्थमपि ज्ञान प्रामाण्यमेव विचारणीयम्–न्याय सार, पृ० 35

अवर्णनीय है, तथा विशिष्ट स्व चैतन्य रूपी प्रत्यक्ष से अनुभव किया जाता है।[1]

रामानुजाचार्य स्वय कहते है – प्रत्यक्ष का विषय वह है जो भेद के द्वारा प्रतीत होता है तथा जिसमे सामान्य लक्षण, जिनसे उसकी आकृति का निर्माण होता है, विद्यमान है।[2]

मेघनादारि भी प्रत्यक्ष को विषय का साक्षात् ज्ञान कहकर व्याख्या करते है।[3] इस ज्ञान की उत्पत्ति किसी अन्य प्रमाणो पर आश्रित नही है। यही इसका साक्षात्व है। यह नि.सन्देह सत्य है कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष, इन्द्रियो के व्यापार पर आश्रित है किन्तु मेघनादारि मानते है कि इन्द्रियॉ सामान्य कारण हैं, जो अनुमान मे भी हेतु के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए साधन रूप से क्रियाशील है।[4]

योगीन्द्रमतदीपिकाकार श्रीनिवासाचार्य ने प्रत्यक्ष की परिभाषा वेकटनाथ के अनुसार ही की है। वे कहते है कि प्रत्यक्ष प्रमाण का अनुमानादि प्रमाणो से भेद सिद्ध करने के लिए साक्षात्कारी पद को प्रमा का विशेषण बनाया गया है।

रामानुजाचार्य सविकल्पक एव निर्विकल्पक भेद से प्रत्यक्ष के दो भेद स्वीकार करते है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष न तो एक ऐसे पदार्थ का बोध है जिसमे अन्य पदार्थो से नितान्त भेद का ज्ञान हो गया है तथा जो विशुद्ध है न ही एक सोपाधिक पदार्थ तथा उसके लक्षणो का बोध है जो परस्पर

---

[1] ज्ञान स्वभाव विशेषस्यात्म साक्षिक ।

[2] तत्त्वमुक्ताकलाप 3/28 – रामानुजाचार्य।

[3] अर्थ परिच्छेक साक्षाज्ज्ञानम्।

[4] इन्द्रियाणा सत्ता कारणत्वेन करणत्वाभावाद् – नयद्युमणि।

असम्बद्ध है। समस्त पदार्थो का ज्ञान पदार्थ के किसी न किसी विशेष गुण से मिश्रित ही होता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय मे विशिष्टाद्वैत `विद्वानों की मान्यता अन्य दार्शनिको की अपेक्षा भिन्न है। अद्वैत वेदान्त मानता है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा सभी विशेषणो से शून्य वस्तु का ग्रहण है। ये उसे 'सन्मात्र का ग्राहक कहते हैं। परन्तु विशिष्टाद्वैतवादी मानते हैं कि कोई भी ऐसा प्रत्यक्ष नही होता, जो सभी विशेषणो से रहित वस्तु का ग्रहण कर सके। सविकल्पक प्रत्यक्ष तो सर्वमान्य है किन्तु निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय सविशेष वस्तु ही होती है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मे अनुभूत विशेषणों का ही प्रत्यवमर्श प्रतिसंधान सविकल्पक प्रत्यक्ष मे होता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में कुछ ही विशेषण नहीं होते, सभी से रहित वस्तु नही।

रामानुजाचार्य के 'वेदार्थ संग्रह' में समस्त प्रत्यक्षों की निर्विकल्पता, प्रथम क्षण मे अनुभव मे, सामान्य धर्मो के ग्रहण द्वारा उद्धृत की गयी है। वेकटनाथ तथा मेघनादारि दोनो ही यह मानते है कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष कभी भी शुद्ध विषयगत द्रव्य,- लक्षण या सामान्य धर्मो के बिना अनुभव नही किया जाता। रामानुजाचार्य का अनुसरण करते हुए वे कहते है कि विषय हमेशा जब भी इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाते है, प्रथम क्षण मे ही कुछ लक्षणो सहित अवश्य होते हैं।

रामानुजाचार्य कहते हैं, वह प्रत्यक्ष जो पदार्थ के विशिष्ट गुण को उससे सम्बन्धित स्मृतियो का त्वरित उल्लेख न करते हुए, घट को घट रूप

मे प्रकट करता है, उसे निर्विकल्पक ज्ञान कहते है।[1] निर्विकल्पक ज्ञान की यह परिभाषा रामानुजाचार्य के ज्ञान के मत को भारतीय वेदान्त दर्शन सम्मत अन्य मतो से पृथक करती है।

सविकल्पक प्रत्यक्ष निश्चित ज्ञान है जिसमें विषय को पहले अनुभव किये हुए देश एवं काल के सम्बन्ध का समावेश होता है। यथा, जब घट का प्रत्यक्ष होता है, तब विचार होता है कि इसे दूसरे देश एव काल मे देखा गया था, उससे सम्बन्धित स्मृतियो का उल्लेख होता है। वह ऐसे एक निश्चित प्रत्यक्ष का निर्माण करती है जिसके कारण वह सविकल्प कहलाता है।[2]

सविकल्पक प्रत्यक्ष में भी केवल वे ही गुण, जिनका बोध निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में हुआ था स्मरण होते है। मेघनादारि का मानना है कि सविकल्प वस्तु का प्रत्यय, जिससे संबद्ध है तथा सन्बन्ध से भिन्न नही है किन्तु उसे अनुमित करता है, यह तथा जिससे सम्बन्ध है मिलकर निर्दिष्ट वस्तु का ज्ञान कराते है।[3] सविकल्पत्व का सयोजक गुण, गौण वस्तु नही है, अपितु यह प्रकट करता है कि जगत् मे समस्त वस्तुएँ सम्बन्ध द्वारा विशिष्ट होने के लिए एक दूसरे से अपेक्षित हैं तथा वस्तुओ की यह सापेक्षता उनकी एकता है, जिससे वे सविकल्पक ज्ञान मे सम्बद्ध रूप से दीखती है।[4] पदार्थो की इस सापेक्षता से ही उनका अनुभव से सम्बन्धित ज्ञान उत्पन्न होता है। यह

---

[1] एकस्या व्यक्तौ घटत्व प्रकारकमय घट इति यज्ज्ञान जन्यते तन्निर्विकल्प –रामानुज सिद्धान्त सग्रह।

[2] तत्रानुवृत्ति विषयक ज्ञान सविकल्पक, अनुवृत्तिश्च सस्थानरूपजात्यादेरनेक व्यक्ति वृत्तिता, सा च कालतो देशतश्च भवति–वही।

[3] न च प्रत्येक विशिष्टता पात मिलितानामे व विशिष्टत्वात्–नयद्युमणि

[4] एक बुद्धि विषयतार्हाणा पदार्थानाम् अन्योन्यसापेक्षस्वरूपत्वमिलितत्व्–वही।

सामान्य अनुभव है कि समस्त प्रत्यक्ष, विचार एव प्रत्यय सर्वदा सम्बन्धित तथा सयुक्त दीखते है।

निर्विकल्पक ज्ञान मे, विषय के कुछ ही सारभूत लक्षण देखे जाते है तथा अन्य कई लक्षणो का विस्तार नही होता।[1] सविकल्पक ज्ञान मे, अनेक गुणो एवं लक्षणों, तथा साथ ही साथ उन विशिष्ट गुणो का भी ज्ञान होता है जिससे अन्य पदार्थो से उसका भेद किया जाता है।[2]

चाक्षुष प्रत्यक्ष के सादृश्य से, अन्य इन्द्रियों की प्रत्यक्ष प्रक्रिया को समझा जा सकता है। नैयायिक सम्मत समवाय सम्बन्ध को रामानुजाचार्य स्वीकार नही करते हैं। अन्य विभिन्न सम्बन्ध आधार आधेय, ससर्ग इत्यादि इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा अनुभूत होने वाले भिन्न सम्बन्धों के स्वरूप को निश्चित करते हैं।[3]

यह स्पष्ट होता है कि रामानुज दर्शन में सविकल्पक एवं निर्विकल्पक ज्ञान, दोनों स्वरूप से गुण युक्त एवं विविक्त हैं, क्योंकि वे पदार्थो के गुणो (विशिष्टता) को लक्ष्य करते है।[4] वेकटनाथ का मानना है कि नैयायिको द्वारा मान्य प्रथम क्षण मे निर्विकल्पक या अविशिष्ट ज्ञान की सत्ता का कोई प्रमाण एव साक्ष्य नही है, क्योंकि हमारा अनुभव इससे विपरीत है।

---

[1] निर्विकल्पम् च घटादेरनुल्लेखितानुवृत्ति धर्मघटत्वादि कतिपय विशेषण विशिष्टतयार्थावच्छेदकम् ज्ञानम् – नयद्युमणि।

[2] उल्लेखितानुवृत्यादि धर्मकानेक विशेषण विशिष्टतया साक्षाद्वस्तु व्यवछेदक ज्ञान सविकल्प–वही।

[3] अतस्तत् सम्बन्धात् वस्तुत उपाधितो व्यतिरेकणायर्थान्तराभावात् – वही।

[4] न्याय परिशुद्धि, पृ० 77

प्रत्यक्ष मे, दो प्रकार से इन्द्रिय–ससर्ग माने गए हे। विषय अथवा अर्थ से सम्बन्ध (सयोग) एव अर्थ के गुणो से इन्द्रिय ससर्ग (सयुक्ताश्रय)। घट से सम्बध प्रथम प्रकारक है तथा गुणो से सम्बन्ध द्वितीय प्रकारक।

सविकल्पक ज्ञान मे सस्कार, चक्षु एव अन्य इन्द्रियो के सम्बन्ध मे जाग्रत किए जाते है, तथा वे इन्द्रियो द्वारा दिये हुए पदार्थो के विश्लेषण एव एकीकरण, समीकरण एव पृथक्करण की अन्तरक्रिया उत्पन्न करने मे, तथा सविकल्पक ज्ञान मे होने वाले समान प्रत्ययो के पारस्परिक तुलना मे सहयोग देते हैं।

रामानुज दर्शन में प्रत्यक्ष का स्मृति से विभेद किया जाता है। इस प्रत्यक्ष को स्मृति से भिन्न करने वाला तथ्य यह है कि स्मृति, चित्र के केवल संस्कार जाग्रत होने से उत्पन्न होती है, जबकि निर्विकल्पक ज्ञान इन्द्रिय व्यापार के साथ कार्य करते हुए संस्कार से उत्पन्न होता है।[1] सविकल्पक ज्ञान मे जाग्रत किये गए सस्कार, इन्द्रियो के साथ सहचार करते है, तो भी सविकल्पक, योग्य रीति से, एक सम्पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञान ही कहा जा सकता है।

इस सम्प्रदाय मे यद्यपि भेद को एक स्वतन्त्र एव पृथक् तत्त्व नही माना जाता, तथापि वह जिन दो वस्तुओ के बीच भेद से प्रकट है, केवल उन दोनो वस्तुओ के पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा ही गृहीत होता है। यह ऐसा पारस्परिक सम्बन्ध है जिसमे एक को स्वीकार करना दूसरे को अस्वीकृत करना, यही भेद है।[2]

---

[1] स्मृताविव सविकल्पे सस्कारस्य न स्वातन्त्र्येण कारणतवम् येन प्रत्यक्षत्व न स्यात् किन्तु इन्द्रिय सहकारितया तथा चेन्द्रियजन्यत्वेन प्रत्यक्षम् एव सविकल्पम्–न्याय सार, पृ० 80

[2] यद् गृहो यत्र यदारोप विरोधी स हि तस्य तस्माद् भेद – न्याय परिशुद्धि, पृ० 86

वेकटनाथ, ने अद्वैत सम्मत उस निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का खण्डन किया है, जिसमे प्रत्यक्ष की सामग्री उपस्थित होते हुए भी ज्ञान, शास्त्र निर्देश के रूप मे अर्थात् नियम में, श्रवणेन्द्रिय के आधार पर किया जाता है। इस मत के निरासपूर्वक यह स्पष्ट करते है कि 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ का अनुभव, प्रत्यक्ष द्वारा आत्मा एव ब्रह्म की अन्निता का साक्षात् परिचय है।[1]

प्रत्यक्ष प्रक्रिया का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट होता है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का अर्थ निश्चयात्मक ज्ञान है जिसमे समान वस्तुओं की स्मृति का समावेश नहीं है। सविकल्पक ज्ञान, से उस निश्चयात्मक ज्ञान का तात्पर्य है जिसमें पूर्व कालीन स्मृति के सहचार का समावेश है।[2] यह अनुवृत्ति अथवा भूतकालीन स्मृति को लक्ष्य करना, केवल निश्चयात्मक ज्ञान का अर्थ नही प्रतिपादित करता अपितु पूर्व मे अनुभव किये गए अन्य समान पदार्थो के प्रति ज्ञानपूर्वक लक्ष्य करना है। सविकल्पक प्रत्यक्ष मे द्रव्य एव सम्बन्धत्व तथा सम्बन्धित गुणो के सकीर्ण (मिश्रण) बनाने वाले विशिष्ट गुणो का नेत्रो द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। किन्तु इसमे किसी जाति अथवा जातिवाचक प्रत्यय का ग्रहण नही होता। इस प्रकार सविकल्प एव निर्विकल्प मे समान रूप से नेत्रेन्द्रियॉ व्यापार करती है, किन्तु सविकल्प मे, पहले अनुभव किए गए अन्य समान पदार्थो को ज्ञानपूर्वक लक्ष्य किया जाता है। सर्वव्यापी अथवा जातिवाचक प्रत्यय, जो सविकल्प प्रत्यय मे ग्रहण होते है, स्वतन्त्र पृथक् पदार्थ नही है, बल्कि उन्हे केवल समान धर्मो का समीकरण माना जाता है।

---

[1] अतएव तत्वमसि आदि शब्द स्वविषयगोचर प्रत्यक्षज्ञानजनक. इत्याद्यनुमानानि निरस्तानि – न्या० परि० पृ० 89

[2] अनुवृत्ति विषयक ज्ञान।

रामानुजाचार्य गीता की अपनी टीका मे 'योगिप्रत्यक्ष' को भी एक स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं, किन्तु परवर्ती विशिष्टाद्वैतवादी वेकटनाथ ने उसका अन्तर्भाव प्रत्यक्ष मे ही माना है तथा कहा है कि रामानुजाचार्य ने इसे स्वतन्त्र इसलिए कहा था क्योकि वह प्रत्यक्ष के एक विशिष्ट रूप को प्रकट करता है।[1] परवर्ती अनुयायियों का मानना है कि योग द्वारा प्राप्त प्रत्यक्ष को ज्ञान का निरपेक्ष साधन स्वीकार नही किया जा सकता। प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय का विशेष क्षेत्र रखती है, तथा वह चाहे कितनी ही प्रशिक्षित क्यो न हो, अन्य इन्द्रियों के विषयो का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकती। श्रवणेद्रिय देखने का कार्य नहीं कर सकती, नेत्रेंद्रिय सुन नही सकती। यदि योग द्वारा प्राप्त प्रत्यक्ष इन्द्रियो के द्वारा कार्य करता है तो वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष से भिन्न नही है, तथा यदि सब प्रकार के अनुभव से स्वतन्त्र है तो यह अप्रामाणिक है।

अनुमान प्रमाण

अनुमान ऐसा ज्ञान है जो एक सामान्य सिद्धान्त से निकाला जाता है। वस्तुतः एक ही घटना सामान्य सिद्धान्त को सुलझाने वाली हो सकती है। एक से अधिक बार की घटनाए सदेह– निवारण मे सहायक होती है। तर्क के द्वारा अथवा परोक्ष प्रमाण द्वारा एव विधि–निषेधात्मक दोनो प्रकार की घटनाओ से गौण विषयो को हटाकर सामान्य नियम की स्थापना की जाती है।[2]

---

[1] विष्णु चित्त का मानना है–रामानुज तीन ही प्रमाण मानते है तथा 'योगि प्रत्यक्ष' 'प्रत्यक्ष' प्रमाण ही है।

[2] सर्वार्थ सिद्धि 4/47

रामानुजाचार्य सम्मत अनुमान नैयायिक मत के अनुरूप ही है। अनुमान परामर्श का सीधा परिणाम है, अथवा तर्क सम्मत ज्ञान की स्थिति है। तात्पर्य यह है कि शंका एवं संदेह रहित विशुद्ध विषय, जो अनुभव सम्मत है, अनुमिति है।[1] अनुमान एक प्रक्रिया है, जिसमें एक सामान्य (सर्वव्यापी) वाक्य से, जिसमे समस्त विशेष उदाहरणो का समावेश होता है, एक विशेष उदाहरण को स्वीकार करते है।[2] अनुमान उन्ही उदाहरणो के विषय मे होता है जिनके बारे मे सर्वव्यापी वाक्य, गोचर पदार्थो से उत्पन्न अनुभव के आधार पर सामान्य वाक्य प्रतिपादित किया गया हो। तथा वह अतीन्द्रिय विषयक न हो। इसी कारण रामानुज एवं उनके मतानुयायी ईश्वर की सत्ता को अनुमित नहीं करते क्योकि ईश्वर अतीन्द्रिय है।[3]

व्याप्ति सिद्धान्त के अनुसार, जो देश एव काल की मर्यादा में या तो बराबर है, अथवा दूसरे से न्यून है, व्याप्त या हेतु कहा जाता है, वह जो देश एवं काल की परिधि मे सम है या बडा है व्यापक या लिगी कहा जाता है।[4] किन्तु इस मत मे सभी प्रामाणिक व्याप्ति के उदाहरण नहीं आते। यथा–सूर्यास्त तथा समुद्र मे लहर उठना। इसी कारण उत्तरकालीन मतानुयायियो ने व्याप्ति की एक कठोर परिभाषा की है, 'जो निरूपाधिक रूप से नियत सम्बन्ध है, व्याप्ति है।'[5]

---

[1] परामर्श जन्य प्रमितिरनुमिति – रामानुज सिद्धान्त सग्रह

[2] परामर्श का अर्थ है, व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान सर्व विशेष सग्राही सामान्यव्याप्तिधीरपि विशेषानुमिति हेतु – न्याय परिशुद्धि, पृ० 97

[3] अतएव च वयम् अत्यतातीन्द्रिय वत्स्वनुमानम् नेच्छाम – न्याय परिशुद्धि, पृ० 97

[4] देशत कालतो वाऽपि समो न्यूनोऽविपा भवेत्। स्वव्याप्यो व्यापकस्तस्य समो वाप्यधिकोऽपि वा।।–न्याय परिशुद्धि, पृ० 100

[5] निरूपाधिकतया नियत सम्बन्धो व्याप्ति–न्याय परिशुद्धि।

उद्गम की रीति से सामान्यीकरण या व्याप्ति के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि व्याप्ति का प्रथम परामर्श, जो विश्वास उत्पन्न करने मे समर्थ है, वह सर्वव्यापी वाक्य (सामान्य) के प्रतिपादन करने के लिए पर्याप्त है।[1] तत्त्व रत्नाकर प्रतिपादित करते है कि जब जाति प्रत्यय (धूम धूमत्व) किसी भी एक उदाहरण से सम्बन्धित है (यथा धूम), तो धूम एव अग्नि की व्याप्ति के अनुभव का अर्थ यह होगा कि धूमत्व का अग्निमत्व (दाहकत्व) से व्याप्ति ज्ञान हो गया। इसलिए एक विशेष पदार्थ एव उसके जाति प्रत्यय के अनुभव से, उस जाति प्रत्यय से सम्बन्धित अन्य विशेष पदार्थों को भी जाना जा सकता है। किन्तु वेंकटनाथ का मानना है कि यह सभव नही है। वे कहते है कि व्याप्ति के विषय मे सामान्य वाक्य के प्रतिपादन के लिए व्याप्ति का विशद अनुभव आवश्यक है।

नैयायिक मत के विपरीत रामानुज मत मे 'केवल व्यतिरेकी अनुमान' को अस्वीकृत किया जाता है। रामानुज एवं वेंकटनाथ दोनो ही मानते है कि यामुनाचार्य द्वारा 'आत्मसिद्धि' के व्याख्यान मे 'केवल व्यतिरेकी अनुमान' को अस्वीकार करने से यह मान्य नही होता। 'केवल व्यतिरेकी अनुमान' का अन्तर्भाव 'अन्वय व्यतिरेकी' मे ही हो जाता है। यह तर्क उचित होगा कि देह, पृथ्वी जैसा है, क्योकि उसमे गन्ध है अतः जो गन्धवान है, वह पृथ्वी जैसा है, जिसमे गन्ध नही है, वह पृथ्वी जैसा नही है। यहाँ गन्धत्व का हेतु होना पृथ्वी जैसा का निश्चय करता है, तथा इसकी अनुपस्थिति भेद प्रकट करती है।

---

[1] सम्बन्धोऽय सकृद् ग्राहय प्रतीति स्वरसात्तथा। प्रतीतयो हि स्वरसाद् धर्माधर्म्यवधीन् विदु ।।—तत्व रत्नाकर – हस्तलिपि।

रामानुजाचार्य अनुमान के लिए तर्क की अनिवार्यता स्वीकार करते है। तर्क का तात्पर्य है परस्पर अपेक्षित सभावनाओ की बीच वैकल्पिक निष्कर्ष का ज्ञान।

अनुमान के अवयवो के विषय मे वेकटनाथ पाचो अवयवों को महत्वपूर्ण नही मानते हैं। यह अनुमान करने के प्रकार पर निर्भर करता है कि कितने अवयव आवश्यक होंगे। अनुमान करने के समय, दो, तीन, चार या पॉच कितने भी अवयव हो सकते है। 'तत्व रत्नाकर' मे माना गया है कि यद्यपि पूर्ण अनुमान के प्रतिपादन के लिए पॉच अवयव आवश्यक है, तो भी अनुमान के लिए अवयवों की सख्या के बारे मे कोई निश्चित नियम नही है।[1]

वेकटनाथ अनुमान को प्रत्यक्ष विषय में मर्यादित मानते है जो विषय इन्द्रियातीत हैं, वे अनुमान द्वारा ज्ञात नही हो सकते। किन्तु फिर भी अनुमान को प्रत्यक्ष का एक प्रकार नही माना जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त ज्ञान सदैव अपरोक्ष है। अनुमान स्मृति जन्य भी नही माना जा सकता, क्योकि अनुमान नवीन ज्ञान प्राप्त कराता है। उसे साक्षात्कार का प्रकार भी नही कहा जा सकता, क्योकि अनुमान चित्त के सस्कारों को जाग्रत करके कार्य करता है। ऐसे सस्कार प्रत्यक्ष मे भी क्रियाशील होते है तथा उनकी सादृश्यता के आधार पर प्रत्यक्ष को भी साक्षात्कार मानना पडेगा।

व्याप्ति उसे माना जाता है, जिसमे साध्य का क्षेत्र, देश एव काल की दृष्टि से, हेतु से, कम नहीं हो तथा हेतु, वह है जिसका क्षेत्र साध्य से कभी

---

[1] न्याय परिशुद्धि एव रामानुजसिद्धान्त सग्रह।

भी अधिक नही है।[1] (कभी–कभी देश एव काल मे पृथक् वस्तुओ मे भी साहचर्य पाया जाता है, यथा ज्वार भाटा एव सूर्य चन्द्र का सम्बन्ध।[2])

हेतु एव साध्य के बीच ऐसी व्याप्ति अनेक उदाहणो के निरीक्षण के द्वारा ही ग्रहण की जा सकती है (भूयोदर्शनगम्य) एक उदाहरण द्वारा नही, 'तत्वरत्नाकर' में व्याप्ति ग्रहण करने के व्यापार को समझाते हुए कहा गया है कि जब हेतु एव साध्य की व्याप्ति प्रचुर उदाहरणों मे देखी जाती है तब ऐसे निरीक्षणो का परिणाम साध्य एवं हेतु के समस्त उदाहरणो की सार्वभौम व्याप्ति के पक्ष मे, सस्कार रूप से सगृहीत होता है, एव तब व्याप्ति निरीक्षण का अन्तिम उदाहरण चित्त मे, समस्त साध्य एवं सभी हेतुओ का विचार, पहले अंकित हुए सस्कारों की जागृति की सहायता से उत्पन्न करता है। जहॉ निषेधात्मक उदाहरण अप्राप्त हैं, वहॉ वेंकटनाथ व्यतिरेकी तथा केवलान्वयी विधि से व्याप्ति मानते है।

सामान्यत व्यतिरेकी विधि द्वारा यह सिद्ध किया जाता है कि प्रत्येक घटना, जिसमे साध्य नही है, उसमें हेतु भी नहीं है। किन्तु 'केवलान्वयी व्याप्ति' मे निषेधात्मक उदाहरण अप्राप्त होते है। केवलान्वयी व्याप्ति की प्रमाणता इससे सिद्ध है कि हेतु परिवर्तित रहते है तो विपरीत साध्य की पूर्वमान्यता व्याघातक होती है।[3]

रामानुजाचार्य ने अनुमान के प्रकार के बारे में निश्चित विचार व्यक्त नही किये है। उनके अनुयायियो ने ही अनुमान का भिन्न–भिन्न प्रकार से

---

[1] अन्यूनदेशकालवृत्ति व्याप्ति, अनधिगतदेशकालनियत व्याप्यम् – न्याय परिशुद्धि
[2] वेकट नाथ व्याप्ति की परिभाषा देते है –'अत्रेद तत्त्व यादृग् रूपस्ययद् देशकालवर्तिनोयस्य या दृग् रूपेण यद् देशकालवर्तिना येनाविनाभाव तद् इदम् अनिनाभूत व्याप्यम् तत् प्रति सम्बधिव्यापकम् इति–न्याय परिशुद्धि, पृ० 101-102
[3] व्याहत साध्य विपर्ययात्।

वर्गीकरण किया है। मेघनादरि अनुमान का वर्गीकरण तीन प्रकार से करते है–

(1) कार्य से कारण – कारणानुमान,

(2) कारण से कार्य – कार्यानुमान

(3) मानसिक सहचार से अनुमान – अनुभवानुमान।[1]

भट्‌टारक गुरू तथा वरदविष्णु मिश्र ने तीन प्रकार के अनुमान माने है।

(1) अन्वयी (2) केवलान्वयी (3) केवल व्यतिरेकी

वेंकटनाथ ने केवल व्यतिरेकी अनुमान का खण्डन किया है। उनका मानना है कि केवल निषेधात्मक व्याप्ति से कोई अनुमान नही प्राप्त किया जा सकता।

अनुमान की प्रमाणता इस पर निर्भर है कि हेतु 'सपक्ष' मे रहना चाहिए। वे सब उदाहरण जिनमे साध्य है, सपक्ष है। वेकटनाथ के अनुसार रामानुज एव उनके गुरू यामुनाचार्य ने भी केवल व्यतिरेकी अनुमान स्वीकार नही किया है।

शब्द प्रमाण

अनुमान के अतिरिक्त शब्द या शास्त्र प्रमाण स्वीकार किया जाता है। रामानुजाचार्य धर्मशास्त्र की प्रामाणिकता को स्वीकार करते है। सर्वोच्च यथार्थ सत्ता, जो जगत् का एकमात्र कारण है, ज्ञान के अन्य साधनो का विषय नही हो सकती, किन्तु केवल शास्त्रो द्वारा ही जानी जा सकती है।[2]

---

[1] यथा, कृतिका नक्षत्र से रोहिणी के उदय का अनुमान।

[2] श्री भाष्य 1/2/1

ब्रह्म प्रत्यक्ष का विषय नही है।[1] अनुभव द्वारा प्राप्त कोई भी व्याप्ति न तो ब्रह्म की यथार्थता को सिद्ध कर सक्ती है, न ही उसे असिद्ध कर सकती है।[2] अतीन्द्रिय विषयो का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमारे पास धर्मशास्त्र ही एकमात्र साधन हैं, यद्यपि शास्त्र के समर्थन मे तर्क का उपयोग किया जा सकता है।[3] वेद नित्य है, क्योकि प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ मे केवल ईश्वर ही उनका व्याख्यान करते हैं। स्मृतियॉ एव महाकाव्य वेदो के अन्तर्गत विचारो का ही भाष्य करते है, एवं इसलिए वे भी प्रामाणिक है। पाँचरात्र आगमों को भी प्रामाणिक माना जा सकता है, क्योकि उनकी उत्पत्ति दैवीय शक्ति वासुदेव से हुई है।[4] ऐतिह्य अथवा परम्परा यदि वे सत्य है तो वे भी आगमज्ञान का विषय है, एवं यदि मिथ्या हैं तो आगमाभास है।

रामानुजाचार्य मानते हैं कि विचार स्वय ही यथार्थता का साक्षात् ज्ञान नही करा सकते। यहाँ तक कि वेदो द्वारा भी परोक्ष ज्ञान ही प्राप्त होता है। केवल शास्त्रो के शब्दो समझ लेने से भी कुछ अधिक की आवश्यकता होती है।

अन्य प्रमाणों का निरूपण

यद्यपि स्वय रामानुजाचार्य ने तीन ही प्रमाण–प्रत्यक्ष, अनुमान एव शब्द माने हैं, तथापि उनके अनुयायियों मेघनादारि इत्यादि ने कुछ अन्य प्रमाणो को भी स्वीकार किया है।

---

[1] श्री भाष्य 1/1/3

[2] श्री भाष्य 1/2/23

[3] श्री भाष्य 1/2/12 एव सिद्धित्रय पृ० 88

[4] तत्वमुक्ताकलाप 4/121

मेघनादारि उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानते है। उनके अनुसार उपमान वह प्रमाण है जिसके द्वारा प्रत्यक्ष पदार्थ का अप्रत्यक्ष प्रदार्थ के साथ सादृश्य का ज्ञान किया जा सकता है, जबकि अप्रत्यक्ष का प्रत्यक्ष के साथ सादृश्य का ज्ञान पूर्व प्राप्त है। इस प्रकार जब किसी को यह ज्ञान है कि अनुभूत गाय गवय सदृश होती है तथा वह गवय को देखता है तो तुरन्त ही विचार करता है कि जो गाय, इस समय नही है, वह अभी दिखाई देने वाले गवय के सदृश ही है। मेघनादारि के अनुसार यह ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा नही हुआ, क्योंकि गाय देखने वाले के समक्ष नही है, स्मृतिजन्य भी नहीं हुआ, क्योकि सादृश्य का ज्ञान, गाय की स्मृति के पूर्व ही उदय हो चुका था। भेद के लिए कोई पृथक् प्रमाण मानने की आवश्यकता नही मानी जाती क्योकि भेद का ज्ञान, सादृश्य का निषेध मात्र है। उक्त उपमान का यह निरूपण न्यायमत से भिन्न है क्योकि न्यायमत मे सादृश्य के आधार पर शब्द का पदार्थ से सम्बन्ध माना गया है। किन्तु मेघनादारि के अनुसार इसे प्रत्यभिज्ञा के व्यापार द्वारा समझाया जा सकता है।

अर्थापत्ति को भी एक पृथक् प्रमाण माना गया है। अर्थापत्ति को साधारणतया निहितार्थ शब्द से अनुदित किया जाता है जहॉ प्राक्कल्पना का, निरीक्षण की नई अनुभूत घटना समझाने के लिए, चित्त पर लाने का आग्रह होता है। इसे अनुमान का प्रकार नहीं माना जा सकता क्योकि इसमें एक स्थान पर अस्तित्व रखती हुई वस्तु का न होना, उसका कही अन्य स्थान पर होना ही है। इस प्रकार मेघनादारि अर्थापत्ति को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानते है किंतु अन्य आचार्य नही।

तत्वविवेचन मे ज्ञान मीमांसा की उपयोगिता

रामानुजाचार्य स्वीकार करते है कि विचार स्वय मे यथार्थता का साक्षात् ज्ञान नहीं करा सकते। यहॉ तक कि वेद भी हमे केवल परोक्ष ज्ञान ही प्रदान करते हैं ज्ञान के लिए केवल शास्त्रों के शब्दो को समझ लेने से भी कुछ अधिक की आवश्यकता होती है। यथार्थता का साक्षात्कार जो इसका तर्क सिद्ध ज्ञान नही है, ऐसी समाधि मे ही सम्भव है जो भक्ति का रूप धारण करती हो।[1] इस उच्चतम ज्ञान मे आत्मा के अपरिज्ञानशील तत्व भी सम्मिलित है। सत्य का यथार्थ रूप में अनुभव करने के लिए मन को अपने समस्त साधनो का प्रयोग करना चाहिए तथा जीवन के उच्चतर स्तर पर कार्य करना चाहिए।

रामानुजाचार्य का मत है कि ज्ञान के स्वरूप में एक अन्तर्निहित आवश्यकता कार्य करती है यही आवश्यकता निर्विकल्पक बोध को सविकल्पक बोध मे परिणत होने योग्य बनाती है। जब ज्ञान अपनी उच्चतम अवस्था मे होता है, अर्थात् जब वह लक्ष्य तक पहुॅच जाता है, तब हमें एक मात्र व्यवस्थित अनुभव प्राप्त हो जाता है, जिसके अन्तर्गत अनेक भाग अपने व्यापारो सहित सम्मिलित होते है। मोक्ष प्राप्त कर लेने पर जीवात्मा निर्दोष ज्ञान के आदर्श को प्राप्त कर लेता है।

समीक्षा

शकराचार्य का ईश्वर निरपेक्ष एव बौद्विक होने से साधारण उपासको के प्रति उदासीन था। अत रामानुजाचार्य ने अपना ध्यान जीव, जगत् एव ईश्वर के सम्बन्धो पर केन्द्रित किया। उन्होने निर्गुण ब्रह्मवाद एव सगुण ईश्वरवाद मे सरस सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। यद्यपि यह प्रयास नवीन नही था।

[1] श्री भाष्य 3/2/23

भागवतगीता एव पुराणो म यह निरन्तर हो रहा था, इसक अतिरिक्त दक्षिण म आळवार सन्तो एव यामुनाचार्य प्रभृति आचार्यो ने यह परम्परा गतिशील बना रखी थी। किन्तु रामानुजाचार्य का महत्वपूर्ण योगदान इनको सैद्धान्तिक एव दार्शनिक रूप मे समाज के समक्ष उपस्थित करना है। रामानुजाचार्य का मत उनके पूर्ववर्ती तथा परवर्ती विद्वानो की अपेक्षा कही अधिक दार्शनिक तथा सयत प्रतीत होता है। उनका मुख्य उद्देश्य भक्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्ति के सिद्धान्त का प्रचार करके उपनिषदो, गीता एव ब्रह्मसूत्र की शिक्षाओ का जनमानस मे प्रचार करना तथा सभी के लिए सुग्राह्य बनाना था। इसके लिए आचार्य ने भक्ति के साथ–साथ 'प्रपत्तिमार्ग' का भी प्रणयन किया।

रामानुजाचार्य के सिद्धान्त का आरभ मुख्यत शकराचार्य के अविद्या के खण्डन से माना जा सकता है। रामानुज शंकर के मायावाद एव जगत् के मिथ्यात्व का बलपूर्वक विरोध करते है। इसके लिए उन्होने सात आक्षेप किये है, जिन्हे 'सप्तानुपपत्ति' कहा जाता है। कुछ विद्वानो का विचार है कि ये सप्तानुपपत्ति माया अथवा अविद्या का सही अर्थ न समझने के कारण है। वे माया अथवा अविद्या को वस्तु मान रहे है एव उसके लिए आश्रय एव प्रमाण चाहते है।[1] इस प्रकार से मानते हुए अद्वैत मत एव विशिष्टाद्वैत मत मे परस्पर आक्षेप–प्रतिक्षेप होते रहे है।

रामानुजाचार्य ने अविद्या का खण्डन करते हुए कहा है कि अविद्या असम्भव है क्योकि उसका कोई आश्रय होना चाहिए, ब्रह्म आश्रय नही हो सकता क्योकि स्वप्रकाश चैतन्य होने से वह अविद्या का विरोधी है।

रामानुजाचार्य के अनुसार जगत् यथार्थ है, माया जनित अथवा भ्रमात्मक नही। यह जगत् चिदचित् का मिश्रण है। इसी के सन्दर्भ मे आचार्य शकराचार्य के 'मायावाद' एव 'अनिर्वचनीय ख्यातिवाद' का विरोध करते है, साथ ही आचार्य

---

[1] भारतीय दर्शन आलोचन एव अनुशीलन – चन्द्रधर शर्मा ,पृ0 311

रामानुज ने ब्रह्म की शुद्ध चैतन्य रूप अद्वय सत्ता न मानकर चित् एव अचित विशिष्ट ब्रह्म को स्वीकार किया है।

रामानुजाचार्य ज्ञान के स्वत प्रामाण्य को स्वीकार करते है। ज्ञान की स्वत प्रमाणता उस अर्थ को लक्ष्य करती है, जो ग्रहण किये गए विषयो से निश्चित होता है। स्वत प्रमाणता स्वीकार करने पर किसी भी अनुभव के बारे मे शका नहीं की जा सकती। यद्यपि ये विषय सामान्य विश्वास उत्पन्न करते है, तथापि ये विशेष दशा मे भ्रम का निष्कासन नही करते।

दर्शन शास्त्र मे भ्रम के सिद्धान्त के ख्यातिवाद कहा जाता है। इस सन्दर्भ मे रामानुजाचार्य सत्ख्यातिवाद को प्रवर्तक है अर्थात् सभी ज्ञान सत्य ही हैं, भ्रम नही होते।[1] क्योकि ये जगत् को भी यथार्थ मानते है। इस पक्ष मे उन्होने पञ्चीकरण का सिद्धान्त भी प्रस्तुत किया।[2]

रामानुजाचार्य ने स्वप्न ज्ञान को भी सत्य ज्ञान कहा है। उनका मानना है कि स्वप्न ज्ञान के विषय सत्य होते है। इस प्रकार श्रुति से उद्धरण लेते हुए आचार्य ने मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त प्रस्तुत किये है। वे पीतशख, जपाकुसुम इत्यादि को भी स्वीकार करते है। रामानुजाचार्य का सत्ख्यातिवाद जितना यथार्थ से सम्पुष्ट है, उतना ही व्यवहार के समीप है। उनका मानना है कि जब तक ज्ञान पूर्ण विकासावस्था को प्राप्त नही करता, तब तक ही भ्रम रहता है। रामानुजाचार्य भ्रम की पुष्टि 'यथार्थ सर्वविज्ञानम्' के आधार पर करते है।

रामानुजाचार्य ज्ञान मे ज्ञाता एव ज्ञेय दोनो का अस्तित्व निहित मानते है। आचार्य ज्ञान को एक पृथक् तत्व, तृतीय तत्व के रूप मे मानते है जो जड एव चेतन दोनो से व्यतिरिक्त है। ज्ञान मात्र मनस् द्वारा अथवा किसी ज्ञानेन्द्रिय से

---

[1] वेदार्थपारिजात – पृ0 88
[2] मायावाद एव रामानुज – डा0 विजय प्रताप सिह , पृ0 82

प्रभावित मनस् के द्वारा प्रवाहित होता है। जीव एव ईश्वर का ज्ञान धर्मिभूत ज्ञान कहा जाता है। आत्मा ज्ञानरूप एव ज्ञानाश्रय है किन्तु ज्ञान स्वरूप नही।

ज्ञान की स्वप्रकाशता के सम्बन्ध मे रामानुज नैयायिक, वैभाषिक एव भाट्ट मीमासको का प्रत्याख्यान करते है क्योकि वे ज्ञान को पर प्रकाश मानते है जबकि वेदान्त दर्शन ज्ञान को स्व प्रकाश एव स्व प्रामाण्य मानता है। वे बौद्धो का भी खण्डन करते हैं जो ज्ञान को क्षणिक मानते है।

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त यथार्थ ज्ञान की उपलब्धता के लिए तीन मुख्य प्रमाणो को मानता है– प्रत्यक्ष, अनुमान एव शब्द। वे मानते है कि प्रमाण का अन्तिम निश्चय प्रमा अथवा यथार्थ ज्ञान द्वारा ही है। श्रीनिवास प्रमाण की व्याख्या करते है कि 'यथार्थ ज्ञान की तात्कालिक एव ऐकान्तिक कारण की पूर्ववर्ती स्थिति के फलस्वरूप समस्त कारणो मे सबसे विशिष्ट उपकरण 'प्रमाण' है।'

शकर मतानुयायी भी 'प्रमाण' का प्रमा का कारण मानने मे एकमत है। किन्तु न्याय दर्शन के विपरीत रामानुज मत मे कारण एवं करण मे भेद माना जाता है। जो कार्य उत्पन्न करने वाले व्यापारों से, अतिशय रूप से एव साक्षात् सम्बन्धित है, वह कारण है, तथा जो ज्ञान का विशेष साधन है, वह 'करण' है। रामानुजाचार्य के अनुसार ज्ञान अनेक कारण तत्वो का कार्य माना गया है जिसमे प्रत्यक्ष ज्ञान मे इन्द्रियॉ साक्षात् एव नियत रूप से कार्य करती है। प्रत्यक्ष का विषय वह है जो भेद के द्वारा प्रतीत होता है एव जिसमे सामान्य लक्षण, (जिनसे उसकी आकृति का निर्माण होता है,) विद्यमान होता है।

रामानुजाचार्य सविकल्पक एव निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के भेद को स्वीकार करते है। वे गीता भाष्य मे 'योगि प्रत्यक्ष भी स्वीकार करते है' किन्तु परवर्ती मतानुयायियो ने इसका अन्तर्भाव प्रत्यक्ष मे ही स्वीकार किया है।

विशिष्टाद्वैत दर्शन 'स्मृति ज्ञान' को प्रामाणिक मानता है एव इसे एक पृथक स्थान देता है।

रामानुजाचार्य मान्य, अनुमान, प्रमाण, बहुत कुछ नैयायिक मत से साम्य रखता है। 'अनुमान' परामर्श का सीधा परिणाम है, अथवा तर्क सम्मत ज्ञान की स्थिति है। यह एक प्रक्रिया है जिसमे एक सामान्य (सर्वव्यापी) वाक्य द्वारा समस्त विशेष उदाहरणो का समावेश रहता है। अवयव घटित वाक्य मे तीन अवयव होते है अर्थात् न्याय के पचावयव घटित वाक्य के प्रथम तीन या अतिम तीन। यह अद्वैत वेदान्ताभिमत अनुमान से साम्य रखता है।

उपमान प्रमाण को विशिष्टाद्वैतवादी नही मानते क्योकि या तो इसका स्मृति मे अन्तर्भाव होता है, अथवा अनुमान मे। 'अर्थापत्ति' एव 'सम्भव' भी अनुमान की कोटि मे मान्य है।

रामानुजाचार्य शब्द अथवा श्रुति प्रमाण को विशेष महत्व देते है। उनके मतानुसार सर्वोच्च सत्ता ईश्वर, ज्ञान के अन्य साधनो का विषय नही हो सकती, केवल शास्त्रो (श्रुति वाक्य) द्वारा ही जानी जा सकती है। आचार्य स्मृति, चार वेदो तथा आगम शास्त्र (तमिल प्रबन्ध) को श्रुति प्रमाण मानते है।

ये सभी प्रमाण मात्र परोक्ष ज्ञान ही प्रदान करते है। यथार्थता के साक्षात्कार के लिए इनसे कुछ अधिक की आवश्यकता होती है, वह है ईश्वर की कृपा, जो 'भक्ति' द्वारा प्राप्य है।

रामानुजाचार्य का मानना है कि सत्य का यथार्थ रूप मे अनुभव करने के लिए मन को अपने समस्त साधनो का प्रयोग कर अपने जीवन के उच्चतर स्तर पर कार्य करना चाहिए। मन अपने पूर्णतम विस्तार मे तर्क तथा भावना दोनो से आवृत्त रहता है। किन्तु ब्रह्म अथवा ईश्वर का ज्ञान साक्षात् है तथा इन्द्रियो के ऊपर निर्भर नही है। इसके लिए रामानुज 'भक्ति' एव 'प्रपत्ति' का प्रावधान बताते है।

चतुर्थ अध्याय

द्वैताद्वैत सम्प्रदाय

निम्बार्काचार्य के दर्शन मे रामानुजाचार्य की भाति ही तीन तत्त्वो की सत्ता मानी गयी है चित्, अचित् एव ईश्वर अथवा परब्रह्म। किन्तु निम्बार्क दर्शन इन्हे विशेषण–विशेष्य सम्बन्ध के आधार पर नही स्वीकार करता, अपितु ब्रह्म को जीव एवं जड जगत् से एक साथ भिन्न एव अभिन्न मानकर द्वैतवाद एव अद्वैतवाद के बीच सामञ्जस्य स्थापित करता है। इसलिए इस दर्शन को द्वैताद्वैत एव भेदाभेदवादी सिद्धान्त कहा जाता है। चित् एव अचित् ईश्वराश्रित है, इसलिए दोनो मे अभेद है, तथा ईश्वर पूर्ण चेतन एव सर्वज्ञ है, जीव अल्पज्ञ, अणु है इसलिए इनमे भेद भी है।

इसे 'स्वाभाविक भेदाभेदवाद' मानने का मुख्य कारण है कि यह दर्शन जीव एव जड जगत् से अध्यास अथवा मान्यता के कारण नहीं, अपितु उसके विलक्षण चैतन्य स्वरूप के कारण जड एव चेतनयुक्त जगत् से एक साथ भिन्नता एव अभिन्नता मानता है।

निम्बार्क दर्शन शुद्धद्वैतवाद पर आक्षेप करता है कि इनका मत मानने पर ब्रह्म को केवल निश्चयात्मक कारण ही मानना पडेगा, जिससे समस्त श्रुतिपाठ, जो ब्रह्म को उपादान कारण मानते है या ब्रह्म का समस्त जीवो से तादात्म्य करते है, उन्हे अमान्य मानना होगा। केवलाद्वैतवाद पर भी आक्षेप किया गया है कि यह मत भी समीचीन नही है। परमसत्ता के रूप मे, शुद्ध भेद रहित, निगुर्ण चैतन्य प्रत्यक्ष योग्य नही होगा, क्योकि वह इन्द्रियातीत है। उसे अनुमान द्वारा भी नहीं ग्रहण किया जा सकता, क्योकि वह विशिष्ट लिग रहित हैं। शब्द प्रमाण द्वारा भी नही जान सकते, क्योकि वह शब्दातीत है। तर्क द्वारा भी इसे सिद्ध नही किया जा सकता, क्योकि जो कुछ भी तर्क सिद्ध है, वह मिथ्या है। किन्तु यदि किसी प्रमाण द्वारा सिद्ध नही मानेगे तो वह शशविषाण की भाति होगा एव यदि यह माने कि ब्रह्म के स्वप्रकाश होने से उसे सिद्ध करने के लिए प्रमाणो की आवश्यकता नही है, तो ब्रह्म का

स्वरूप वर्णन करने वाली श्रुतियॉ व्यर्थ होगी। अतएव वे मध्यम मार्ग अपनाते है।

निम्बार्काचार्य का ब्रह्म अपूर्ण नही अपितु असख्य जीवो एव जड जगत् मे विभक्त होता हुआ भी पूर्ण एव शुद्ध है। वह जीव का उपादान एव निमित्तकारण है। श्रीनिवासाचार्य 'ब्रह्मसूत्र निम्बार्क भाष्य' की टीका मे स्वीकार करते है कि जीव के सभी व्यापार एव उनका अस्तित्त्व भी ब्रह्म पर इस अर्थ मे अवलम्बित है कि ब्रह्म सभी का उपादान एव निमित्तकारण है।

चित् को जीव स्वरूप बताते हुए इन्द्रिय निरपेक्ष जीव को इन्द्रियो की सहायता के बिना ही विषय ज्ञान से समर्थ स्वीकार किया गया है, क्योकि ज्ञान, स्वरूप, प्रज्ञानघन, स्वय ज्योति एव ज्ञानमय है। निम्बार्काचार्य 'वेदान्त पारिजात सौरभम्' मे जीव एव उसके ज्ञान मे धर्मिधर्मभाव स्वीकार करते है। जीव एव उसका ज्ञान इन दोनो के ज्ञानत्व विषय मे भेद न होने पर भी जीव धर्मी तथा ज्ञान उसका धर्म है। अर्थात् जीव का स्वरूपभूतज्ञान एव गुणभूतज्ञान, ज्ञानरूप से अभिन्न है। परन्तु धार्मिधर्मभाव से दोनो भिन्न भी है।

महत् से लेकर महाभूत पर्यन्त जगत् प्राकृत् है। यह प्रकृति स्वतन्त्र न होकर ईश्वर के द्वारा नियन्त्रित है। प्रकृति अथवा प्रधान को निम्बार्काचार्य रामानुज की भाति ही 'माया' पद से विवेच्य करते हैं। अप्राकृत तत्त्व शुद्ध सत्त्व एव नित्य विभूति है।

ज्ञान का स्वरूप

निम्बार्क मतानुयायी आत्मा को शुद्ध चैतन्य ज्ञाता मानते हैं। 'ज्ञान' आत्मा का धर्म है तथा इसके लिए वृत्ति की आवश्यकता नही है। प्रत्यक्ष, अनुमान इत्यादि ज्ञान अहकार से सयुक्त होने के कारण भ्रम रूप होते है, वस्तुत· नही। जिस प्रकार सूर्य प्रकाश एव प्रकाश का स्रोत दोनो है, उसी भाति आत्मा ज्ञान एव ज्ञाता दोनो है। इन्द्रियो के व्यापार पूर्वक आत्मा वाह्य

पदार्थ से सन्निकर्ष करके उनका ज्ञान प्राप्त करता है किन्तु सुषुप्तावस्था आदि मे इन्द्रियो के कार्य व्यापार विरत रहने के कारण उसे वाह्य जगत् का ज्ञान नहीं रहता। निम्बार्काचार्य ज्ञातृत्व को आत्मा का धर्म मानते है किन्तु अद्वैतवादियो की भाति प्रतिबिम्बात्मक नही। वे इस प्रतिबिम्बवाद का खण्डन करते है तथा कहते है कि प्रतिबिम्ब दो दृश्य वस्तुओ के बीच नही हो सकता, तथा शुद्ध चैतन्य एव अन्त करणवृत्ति दोनों दृश्य वस्तुएँ भी नही है।

आत्मा अह का अनुभव अपरोक्ष रूप से करता है 'अह' अनुभव आत्मा के स्वरूप का निरन्तर प्रकटीकरण है। आत्मा को 'अह' अनुभव मे अभिव्यक्त ही नहीं अपितु उसके ज्ञान से भी अभिन्नता मानी जाती है। मुक्तावस्था मे भी यह अनुभव निरन्तर रहता है, तथा भगवान भी अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता में अपनी अहकारातीत अवस्था मे स्वचैतन्य रहते है।

निम्बार्कमतवादी 'जगत् का ज्ञान से लय होना' इस वाक्य द्वारा जगत् के मिथ्यात्व को अनुमित हुआ नहीं मानते हैं। ज्ञान मिथ्या ज्ञान का नाश नही करता क्योंकि ज्ञान, स्वय के सदृश्य, 'अभाव' का नाश करता है। एक पदार्थ का ज्ञान किसी दूसरी वस्तु के ज्ञान से निवृत्त किया जा सकता है। संस्कार, प्रत्यभिज्ञा से हटाए जा सकते है। केवल ब्रह्म ज्ञान द्वारा नही अपितु ब्रह्म स्वरूप के ध्यान से जगत् की वस्तुओ के विषय मे मिथ्या विचारो की निवृत्ति होती है।

माधव मुकुन्द का मानना है कि यदि सभी पदार्थ ब्रह्म पर अध्यस्त है तो उनके ज्ञान के साथ ब्रह्म का ज्ञान भी होगा अर्थात 'ब्रह्मज्ञान' भी 'अध्यास' ही माना जायगा।

अद्वैतमत मे आत्मा को शुद्ध ज्ञान माना गया है, जिसमे ज्ञातृ–ज्ञेय–भाव नही हैं, किन्तु ज्ञातृ–ज्ञेय भाव न होने पर वह ज्ञान किस प्रकार होगा, क्योकि 'ज्ञान' को विषय का प्रकाशक माना गया है। यदि ज्ञान

आत्मा से अभिन्न माना गया है तो प्रमा होगा अथवा अप्रमा ? प्रमा माने तो वह अज्ञान को भी प्रकाशित करेगा आर यदि अप्रमा है तो किसी दोषवश होगा। किन्तु आत्मा मे कोई दोष नही होता। और यदि वह न प्रमा है, न अप्रमा तो वह ज्ञान होगा ही नही। पुन. यदि जगत् प्रपञ्च भ्रम है, जैसा कि अद्वैत मत का मानना है, तो वह ब्रह्म पर अध्यस्त होगा। यदि ब्रह्म अध्यास का अधिष्ठान है तो वह एक पदार्थ मात्र होगा, ज्ञान नही। किन्तु ब्रह्म कोई पदार्थ नही, जिसका सामान्य अथवा विशेष रूप से ज्ञान हो। इसलिए ब्रह्म इस अध्यस्त जगत् का अधिष्ठान भी नही माना जा सकता।

निम्बार्क मतानुयायी समस्त ज्ञान को स्वय में सत्य मानते है तथा उनमे दूसरे ज्ञान को नष्ट करने की क्षमता होती है। एक विशेष पदार्थ के रूप में एक ज्ञान दूसरे ज्ञान को नष्ट कर सकता है। स्वप्न भी ईश्वर द्वारा निर्मित सत्कृतियॉ है, मिथ्या आरोपण नहीं।

भ्रान्ति का स्वरूप

निम्बार्क दर्शन शकराद्वैत सम्मत मायावाद का विरोध करता है। शंकर के मायावाद मे यह मान्यता निहित है कि भ्रम के अधिष्ठान का अपूर्ण एव खण्डज्ञान होता है। भ्रम मे अज्ञान भाग पर विशिष्ट भागो का अध्यास होता है।

निम्बार्क मातानुयायी इस मत का निराकरण करते है। वे कहते है कि ब्रह्म मे विभागो की कल्पना नही की जा सकती। वह अखण्ड है, तथा उसका पूर्ण रूप से ज्ञान होता है। भ्रामक 'अध्यास' का तात्पर्य है कि भ्रम का अध्यास किसी पदार्थ पर नही किया जाना चाहिए।

वे अविद्या को नही मानते क्योकि वह अनादि होते हुए स्वयं भ्रम है। ब्रह्म अनादि तो है, किन्तु वह आभास नही हो सकता। ब्रह्म अधिष्ठान तो है किन्तु भ्रम का मूल भी है। अतएव अद्वैतवादी भ्रम की मान्यता गलत है। पुन.

अद्वैतवादी मानते है कि भ्रम सस्कार व्यापार के कारण होता है, किन्तु अनादि विश्व प्रपञ्च मे सस्कार भी अनादि एव अधिष्ठान के साथ अस्तित्व रखने वाले है इसलिए वे सत् है।

निम्बार्क दर्शन का मत है कि ब्रह्म से सहयोग करके जगत् प्रपञ्च को उत्पन्न करने वाला कोई भी 'अज्ञान' रूपी सिद्धान्त अमान्य ही है। अज्ञान जीव या आत्मा का गुण है जो ब्रह्म से स्वरूपत भिन्न है किन्तु वे उसके सम्पूर्ण रूप के अधीन है। जीव उसके ब्रह्म के शाश्वत अग है, अणुरूप है। केवलाद्वैतवादियों का मानना है कि मिथ्या प्रत्यक्ष, मिथ्याज्ञान एवं भ्रम उत्पन्न होने का कारण आत्म एवं अनात्म पदार्थो के सत् स्वरूप मे अविवेक के कारण भेद ग्रह न कर सकने की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। वे इस शुद्ध चैतन्य को 'अहं' द्वारा लक्षित करते है। लेकिन यदि 'अह' अनुभव द्वारा लक्षित वस्तु को शुद्ध चैतन्य मान लिया जाए तो यह अहं का धर्म हो जाएगा, जिससे निम्बार्क मतानुयायी सहमत है किन्तु शंकर मतवादी इसका पूर्णत विरोध करते हैं। मिथ्या स्वीकार करने पर तो भ्रम स्थान मे अह अनुभव मानना पडेगा, तथा अन्योन्याश्रय दोष की प्रसक्ति होगी। इसलिए केवलाद्वैतवादी अध्यास को अनादि बताते हैं। किन्तु भ्रम को अनादि मानना ही मिथ्या है। भ्रम पूर्व प्रमाणित ज्ञान संस्कारो के व्यापार द्वारा ही सभव है। इसलिए शुद्ध चैतन्य का अज्ञान में प्रतिबिम्बित होना असम्भव है। वस्तुतः भ्रम सन्निकर्ष का कारण इन्द्रिय दोष, सस्कार व्यापार इत्यादि विशेष भौतिक परिस्थितियॉ है।

सत्ख्यातिवाद

शकर मतानुयायियों का मानना है कि यह 'माया' अनिर्वचनीय है। वे इसका अर्थ कहते है कि जो प्रत्यक्ष मे दिखे तथा उसका अनन्तर में बाध हो। शकर मतानुयायी मिथ्या अथवा अज्ञान के रूप मे इसकी व्याख्या करते है, माया में सत्–असत् को जो एकत्व है, वही उसकी अनिर्वचनीयता मानी

जाती है। किन्तु निम्बार्क मतानुयायी अनन्तराम का मानना है कि बाध होना अभाव का अर्थ नही रखता। एक विशेष पदार्थ के रूप मे, यथा दण्ड प्रहार से एक घट नष्ट किया जा सकता है, उसी प्रकार एक ज्ञान दूसरे ज्ञान को नष्ट कर सकता है। इसलिए पूर्व ज्ञान का उत्तर ज्ञान से बाध पहले का मिथ्यात्व या अनस्तित्व समाविष्ट नही करता। सभी ज्ञान स्वय मे सत्य है, जो कि उनमें से दूसरे को नष्ट कर सकते है। निम्बार्क मतानुयायी इसे ही 'सत्ख्यातिवाद' कहते है। उनके अनुसार 'सत्ख्कातिवाद' का तात्पर्य है किसी भी ज्ञान (ख्याति) किसी सत् पदार्थ से उत्पन्न हुए है, इसलिए मिथ्या ज्ञान का मूल कारण कोई अस्तित्ववान् पदार्थ होना चाहिए। यह मानना मिथ्या ही है कि मिथ्या या अस्तित्व विहीन वस्तु प्रभाव उत्पन्न कर सकती है। जिस प्रकार भ्रम रुप काला नाग कष्ट नही देता किन्तु सत् सर्प की स्मृति उसके प्रति भय उत्पन्न कराती है। इसी प्रकार मिथ्या जगत् प्रंपञ्च हमारे बध का कारण हो सकता है।

निम्बार्क मतानुयायी भ्रम को सत्य नही मानते अतएव उनका कहना है कि सभी प्रत्यक्ष, अनुमान एव अन्य प्रकार के ज्ञान अहकार से सयुक्त हैं तथा केवल भ्रम रूप से उत्पन्न होते है। सत्य ज्ञान आत्मा का धर्म होता है तथा ज्ञानोत्पत्ति के लिए वृत्ति की आवश्यकता नही होती। अज्ञान को निम्बार्क मतानुयायी मानते है कि जो ज्ञान को उत्पत्ति को रोकता है, वह अज्ञान नही वस्तुत कर्म है, जो अनादि काल से सचित है। इन्द्रियो के व्यापार से हमारी आत्मा वाह्यमोन्मुखी होती है तथा इन्द्रियगोचर पदार्थो के ज्ञान से संयुक्त होती है। इसी कारण जब सुषुप्तावस्था इत्यादि मे इन्द्रियॉ प्रवृत्त नही होती तब गोचर पदार्थो का ज्ञान नही होता। आत्मा सत् ज्ञाता है, सत्कर्ता है तथा

उनके ज्ञातृत्व एव कर्तृत्व अनुभवो को किसी भी कारण से [illegible]
कर्म नही मानना चाहिए।[1]

प्रमाण निरूपण

निम्बार्क मत मे प्रमाण की परिभाषा वही मानी गयी है, जो अन्य वेदान्त मतानुयायी मानते हैं। निम्बार्क दर्शन मे केवल तीन प्रमाण स्वीकृत है–प्रत्यक्ष, अनुमान एव शब्द।

प्रत्यक्ष प्रमाण

प्रत्यक्ष दो प्रकार का है–वाह्य एव आभ्यन्तर। पाच ज्ञानेन्द्रियो के अनुसार वाह्य प्रत्यक्ष पाच प्रकार का है। मानस् प्रत्यक्ष ही आभ्यन्तर प्रत्यक्ष कहलाता है। यह दो प्रकार का है–लौकिक एव अलौकिक। सुख दु.ख का सामान्य प्रत्यक्ष लौकिक प्रत्यक्ष है, जबकि आत्मा का स्वरूप, ईश्वर और उनके गुण पर आभ्यन्तर प्रत्यक्ष (अलौकिक) होता है। यह अलौकिक प्रत्यक्ष पुन दो प्रकार का है, एक जो वस्तु के ध्यान करने से प्रकाशित होता है, तथा दूसरा जो श्रुति वाक्यो पर ध्यान देने से होता है। श्रुति का कहना है कि परमसत्य मन से अनुभव नही होता इसका तात्पर्य है या तो परम सत् मन द्वारा प्रत्यक्ष ग्राह्य नही है, अथवा गुरू द्वारा सिखाए बिना एव योग सस्कार उत्पन्न हुए बिना, परम सत्ता का ज्ञान नही हो सकता। ज्ञान, जीव का अनादि, नित्य, सर्वव्यापी धर्म है। किन्तु बद्धावस्था मे यह ढके हुए दीप की रश्मि की भाति सकुचित रहता है। तथा जिस प्रकार घट इत्यादि मे छिपे दीप की रश्मि छिद्र द्वारा निकलकर किसी पदार्थ को प्रकाशित करती है, उसी प्रकार ज्ञान भी प्रत्येक जीव मे चित्तवृत्ति द्वारा इन्द्रियो तक पहुचकर, उनकी वृत्तियो की सहायता से विषय तक पहुचता है, तथा उन्हे प्रकाशित करके ज्ञान एव विषय दोनो का प्रकाशन करता है।

---

[1] वेदान्त तत्त्व बोध, पृ० 20।

अज्ञान, जो विषय के ज्ञान से नष्ट होता है वह सकुचित अवस्था का आशिक अत है जो ज्ञान को प्रकाशित करता है। ज्ञान का तात्पर्य है जो विशिष्ट आकार लेकर पदार्थ को प्रकाशित करे। विषय ज्यो के त्यो रहते है किन्तु वे ज्ञान के संयोग से प्रकट होते है। उसके बिना वे अव्यक्त रहते है।

आभ्यन्तर प्रत्यक्ष मे इन्द्रियो के व्यापार की आवश्यकता नही रहती, इसलिए सुख एव दुख का मन को साक्षात् अनुभव होता है। आत्मचेतना एव आत्मानुभव मे आत्मा स्वयं प्रकाश होने से, उसकी ओर जाने वाली वृत्तियॉ संकुचित अवस्था को हटाकर आत्मा के स्वरूप को प्रकट करती है।

निम्बार्काचार्य सत्त्व, रजस् एव तमस् इन तीन गुणों की साम्यावस्था को प्राकृत माया कहते है। उनका मानना है कि जब भगवान सृष्टि की इच्छा करते हैं, तब इस माया मे विक्षोभ होकर महत् तत्त्व की उत्पत्ति होती है। यह महत्तत्त्व ही प्रेरणा का कारण है। इस त्रिगुणात्मक महत्तत्त्व से अहकार उत्पन्न होता है, जो जीवों को, शरीरादि मे आत्मशुद्धि हो जाने का मुख्य कारण बनता है, (ममभाव)। यह अहकार भी वैकारिक, तैजस् एव भूत इत्यादि तीन प्रकार का सत्त्व, रज एव तम गुणों से होता है। वैकारिक अहकार का निर्धारण 'मन' है जो प्रधान इन्द्रिय है, सत्त्व गुण प्रधान होने से यही ज्ञानोत्पादक भी है। यह वैकारिक अहकार भिन्न–भिन्न वृत्ति का होने से चार प्रकार का है – मन, बुद्धि, चित्त, एव अहकार। इसे ही अन्त·करण चतुष्ट्य कहते हैं। मनन इत्यादि वृत्तियो का कारण मन है।[1] यही मन जब

---

[1] मन सहित इन्द्रियो की पाच प्रकार की वृत्तियॉ होती है–(i) विषयो की ओर झुकाव से 'ग्रहण वृत्ति' (ii) इन्द्रियो के अपने स्वाभाविक गुणो से 'स्वरूप' वृत्ति (iii) समस्त इन्द्रियो के अहकार से सम्बन्धित हो जाने से 'अस्मिता वृत्ति' (iv) सत्व, रजस् एव तमस् इस गुणत्रय के सयोग से प्रकट 'अन्वय वृत्ति' (v) भोग एव कामनाओ से 'अर्थवत्व वृत्ति'। इन पाचो प्रकार की वृत्तियो का सयमन ही 'इन्द्रिय विजय' है, तथा इनकी एकतानता 'ध्यान' कही जाती है।

रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श इत्यादि गुणो से सम्बद्ध हो जाता है, तब बधन का कारण होता है। और यही मन, जब सभी गुण वृत्तियो सहित परमात्मा मे लग जाता है, तब मुक्ति का कारण होता है।

प्रेरणा देने वाली 'बुद्धि' होती है। 'अह' एव 'ममत्व' का ज्ञान कराने वाला 'अहकार' होता है। चिन्तन का कारण चित्त होता है। तैजस अहकार दशेन्द्रियों की वृत्ति का कारण है। ये दस इन्द्रियॉ है—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन् एवं घ्राण पच ज्ञानेन्द्रियॉ; पाणि, पाद, पायु, उपस्थ एव वाक् पच कर्मेन्द्रियॉ। निम्बार्काचार्य के मतानुसार यही सृष्टि का क्रम है।

अनुमान प्रमाण

अनुमान में, पक्ष में हेतु के ज्ञान को, जिसकी साध्य से व्याप्ति है, परामर्श कहा जाता है[1] वही अनुमान कहलाता है। इसी से ज्ञान होता है।

अनुमान दो प्रकार है—स्वार्थानुमान, परार्थानुमान। परार्थानुमान मे तीन ही अवयवो की आवश्यकता मानी गयी है—प्रतिज्ञा, हेतु एव उदाहरण।

तीन प्रकार के अनुमान केवलान्वयी, केवल व्यतिरेकी तथा अन्वय व्यतिरेकी माने गए है। इन तीन प्रकारो के अनुमानो से उत्पन्न व्याप्ति मानी गयी है, श्रुति को भी व्याप्ति का प्रकार माना गया है। इस प्रकार का श्रुति वाक्य है—'अविनाशी वाऽरे आत्मा अनुच्छित्ति धर्मा' इसे व्याप्ति माना है, जिससे ब्रह्म जैसे आत्मा का अविनाशत्व अनुमित किया जा सकता है।[2] निम्बार्क मत मे अनुमान के विषय के अन्य कोई महत्त्वपूर्ण अग नहीं हैं।

शब्द प्रमाण

श्रुति अथवा शब्द प्रमाण का व्याप्ति रूप मे भी प्रयोग होता है। भगवान के स्वरूप का वर्णन, केवल 'श्रुति' द्वारा ही माना गया है। क्योकि

---

[1] वह्नि व्याप्य धूमवानयम् एव रूप।
[2] परपक्षगिरि वज्र, पृ० 210।

श्रुतियो की शक्ति साक्षात् ईश्वर से ही उत्पन्न होती है। यद्यपि जीवो की शक्ति भी ईश्वर द्वारा ही प्राप्त है किन्तु वे ईश्वर का बोध नही करा सकती क्योकि वे जीव के अपूर्ण मन से दूषित रहती है। वेद के सभी पाठो एव कर्मकाण्डों का अन्तिम निकष ब्रह्म जिज्ञासा मे पूर्ण होता है। इनके द्वारा मुक्ति की योग्यता उत्पन्न होती हैं इस दृष्टि से सभी कर्मो के पालन का उद्देश्य मुक्ति हो जाता है।

श्रुति पाठों के आधार पर ही द्वैत एवं अद्वैत प्रतिपादक पदो मे तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है।

अन्य प्रमाण

'सादृश्यता' का ज्ञान उपमान से पृथक् अनुमान द्वारा होता है। यह ज्ञान प्रत्यक्ष या श्रुति द्वारा भी हो सकता है। एक व्यक्ति द्वारा चन्द्र एव मुख में सादृश्यता देखने पर श्रुति द्वारा ही सिद्ध होता है कि आत्मा का ईश्वर के स्वरूप से सादृश्य है। इसे अनुमान प्रमाण के दृष्टान्तो मे समाविष्ट किया गया है।[1]

जिससे किसी के अभाव का ज्ञान होता है, उसे 'अनुपलब्धि' का प्रमाण माना जाता है। यह चार प्रकार हा है प्रागभाव, अन्योन्याभाव, प्रध्वसाभाव एवं अत्यन्ताभाव[2]। किन्तु अभाव या अनुपलब्धि को एक पृथक् प्रमाण के रूप मे मानना आवश्यक नही है क्योकि निम्बार्क मत मे अभाव या अनुपलब्धि नही माना जाता। अभाव का ज्ञान, पदार्थ के प्रतियोगी को, जिससे उनका संयोग नही, प्रत्यक्ष अनुभव ही है। घट का प्रागभाव मृत्पिण्ड तथा घट विनाश प्रध्वसाभाव है। अन्योन्याभाव वह पदार्थ है जो दूसरे से भिन्न

---

[1] उपमानस्य दृष्टान्त मात्रैक विग्रहत्वेनानुमानावथवे उदाहरणे अन्तर्भाव –परपक्षगिरिवज्र, पृ० 254

[2] कालरात्रेऽपि नास्तीति प्रतीतिविषय अत्यन्ताभाव ।

अनुभव किया जाता है, तथा अत्यन्तभाव अभाव का प्रतियोगी मात्र है। इस प्रकार अभाव प्रमाण को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है।

'अर्थपत्ति' को अनुमान का ही एक प्रकार कहा गया है। 'सम्भव' को अनुमान का ही एक प्रकार माना जाता है।

स्वतः प्रामाण्य

निम्बार्क दर्शन मे स्वत. प्रामाण्य को अद्वैत मत की भाति ही माना गया है। दोष के न रहने पर 'प्रमा' उत्पन्न करने वाली सामग्री विषय का, जैसा है वैसा ही ज्ञान कराती है। इसे निम्बार्क मत मे 'स्वतस्त्व' कहा जाता है। यही स्वत. प्रामाण्य वाद है।[1] जिस प्रकार नेत्र रगीन पदार्थ देखते समय इन पदार्थ के रूप एव आकार को भी देखते हैं, उसी समय वे पदार्थ के ज्ञान के साथ उनकी प्रामाणिकता भी ग्रहण करते है।

तत्त्वविवेचन में ज्ञान की उपयोगिता

निम्बार्काचार्य के अनुसार मुक्ति का ध्येय ईश्वर के भाव का आपन्न करना है। आचार्य ने इन्द्रियों की सूक्ष्म अणुरूप वृत्तियो को सगठित रूप में मन से सयोग कर जीवात्मा में सयुक्त कर देने को मोक्ष की प्रथम अवस्था कहा है। सम्पूर्ण वृत्तियो से सगठित उपासक की मनोवृत्ति का ईश्वर मे तन्मय हो जाना ही भक्ति योग है। यही सांसारिक बधनो से मुक्ति का प्रधान साधन कहा गया है।

'ज्ञान' को निम्बार्क मत मे जीव का अनादि, नित्य, सर्वव्यापी धर्म माना जाता है। उसकी इन्द्रिय वृत्तियॉ जब एक रूप होकर आत्मचेतना मे आत्मस्वरूप को प्रकट करती है तब ईश्वर का अनुभव उनकी कृपा से तथा चित्त की ध्यानावस्था से होता है।

---

[1] दोषाभावत्वे यावत्स्वाश्रय भूत प्रमाग्राहक सामग्रीमात्रग्राहयत्वम् – परिपक्ष गिरिवज्र पृ० 253

समीक्षा

निम्बार्काचार्य का दर्शन 'द्वैताद्वैतवाद' कहा जाता है। ये जीव का ब्रह्म स अभिन्न मानते हैं, क्योकि ब्रह्म से पृथक उसकी सत्ता नही है, किन्तु जगत् क विवर्तवाद का खण्डन करके जगत् की वास्तविक सत्ता मानते है।

निम्बार्काचार्य ने स्वय लौकिक ज्ञान एव उसके साधनो का विवेचन नहीं किया है, तथापि उनके मतानुयायी यत्र–तत्र इसका विवेचन करते है, किन्तु यह भी पर्याप्त रूप से नहीं है। वे शकराचार्य के मायावाद का प्रत्याख्यान करते है, तथा भ्रम के विषय मे 'सत्ख्यातिवाद' का समर्थन करते है।

ज्ञान को जीव का अनादि, नित्य, सर्व व्यापी धर्म स्वीकार किया जाता है। निम्बार्क मतानुयायियो के अनुसार मुख्य प्रमाण तीन ही माने जाते है– प्रत्यक्ष, अनुमान एव शब्द। पच ज्ञानेन्द्रियो के आधार पर वाह्य प्रत्यक्ष पॉच प्रकार का है। मानस प्रत्यक्ष अभ्यन्तर कहलाता है।

अनुमान प्रमाण का हेतु परामर्श है। इसके भी दो भेद माने गए है– स्वार्थानुमान, परार्थानुमान।

परमसत्ता के स्वरूप का वर्णन मात्र श्रुति प्रमाण द्वारा ही सम्भव है। इसके अतिरिक्त सादृश्यता, सुदृढता इत्यादि स्थानो मे श्रुति या शब्द प्रमाण ही मान्य है।

निम्बार्क सम्प्रदाय मे, अद्वैत मत की भाति ही ज्ञान स्वत प्रामाण्य माना गया है। पदार्थ के ज्ञान के साथ ही उसकी प्रमाणता भी स्वत ग्रहण होती है।

निम्बार्क मत मे परम सत्ता के विवेचन एव उसकी प्राप्ति के साथ राधा–कृष्ण की युगल उपासना रूप 'भक्ति' पर ही विशेष बल दिया जाता है। जागतिक ज्ञान के पक्ष मे इनका सिद्धान्त बहुत विशेषता नही रखता।

निम्बार्काचार्य का मानना है कि इन्द्रियों की सूक्ष्म अणुरूप वृत्तियो के सगठित रूप मे मन से सयोग कर जीवात्मा 'मोक्ष' की ओर अग्रसर होती है।

पंचम अध्याय

द्वैत सम्प्रदाय

- ज्ञान का स्वरूप
- साक्षी की अवधारणा
- स्वतः प्रामाण्यवाद
- भ्रान्ति का स्वरूप
- प्रमाण निरूपण
  - प्रत्यक्ष प्रमाण
  - अनुमान प्रमाण
    - तर्क अथवा ऊह
    - व्याप्ति
  - शब्द प्रमाण
- तत्व विवेचन में ज्ञान की उपयोगिता
- समीक्षा

समस्त वैष्णव वेदान्त मतावलम्बियो की भॉति ही मध्वाचार्य ज्ञान के सविशेष विषयत्व, स्वत प्रमाणत्व, वस्तुवाद, वाह्यार्थवाद, एव प्रमाणो का तर्क पूर्ण विवेचन करते हुए निर्विशेषवाद एवं विज्ञानवाद का प्रत्याख्यान करते है।

मध्वाचार्य की ज्ञानमीमांसा का विश्लेषण करने पर यह प्रतीत होता है कि इनका विवेचन न्याय–वैशेषिक की अपेक्षा साख्य के अधिक निकट है। मध्व दर्शन दस तत्त्वों को स्वीकार करता है, जो वैशेषिक दर्शन के विभाजन पर आधृत है किन्तु 'प्रकृति' की अवधारणा एव महत् इत्यादि चौबीस पदार्थों की उत्पति की अवधारणा मध्व दर्शन को साख्य के अधिक समीप खडा करती है।

मध्व दर्शन भगवान विष्णु को 'परंब्रह्म' स्वीकार करता है। मध्वाचार्य के अनुसार "भगवान विष्णु की अधिक कृपा केवल उनके सम्यक् ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है"।[1] सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति केवल श्रवण, मनन, निदिध्यासन एवं भक्ति के द्वारा होती है। इनके बिना सम्यक् ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। ब्रह्मज्ञान (भगवान का सम्यक् ज्ञान) के उद्‌गम के रूप मे ब्रह्म–जिज्ञासा भगवान के अनुग्रह को प्राप्त करने के लिए अपरिहार्य है।

'अनुव्याख्यान' ग्रन्थ में मध्वाचार्य इस तथ्य को स्पष्टत कहते है कि हमारा बन्धन यथार्थ है तथा भगवान विष्णु के प्रसाद से उत्पन्न मोक्ष भी यथार्थ है। यदि 'बन्ध' को निर्मित करने वाले शोक, दुःख, मोह इत्यादि मिथ्या होते तो इसे कोई 'प्रमाण' सिद्ध करता, एव यदि प्रमाण विद्यमान है तो स्वभावत द्वैतवाद' की उत्पत्ति होती है। जगदाभास के मिथ्यात्व को यह कहकर सिद्ध नहीं किया जा सकता कि वह ज्ञान के द्वारा बाधित होता है। मिथ्या भेद 'अज्ञान' के कारण ही उत्पन्न होते है। 'अज्ञान' स्वय ज्ञान नही हो सकता, क्योकि ज्ञान शून्यता, का कारण अज्ञान है। समस्त भ्रामक आभासो का नाश सत्य ज्ञान से हो जाता

[1] परस्य ब्रह्मणोविष्णो प्रसादादिति वा भवेत। स हि सर्वमनोवृत्ति–प्ररक समुदाहृत ।
पूर्णप्रज्ञ भाष्य– 1/1/1।

है। किन्तु बन्धन के यथार्थ होने के कारण उसके निवारण के लिए केवल ज्ञान ही यथेष्ट नहीं। ज्ञान की उपयोगिता इसमे निहित होती है कि उसकी प्राप्ति से प्रभु प्रसन्न होते हैं, तथा हमें अनुग्रह प्रदान करते है, जिसके फलस्वरूप बधन का निराकरण हो जाता है। वह भगवान हमारी मानसिक 'वृत्ति' के प्रेरक होते है।

मध्वाचार्य का मानना है कि जगत् के पदार्थों का 'ब्रह्म' से तादात्म्य नही माना जा सकता, तथापि ब्रह्म की अनन्तता एव जीवों से उसके भेद को मध्व स्वीकृत करते हैं।[1] जीव स्वभावत· अपने समस्त कर्मो एव भागो में स्वतन्त्र होते हुए भी ईश्वर–परतन्त्र है।जीव का स्वयं को अन्य कर्त्ता द्वारा निर्धारित करना अविद्या के कारण है।[2] अविद्या की आत्मा (जीवात्मा) में उपस्थिति सत् मानी जाती है।[3] अत· बुद्धि, इन्द्रियॉ, शरीर एवं वाह्य विषय ईश्वर के नियन्त्रण में रहकर यथार्थ अस्तित्व रखते हैं। किन्तु अब इनमें अविद्यावश आत्मीयता समझी जाती है, तब 'अध्यास' एवं 'भ्रम' उत्पन्न होता है।[4] 'अध्यास' का अस्तित्व सत् है एव दुःख इसका एक लक्षण है। अध्यास द्वारा मिथ्या तादाम्य स्थापित होने पर जीव जगत् के वाह्य पदार्थो से प्रभावित होकर राग–द्वेषादि के वशीभूत होकर वैसे ही कर्म करने को तत्पर हो जाता है।

मध्वाचार्य का मानना है कि बद्ध आत्मा की यथार्थ सत्ता की भॉति उसको बंधन में डालने वाले विषयादि भी यथार्थ हैं। किसी वास्तविक पदार्थ का ज्ञान, उस पदार्थ से तदाकाराकारित बुद्धि वृत्ति के माध्यम से 'ज्ञाता' को होता है। तदाकाराकारित का तात्पर्य है किसी वस्तु के धर्मो का 'साक्षी' द्वारा ग्रहण, अर्थात् जो वस्तु जैसी हो, ठीक उसी रूप का ज्ञान वस्त्वाकाराकारिता' है। ज्ञान

---

[1] ब्रह्मशब्देन पूर्ण गुणत्वोक्तेनानुभत सिद्धालगगुणो जीवाभेद –न्याय विवरण, मध्वाचार्य–1/1/1
[2] तस्य परायतत्वावभासो विद्या निमित्तको भ्रम -- न्याय सुधा , पृ0 26
[3] अविद्यादिक च स्वरुपेणाम सम्बान्भित्वेन सद एव।
[4] अविद्यादिवशाद् आत्मीयतया अध्यास्यन्तं।

की अपने विषय के साथ यथार्थ अनुरूपता, मुख्यतया केवल ज्ञान मे ही प्राप्त की जाती है।[1] यथार्थ ज्ञान को ग्रहण करने वाले ज्ञान को 'प्रमा' कहा जाता है, जो स्वाभाविक रूप में स्वत प्रमाण है। ज्ञान स्वय किसी विषय मे रूपान्तरित नही होता, अपितु जब वस्तु का ज्ञान उत्पन्न होता है, तब वह वस्तु (विषय) 'ज्ञेय' कहलाता है। यदि ज्ञान स्वरूपत सत्य (यथार्थ) न हो तो उसमे कोई वाह्यार्थ सत्यत्व का हेतु नहीं बनता। असत्य अथवा अयथार्थ ज्ञान का स्वत प्रमाण नहीं होता। इस प्रकार यथार्थ ज्ञान की स्वत प्रामाणिकता स्वय सिद्ध है।

ज्ञान के स्वतः प्रमाणत्व का स्वतत्व द्विविध होता है :– उत्पत्ति' एव ज्ञप्ति। ज्ञान का कारणमात्र से जन्य होना, उसकी उत्पत्ति' है, अर्थात जिससे ज्ञान प्राप्त होता है, उसी के द्वारा उसकी स्वत प्रमाणिकता भी उत्पन्न होती है। 'ज्ञप्ति' रूप स्वतत्त्व का तात्पर्य है ज्ञान के ग्रहण काल मे ही उसकी प्रामाणिकता ग्रहण होती है, अर्थात ज्ञान के साथ ही ज्ञान का प्रामाण्य भी ग्रहण हो जाता है। इसी प्रकार अयथार्थ ज्ञान या प्रमा का स्वत प्रामाण्य भी उत्पत्ति एव ज्ञप्ति रूप मे सम्पन्न होता है।

'साक्षी' की अवधारणा

मध्वाचार्य के अनुसार 'साक्षी' के बिना ज्ञान प्रामाणिक नही होता। ज्ञान 'साक्षी का बोध' अथवा 'पौरूषेय बोध' होता है। साक्षी ज्ञान स्वरूप एव स्वप्रकाशक है। उसे ज्ञान एव उसकी प्रामाणिकता दोनो ज्ञात हो जाते है। किन्तु अन्तकरण का वृत्ति रूप ज्ञान जडात्मक होने से स्वय की प्रामाणिकता से अनभिज्ञ ही रहता है।

'साक्षी' को मध्वाचार्य इन्द्रिय मानते है, तथापि यह साक्षी (अन्तप्रज्ञा) अपरोक्ष रूप मे दुख, सुख, अज्ञान, काल एव दिक् का प्रत्यक्षीकरण कर सकती है। इस साक्षी द्वारा विभिन्न ज्ञानेद्रियो से प्राप्त ध्वनियो, रगो आदि

---

[1] ज्ञानस्यैव मुख्यतो यथार्थ्यम्।

ज्ञानेद्रिय–सामग्री का भी अपरोक्ष प्रत्यक्षीकरण किया जाता है। ज्ञानेद्रियो के क्षेत्र से अतीत समस्त वस्तुओ का ज्ञात अथवा अज्ञात रूप मे साक्षी' अन्तर्ज्ञान प्राप्त करता है। वस्तुत मध्व दर्शन का यह विशिष्ट लक्षण है कि साक्षी–ज्ञान को अन्त प्रज्ञात्मक ज्ञान का एक विशेष साधन माना जाता है, तथा काल एव दिक् प्रत्यक्षीकरण के लिए विशेषत अपरिकार्य माना जाता है।

शाकर वेदान्त मे 'साक्षी' अनिर्वाच्य 'ब्रह्म' (ज्योति) के रूप में स्वीकार किया जाता है, जो अज्ञानाच्छादित होता है, यद्यपि स्वय अज्ञान अपने यथार्थ स्वरूप, अविद्या के रूप मे 'साक्षी' द्वारा प्रकट किया जाता है।[1]

मध्वाचार्य मानते हैं कि 'साक्षी की अन्त.प्रज्ञा के द्वारा जीव अपने इन्द्रिय ज्ञान तथा 'अह' के रूप मे अपनी आत्मा की सत्यता का निरीक्षण करता है। किन्तु आत्मा का प्रत्यक्षीकरण मनस् की क्रिया अथवा मानसिक अनुभव के कारण नहीं होता, क्योंकि जीव मनस् की क्रिया अथवा मानसिक व्यापार के फलस्वरूप स्वयं अपनी आत्मा पर संदेह नही कर सकता। अत यह सिद्ध है कि आत्मा का प्रत्यक्षीकरण 'साक्षी' द्वारा ही होता है। इस प्रकार 'साक्षी' सदैव दोष रहित एव निश्चित सत्यो पर पहुॅचता है, किन्तु जहॉ कही भी ज्ञान मे विवेकजन्य क्रिया होती है, एव दोष की सभावना होती है, वह ज्ञान मानसिक अनुभव (मनस्) के द्वारा उत्पन्न माना जाता है।[2]

स्वतः प्रामाण्य

मध्वाचार्य के अनुसार 'स्वत प्रमाण्य' के सिद्धान्त का तात्पर्य है 'साक्षी द्वारा उस ज्ञान को सत्य समझना जिसे वह दोषो अथवा अन्य बाधाओ से अप्रतिरूद्ध होकर ग्रहण करे।[3] साक्षी एक बुद्धिमान्, चेतन, प्रत्यक्षकर्त्ता है, जो

---

[1] यत् प्रसादादविद्यादि स्फुरत्येव दिवा निशतनप्यपह्नुतोऽविद्या नाज्ञानस्यास्ति दुष्करम्–अद्वैत ब्रह्मसिद्धि
[2] (क) यत् क्वचिद् व्याभिचारि स्यात्। दर्शन मानस हि तत् - अनुव्याख्यान।
(ख) स देवदत्तो गौरा न वा परमाणु गुरुत्वाधिकरण न वा इति सशयोमानस– मध्व सिद्धान्त सार पृ0 44
[3] दोषाद्यपतिरूद्धेन ज्ञानग्राहकसाक्षिणा स्वतस्त ज्ञानमानत्वनिर्णाति नियमो हि न ।–युक्तिमल्लिका, 1/311

दिक् एव दूरत्व आदि का अन्त प्रज्ञात्मक प्रत्यक्ष कर सकता है, तथा जब सशय उत्पन्न होने की स्थिति तक दूरत्व हो तब ये बुद्धिमान् अन्त.प्राज्ञकर्त्ता 'साक्षी' त्रुटि की सभावना के भय से स्वय का निर्णय स्थगित कर लेता है। यह स्थिति सशय कही जाती है।[1]

'तर्क ताण्डव ग्रन्थ मे व्यासयति ने स्पष्ट किया है कि 'साक्षी ही ज्ञान एव उसकी प्रामाणिकता दोनों को ग्रहण करने की क्षमता रखता है, एव प्रतिरूद्ध होने पर भी वह अपनी क्षमता को यथावत् रखता है जबकि उसका प्रयोग नही करता।[2] जब प्रामाणिकता के प्रति भ्रम होता है, उसे प्रामाण्य–भ्रम कहा जाता है, तब साक्षी निष्क्रिय हो जाता है, तथा मनस् द्वारा आसक्ति इत्यादि भावावेगो के प्रभाव के फलस्वरूप भ्रमात्मक ज्ञान प्राप्त होता है। अपने ज्ञान की प्रामाणिकता को ग्रहण करने की प्रक्रिया साक्षी द्वारा तभी सम्भव होती है, जबकि कोई ऐसा प्रतिरोध न हो, जिसके कारण (मनस् के भ्रामक प्रत्यक्षो द्वारा) उसकी प्रक्रिया मे हस्तक्षेप न हो।

भ्रम एव संशय के उत्पन्न होने की सम्भावना होते हुए भी ज्ञान का अनुभव करते समय साक्षी उसी काल में अपने दोष रहित समस्त प्रकृत व्यापारो मे उसकी प्रामाणिकता का प्रत्यक्ष नही करता। अन्यथा किसी अवस्था में कोई निश्चितता सम्भव नही होगी।

स्वत प्रमाण्य प्रक्रिया की जिस विधि के द्वारा किसी ज्ञान की प्रामाणिकता का ज्ञान होता है, अथवा ज्ञात किया जाता है, वह स्वत प्रामाण्य 'ज्ञप्ति' है तथा जिस विधि द्वारा चेतना की प्रामाणिकता के प्रति जागरूकता होती है, एवं वस्तुगत आधार के स्वरूप के कारण प्रामाणिकता स्वत: उत्पन्न होती है, वह स्वत प्रमाणोत्पत्ति है। स्वत प्रामाण्य सिद्धान्त में 'प्रामाण्य' पद का

---

[1] यतो दूरत्व दोषेण स्व गृहीतेन कुण्ठित, न निश्चिनोति प्रामाण्य तत्र ज्ञान ग्रहेऽपि स्व देशस्थ विप्रकर्शो हि दूरत्व, स च साक्षिणावर्ग हितु शक्यते यस्मादाकाश व्याकृतो ह्यासौ– युक्ति मल्लिका 1/313, 1/314।

[2] साक्ष्येण ज्ञान तत्प्रामाण्य च विषयी कर्तुक्षम, किन्तु पतिबद्धो ज्ञानमात्र गृहीत्वा तत् प्रामाण्य ग्रहणाय न क्रमते– तर्क ताण्डव, पृ0 7।

प्रयोग प्रमात्व अथवा सत्य की निश्चितता के अर्थ मे किया जाता है। इसमे 'ज्ञप्ति' का सम्बन्ध उस आत्मगत एव स्वत स्फूर्त अन्तप्राज्ञ विश्वास से है, जिससे हमारे प्रत्यक्ष एव अनुमान सत्य प्रतीत होते है, एवं 'उत्पत्ति' का सम्बन्ध उस सिद्धान्त से है जो वस्तुनिष्ठ ढंग से इस मत का समर्थन करता है कि जिन अवस्थाओ ने ज्ञान को उत्पन्न किया है वे इसकी उत्पत्ति के द्वारा ही उसकी सत्यता को प्रमाणित करती है।

प्रभाकर मीमांसक ज्ञान को स्वयं प्रकाशक मानते हैं। उनका मानना है कि ज्ञान के प्रकाशन के किसी भी क्षण में ज्ञान के विषय एव ज्ञाता के प्रकाशन का समावेश होता है। किसी भी प्रकार की ज्ञातता (ज्ञानग्राहकता), स्वय मे इस निश्चित ज्ञान का भी समावेश करती है कि उक्त ज्ञातता अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा के बिना सत्य है।[1]

परन्तु कुमारिल मतानुयायी ज्ञान को अनुभवातीत एव अतीन्द्रिय मानते है, जो केवल सज्ञान की मानसिक अवस्था से अनुमित किया जाता है। इनके मतानुसार मानसिक अवस्था ही एकमात्र ज्ञात वस्तु है, अतः ज्ञान उससे अनुमित किया जा सकता है। जब अनुमान होता है तब ज्ञान से सम्बद्ध प्रामाणिकता केवल आभासी ही हो सकती है, इसलिए वह विशेष प्रकार की ज्ञातता के आधार पर किये गए अनुभव पर आश्रित रहती है।[2]

पूर्वमीमासक मुरारि मिश्र के मत मे वस्तुनिष्ठ ज्ञान, यथा घट का ज्ञान, के पश्चात् स्वनिष्ठ आत्म–चेतना की उत्पत्ति होती है, जो विषय के ज्ञान को आत्मा से सम्बन्धित करती है, वे इसे 'अनुव्यवसाय' कहते है। यही अनुव्यवसाय ज्ञान के अन्तिम स्वरूप को निर्धारित करता है।

---

[1] ज्ञान ग्राहकातिरिक्ता न पेक्षत्वम् – प्रभाकर भट्ट

[2] यावत स्वाश्रयानुमिति–ग्राह्यत्वम् – कुमारिल भट्ट

प्रभाकर, कुमारिल एव मुरारि मिश्र के तीनो प्रकार 'स्वत प्रामाण्य' सिद्धान्त को समाविष्ट करके न्याय दार्शनिक गगेशोपाध्याय ने 'तत्त्व मीमासा' मे इसे परिभाषित किया है कि 'किसी ज्ञान की प्रामाणिकता, उसकी ज्ञान ग्राहक सामग्री के सम्पूर्ण सगठन द्वारा सूचित की जाती है।' किन्तु मध्व मतानुयायी व्यासतीर्थ इस परिभाषा को भी दोष पूर्ण मानते है। उनके अनुसार इस परिभाषा मे यह शर्त आरोपित करना दोषपूर्ण है कि ज्ञान उसी सामग्री द्वारा सूचित किया जाना चाहिए जो उसकी प्रामाणिकता को उत्पन्न करे, क्योंकि यह शर्त 'परत प्रामाण्यवाद' में भी पूर्ण हो जाती है। व्यासतीर्थ गगेशोपाध्याय द्वारा दी गयी वैकल्पिक परिभाषा से सहमत है कि 'वही ज्ञान जो किसी विषय को ग्रहण करता है, किसी अन्य व्यवहित प्रक्रिया मे प्रविष्ट हुए बिना, उसी क्रिया के द्वारा उसकी प्रामाणिकता को भी ग्रहण कर लेता है।[1] गगेशोपाध्याय का यह मत प्रभाकर एव कुमारिल इत्यादि के मत से भिन्न है क्योंकि भाट्टमत मे स्वत प्रामाण्य की उस ज्ञान के प्रति अभिपुष्टि की जाती है, जो केवल अनुमित किया जा सके तथा एक विशिष्ट ज्ञातता (यथा, मै इस घट को ज्ञात करता हूँ) सहित अपरोक्ष रूप मे ग्रहण न किया गया हो। मुरारि मिश्र के मत मे स्वत·प्रामाण्य की अभिपुष्टि केवल ऐसे अनुव्यवसाय के फलस्वरूप ही की जाती है, जो ज्ञातता का आत्मा के साथ साहचर्य स्थापित करता है, यथा 'मै ज्ञात करता हूँ'।[2]

व्यासतीर्थ का मानना है कि यदि स्वत प्रामाणिकता मे इन्द्रिय सन्निकर्ष के होने पर भी कु–निरीक्षण को उत्पन्न करने वाले दोष विद्यमान हों तो त्रुटि की सभावना बनी रहती है। अतएव यह मानना ही उपयुक्त है कि स्वयं ज्ञान सामग्री से ही ज्ञान की प्रामाणिकता उत्पन्न होती है, इन्द्रियसन्निकर्ष द्वारा नहीं।

---

[1] तज्ज्ञानविषयक ज्ञानाजन्यज्ञानविषयत्वमेवस्तपस्तम – तर्कताण्डव' पृ0 15, एव तत्त्व चितामणि पृ0 122

[2] व्यासतीर्थ ने स्वत पामाण्य की परिभाषा तत्त्व चिन्तामाणि' मे इस रूप मे दी है कि उसमे मतत्रय की सामान्य सहमति है– तत्व ज्ञान विषयक' शब्द की ज्ञानानुबन्धि विषयताश्रय 'के रूप मे एक विशिष्ट व्याख्या का समावेश होता है– मुथरानाथ की टीका पृ 0 144।

मध्व मतानुयायी 'परत प्रामाण्य' के सिद्धान्त को भी मानते है, जिसका तात्पर्य है कि अप्रामाणिक ज्ञान के समस्त उदाहरण ज्ञान की सामग्री से भिन्न अन्य कारणो से उत्पन्न किये जाते है।[1] सामान्य अवस्थाओ मे किये गए प्रत्यक्षीकरण के अधिकाश उदाहरणों मे हमे सत्य ज्ञान प्राप्त होता है, केवल विशेष परिस्थितियो में ही सशय की सभावना रहती है। यदि ज्ञान के प्रत्येक चरण मे उसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे आशका व्यक्त की जाए तो 'अनवस्था' दोष प्रसक्त होगा। अतएव जहॉ ज्ञान की प्रामाणिकता अनुवर्ती वाह्य परीक्षणो द्वारा निश्चित की जाती है, वहॉ इसका निश्चय कार्य मे प्रवृत्त होता है।[2] परन्तु यदि प्रत्येक ज्ञान की प्रामाणिकता का अन्य ज्ञान के द्वारा परीक्षण करना पडे तो स्वाभाविक है कि अनवस्था दोष उत्पन्न होगा।[3] किन्तु 'साक्षी' अपनी अवस्थाओ सुख–दु ख आदि को साक्षात् एवं तत्काल ग्रहण करने मे सक्षम है, एव ज्ञान के ऐसे संदेह रहित, स्वतः प्रमाणित उद्धरणो में संशय की संभावना नहीं रहती।

भ्रान्ति का स्वरूप

मध्व दर्शन में 'किसी विषय के अन्यथा ज्ञान को 'भ्रम' कहा जाता है[4] तथा भ्रम का बाध 'सम्यक् ज्ञान' के उदय के द्वारा भ्रामक आकार के मिथ्यात्व को ज्ञात करने मे निहित होता है। तात्पर्य यह है कि भ्रम वह ज्ञान है जिसमे एक वस्तु अन्य वस्तु के रूप मे भासित होती है। जो असत् है वह सत् रूप मे भासित होता है तथा जो सत् है, वह असत् के रूप मे भासित होता है।[5] 'भ्रम' दोषो से प्रभावित इन्द्रियो द्वारा उत्पन्न किये जाते है। इन दोषो द्वारा केवल विरोधी ज्ञान ही उत्पन्न नही होता, अपितु वे विषय का एक भ्रामक प्रदर्शन भी

---

[1] तर्क ताण्डव पृ0 98 एव 'विष्णु तत्त्व निर्णय' पृ0 2

[2] प्रामाण्य निश्चयस्य प्रवर्तकत्वम - तर्क ताण्डव, पृ 0 41–46।

[3] तर्क ताण्डव, पृ0 46–50

[4] अन्यथा विज्ञानम् एव भ्रान्ति ।

[5] न्याय सुधा, पृ0 46।

उत्पन्न कर देते है, अतएव वे न केवल अनिरीक्षण के लिए, अपितु कुनिरीक्षण के भी उत्तरदायी होते है।

यहाॅ यह आपत्ति उपस्थित होती है कि ज्ञान का विषय केवल वही हो सकता है, जो उसकी उत्पत्ति को प्रभावित कर सके। शुक्ति–रजत के उदाहरण मे रजत असत् होने के कारण ज्ञानोत्पत्ति मे सहायक नही हो सकता, अत वह ज्ञान का विषय नही बन सकता। मध्व मतानुयायी जयतीर्थ इसका प्रत्युत्तर देते है कि एक असत् वस्तु भी ज्ञान का विषय बन सकती है। हमे अतीत की घटनाओ की अनुमिति होती है एवं वस्तुओं का उन व्यक्तियों के सम्बन्ध मे उल्लेख किया जाता है, जिनका अस्तित्व दीर्घकाल से समाप्त हो चुका है। यहाॅ यह माना जाता है कि असत् वस्तुओ ने ज्ञान को उत्पन्न नही किया है, अपितु निर्धारित किया है। यहाॅ पूर्वपक्षी द्वारा पुन आपत्ति की जाती है कि एक विषय के दृष्टि प्रत्यक्ष होने की अवस्था मे तो यह निश्चित है कि वह विषय द्वारा इन्द्रिय सम्पर्क के माध्यम से उत्पन्न किया जाता है, परन्तु शुक्ति मे रजत् के भ्रम की अवस्था मे तो रजत् वस्तुत अनुपस्थित रहता है, अत उसका इन्द्रिय सम्पर्क नही किया जा सकता, इस कारण उसका कोई दृष्टि प्रत्यक्ष सभव नही हो सकता।

इस आपत्ति का मध्व मतानुयायी उत्तर देते हैं कि दोष युक्त दृश्येन्द्रिय ही शुक्ति से सन्निकर्ष होने के कारण एक ऐसे सज्ञान को उत्पन्न करती है, जो उसे सर्वथा असत् रजत् के रूप मे प्रदर्शित करता है। सामान्यत ज्ञान स्वत प्रमाण होता है। आत्मचेतन कर्त्ता अर्थात् 'साक्षी' किसी अन्य प्रक्रिया अथवा कर्त्ता की मध्यस्थता के बिना प्रत्यक्षीकरण करता है तथा स्वयं के प्रति मानसिक अवस्थाओ की प्रामाणिकता को प्रमाणित करता है।

एक भ्रामक प्रत्यक्ष की अवस्था मे एक वस्तु का अन्य वस्तु के रूप मे आभास किया जाता है, तथा ऐसा होने को अपरोक्ष रूप में प्रत्यक्ष अथवा अनुभूत

(अनुभव) किया जाता है। यदि शुक्ति को रजत के रूप मे प्रत्यक्ष नही किया जाता तो रजत को देखने पर मनुष्य शुक्ति को उठाने के लिए उद्यत क्यों होता ? रजत का भ्रामक प्रत्यक्ष आभास मे रजत् के यथार्थ से भिन्न नही होता। ऐसे भ्रामक रजत के आभास मे 'स्मृति' को मध्व मतावलम्बी नहीं मानते है। क्योकि यदि कोई व्यक्ति स्मृति प्रतिमा के तथ्यात्मक रूप से परिचित हो तो प्रत्यक्ष के तथ्यात्मक रूप से चेतन होने के कारण, उसका विभेद अवश्य करेगा।

अद्वैतवादियो की 'भ्रम' के सन्दर्भ मे दी गयी व्याख्या का विरोध करते हुए मध्व मतानुयायी जयतीर्थ का मानना है कि अद्वैत मत समीचीन नहीं है, कि शुक्ति–रजत अनिर्वचनीय' है, क्योकि इस अनिर्वचनीय स्वरूप का तात्पर्य है कि वह न सत् है, न असत् और न ही सदसद्। इनमें सत् एव सदसद् को तो मध्व मतानुसार मान भी लिया जाता है, किन्तु द्वितीय मत 'न असत्' को वे नही स्वीकार करते। क्योंकि इनके अनुसार यह नहीं माना जा सकता कि असत् रजत् का हमारे समक्ष उपस्थित होने का आभास नहीं हुआ था। यह आभास दोषो की उपस्थिति के कारण था, क्योंकि जो असत् था वह ज्ञान का विषय नही बन सकता था। यदि इसे अनिर्वचनीय माने तो शुक्ति रजत् प्रत्यक्षीकरण के समय सत् तथा बाद मे असत् का आभास नही होगा तथा किसी भी काल मे अनिर्वचनीय ही भासित होगा। परन्तु ऐसा नही होता।

द्वैतवादी वादिराज 'युक्ति मल्लिका' में स्पष्ट करते है कि 'साधारण प्रत्यक्षीकरण में 'नेत्र' 'इदं' के सम्पर्क मे आता है, जिसे विशेष्य माना जा सकता है, तथा 'विशेष्य' अथवा सत्ता के ग्रहण द्वारा 'घट' के रूप मे उसका लक्षण भी ग्रहण कर लिया जाता है, क्योंकि एक का दूसरे के साथ तादात्म्य का सम्बन्ध होता है। किन्तु भ्रामक प्रत्यक्ष में 'रजत' का लक्षण विशेष्य 'इदं' से सम्बन्धित नही होता, अतएव 'इद' अथवा 'शुक्ति' से इन्द्रिय सम्पर्क के द्वारा रजत् ज्ञात नही हो सकता। अत· भ्रामक ज्ञान की उत्पत्ति दोषो की उपस्थिति के कारण ही

माननी पडेगी। इसलिए यथार्थज्ञान एव भ्रामक ज्ञान इन दोनो अवस्थाओ में ज्ञान सामग्री भिन्न–भिन्न होती है। यथार्थ ज्ञान में ज्ञान सामग्री सामान्य होती है किन्तु भ्रामक ज्ञान की अवस्था मे दोषों का प्रभाव रहता है। दोष का अभाव किसी ज्ञान सामग्री का नैसर्गिक लक्षण होने के कारण सम्यक् ज्ञान का एक वाह्य कारण नहीं माना जा सकता है।

इस सम्यक् ज्ञान का दो अन्य प्रकार के ज्ञान, अर्थात भ्रामक ज्ञान एवं 'संशय' से विभेद माना जाता है। यह सम्यक् ज्ञान ही निश्चित एवं निष्काम कार्य को प्रवृत्त करने की योग्यता रखता है।[1]

न्याय मतानुसार 'सशय' पॉच प्रकार का माना जाता है यथा समान धर्म, असाधारण धर्म, विप्रतिपत्ति, उपलब्धि, एवं अनुपलब्धि। किन्तु इनमें भी कुछ विद्वान उपलब्धि एवं अनुपलब्धि को समान धर्म में अन्तर्भूत मानते हैं। किन्तु मध्व मतानुयायी 'जयतीर्थ' का मानना है कि 'असाधारण धर्म' एवं विप्रतिपत्ति सम्बन्धी प्रत्यक्षीकरण का भी 'समान धर्म' में ही समावेश रहता है। क्योकि असाधारण धर्म स्वयं दो वस्तुओं के स्मरण को प्रेरित नहीं कर सकता, जिससे सशय उत्पन्न होता है। 'शब्द' आकाश का असाधारण धर्म है, इसमें किन्ही दो पदार्थों के स्मरण की आवश्यकता नहीं रहती, जिनके मध्य संशय हो। साधारण धर्म भावात्मक अथवा अभावात्मक हो सकते हैं। यहॉ यह संशय सम्भव है कि 'शब्द', जो आकाश का एक असाधारण धर्म है, क्या आकाश के उन गुणों में से है, जो 'आकाश' एव नित्य वस्तुओं में समान है अथवा 'आकाश' अनित्य वस्तुओं के समान है ?

मध्यवानुयायी अपने 'विशेष' के सिद्धान्त के कारण एक ही वस्तु में दो विरोधी गुणों के अस्तित्व को मानते हैं। मध्व के मतानुसार ब्रह्म में कोई विशेष सद्गुण जो एकत्व का त्याग किये बिना अनेकत्व को धारण करने एवं एकत्व से

---

[1] अवधारणत्व च निष्कम्प प्रवृत्ति जनन योग्यत्वम् – जयतीर्थ विजय (प्रमाण पद्धति पर टीका, पृ0 10)।

उसका सामजस्य बनाए रखन मे उपयोगी होता है, उसे 'विशेष' कहते हे। यह 'विशेष' केवल ब्रह्म मे ही नही अपितु अन्य सभी वस्तुओ मे अस्तित्व रखता है। यथा–एक पट अपनी श्वेतता से भिन्न नही है, क्योकि वे दोनो एक अविभाज्य एकत्व का निर्माण करते है। अत यहॉ यह स्वीकार करना पडेगा कि पट मे ऐसा विशेष सद्गुण 'विशेष' विद्यमान है, जिसके द्वारा वह पट स्वय एकरूप रहकर भी उन गुणो की अनेकता को अभिव्यक्त करता है। ये विशेष अनन्त सख्या के पदार्थों मे विद्यमान रहते है, जबकि इनके स्वरूप मे कोई आन्तरिक भेद नही होता। प्रत्येक एकत्व मे उतने ही विशेष होते है जितने गुणो के माध्यम से वह पदार्थ स्वय को अभिव्यक्त करता है, किन्तु अन्य विशेषों से भिन्न होता है।[1] अत परस्पर विरोधी मतों अथवा विप्रतिपत्ति की स्थिति मे भी सशय भौतिक एव अभौतिक पदार्थों मे साधारण धर्मों के प्रत्यक्षीकरण के द्वारा उत्पन्न माना जा सकता है। अतएव मध्व दर्शन के मतानुसार 'सशय' केवल एक प्रकार का ही होता है।

जयतीर्थ के अनुसार 'अनध्यवसाय' अथवा अनिश्चितता को 'ज्ञान' नही माना जा सकता, वह तो जिज्ञासा मात्र है [2] तथा 'स्वप्न' मे अधिकाश अवचेतन स्मृति सस्कारो के कारण उत्पन्न होते है, अत संस्कारो से सम्बद्ध होने से वे मिथ्या नही है। किन्तु दोष इस सकल्पना मे निहित रहता है कि स्वप्न मे होने वाली स्मृति–प्रतिमाएँ उस स्वप्नकाल मे वास्तविक वस्तुगत अस्तित्व रखती है, अत यह अश भ्रम अथवा विपर्यय मानना चाहिए। 'सम्भावना' (ऊहा) को भी एक प्रकार का भ्रम मान लिया जाता है, जिसमे कई वस्तुओ मे से एक की सम्भावना

[1] तेष्युक्त लक्षण विशेषा अशेषाणामपि वस्तुषु प्रत्येकमनन्ता सन्त्यतो नोक्त दोषावकाश अनन्त इति उपलक्षणम् यत्र यावन्तो व्यवहारास्तत्र तावन्तो विशेषा इति ज्ञातव्यम। न्यायसुधा–पृ0 106

[2] सज्ञा विषय जिज्ञासा मात्र।

अधिक होती है।[1] अत स्पष्ट है कि सशय को दोलन की एक मानसिक वृत्ति माना जाता है।

प्रमाण निरूपण

प्रमाण के प्रत्यय को भारतीय दर्शन में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय माना जाता है। 'प्रमाण' शब्द दो भिन्न अर्थों मे प्रयुक्त किया जाता है– (1) असत्य अथवा भ्रामक सज्ञान से भिन्न एक सत्य मानसिक क्रिया के अर्थ मे, तथा (2) उन साधनो अथवा परिस्थितियों की सस्थिति के अर्थ मे, जो ज्ञानोत्पत्ति कराते है।

मध्वाचार्य 'प्रमाण' का लक्षण देते है कि 'प्रमाण वह है जो किसी ज्ञान के विषय को अपने यथार्थ रूप मे ग्राह्य बनाए 'यथार्थ प्रमाण,' मध्वाचार्य द्वारा दिए गए प्रमाण लक्षण का जयतीर्थ 'प्रमाण पद्धति' ग्रन्थ में विस्तार करते है।[2] अपने अपरोक्ष (साक्षात्) अथवा परोक्ष (असाक्षात्) रूप में ज्ञान की उत्पत्ति के द्वारा प्रमाण का कार्य व्यापार किसी वस्तु को ज्ञान का विषय बनाता है।[3] एक प्रमाण के दो कार्य व्यापार माने जाते है – प्रथम, किसी वस्तु को ज्ञान का विषय बनाना, तथा द्वितीय उस वस्तु की ज्ञेयता का सम्पादन करना।

वस्तु को ज्ञान का विषय बनाने वाले कार्य व्यापार मे प्रमाण उसका प्रत्यक्ष सम्पादन करते है, तथा वस्तु की ज्ञेयता का सम्पादन करने मे 'केवल' एव 'अनुप्रमाण नाम के दो प्रकार के प्रमाण माने जाते है।

इन दो कार्य व्यापारो से प्रमाण का प्रमाता एवं प्रमेय से भेद स्पष्ट हो जाता है, क्योकि ज्ञाता (प्रमाता) अथवा ज्ञेय (प्रमेय) ज्ञान के निमित्त कारण नही माने जा सकते है। ज्ञान किसी भी रूप में स्वय विषय में रूपान्तरण नही करता,

---

[1] जयतीर्थविजय (प्रमाण पद्धति पर टीका) पृ 0 10–13 ।

[2] ज्ञेयमनतिक्रम वर्तमान यथवारिथतमेव ज्ञेय यद्विषयी करोति नान्यथातत्प्रमाणम्–'प्रमाणपद्धति'– जयतीर्थ – पृ0 8।

[3] ज्ञान जननद् वाय ज्ञेगता सम्पद फ़्तोन -'जयतीर्थ विजय टिप्पणी, जर्नादन।

अपितु जब एक वस्तु का ज्ञान उत्पन्न होता है, तब वह वस्तु ज्ञेय बन जाती है। ज्ञान की अपने विषय के साथ यथार्थ अनुरूपता, मुख्यतया केवल ज्ञान मे ही पायी जाती है।[1] ज्ञान के साधन मात्र परोक्ष रूप मे इस आधार पर यथार्थ कहे जा सकते है, क्योकि वे यथार्थ ज्ञान के जनक होते है। ज्ञान के साधनो के रूप मे प्रमाण की व्याख्या के सम्बन्ध मे परस्पर विरोधी मत प्राप्त होते है। न्याय दर्शन कारणो की सस्थिति के रूप मे प्रमाण को परिभाषित करता है, जो ज्ञान को उत्पन्न करती है।

भारतीय दर्शनशास्त्र के अधिकांश तन्त्रों की प्रवृत्ति प्रमाण को इस ढग से परिभाषित करती है, कि उसमें 'स्मृति' का समावेश नही किया जाता । 'अनधिगतार्थगन्तृप्रमाणम् [2] के रूप मे कुमारिल 'प्रमाण' को परिभाषित करते है। इसका तात्पर्य है कि प्रमाण वह दृढ ज्ञान है, जो उत्पन्न हो, तथा अन्य ज्ञान से असम्बद्ध हो। [3] 'अनुभूति.प्रमाणम्' प्रभाकर द्वारा दी गयी परिभाषा है। मीमासक शालिकनाथ 'स्मृति' को प्रमाण से व्यतिरिक्त कर इस प्रकार परिभाषित करते है कि स्मृति एक ऐसा ज्ञान है जो मात्र पूर्व ज्ञान के सस्कारो से उत्पन्न होता है। इसी कारण वह मात्र पूर्व ज्ञान पर ही निर्भर करता है, तथा अनिवार्यत पूर्व अनुभव का उल्लेख नही कर सकता।[4] किन्तु 'प्रमाण' की परिभाषा से स्मृति का अपवर्जन मात्र इन्द्रिय सम्पर्क से असम्बद्ध शुद्ध स्मृति तक ही सीमित है। तात्पर्य है कि जो ज्ञान केवल पूर्व ज्ञान पर निर्भर करता है, अथवा उसी से उत्पन्न होता है, वह हमारे ज्ञान मे प्रत्यक्ष रूप से योगदान नही देता, अतएव वह प्रमाण नही है।[5]

---

1 ज्ञानस्यैव मुख्यतो यथार्थ्यम्।
2 श्लोक वार्तिक, चोदना सूत्र –80।
3 दृढ विज्ञानम, उत्पन्नम्, नाऽपि ज्ञानान्तरेण सम्वादम् ऋच्छति–।
4 प्रकरण पचिका–शालिकनाथ, पृ0 42
5 स्मृतिर्हि तदित्युपजायमाना प्राची प्रतीतिभनुरूध्यमाना न स्वतत्र्येण अर्थ परिच्छिनति इति न प्रमाण।–प्रकरण पचिका, पृ0 42

किन्तु मध्व दर्शन मे पूर्व सत्य अनुभव की स्मृति का भी सत्य ज्ञान के रूप मे समावेश किया जाता है। जयतीर्थ का मानना है कि स्मृति भी ज्ञान के विषय के अनुरूप हो सकती है, अतएव उसे वैध रूप से 'प्रमाण' कहा जा सकता है। प्रमाण के रूप मे स्मृति की सत्यता इस तथ्य से सिद्ध हो जाती है कि जन समान्य द्वारा अपने समस्त व्यवहारो मे उसका सत्य ज्ञान के रूप मे प्रयोग किया जाता है तथा लोक व्यवहार मे मात्र सत्य ज्ञान का उल्लेख किया जाता है। प्रत्यक्षादि प्रमाणो की सत्यता को सिद्ध करने का सार्वभौम साधन लोक व्यवहार के चरम साक्ष्य के अतिरिक्त अन्य कोई नही है।[1]

मध्व मतानुयायी 'स्मृति' को यथार्थ (सत्यज्ञान) मानते हैं। जयतीर्थ का मानना है कि जब एक विषय एक काल विशेष एव स्थान विशेष मे एक निश्चित स्वरूप के साथ चेतना में भाषित होता है तथा वास्तव में उस काल एव स्थान में उसी स्वरूप का होता है, तब यह ज्ञान सत्य अथवा यथार्थ है। 'स्मृति हमे स्पष्टत· इसी प्रकार का ज्ञान देती है। 'यथा उस समय वह ऐसा था'। 'स्मृति' अपरोक्ष रूप से 'मनस्' द्वारा उत्पन्न की जाती है, तथा सस्कारों के माध्यम से उसका विषय से सन्निकर्ष होता है। सस्कारों के द्वारा मनस् विषय विशेष के सम्पर्क मे आता है।[2] जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रियॉ केवल वर्तमान काल में क्रियाशील होते हुए भी प्रत्यभिज्ञा की प्रक्रिया को सस्कारो की सहायता से करती है, उसी प्रकार मनस् भी सस्कारो की सहायता से उस विषय का निर्देश कर सकता है, जिसने अपनी पूर्व अवस्था मे परिवर्तन कर लिया हो। [3]

विविध दर्शन तन्त्रो मे ज्ञान के स्वरूप एव उद्‌गम के सम्बन्ध मे विभिन्न दृष्टिकोण प्राप्त होते है। न्याय दर्शन कारणों की ऐसी सस्थिति के रूप मे

---

[1] न ह्यस्ति पत्यक्षादि प्रामाण्य साधकमन्यद् लोक व्यवहारात्– न्यायसुधा 2/1/2, अधिकरण', पृ0 251।

[2] सस्कारस् तु मनसस् तद् अर्थ सन्निकर्षरूप एव – जयतीर्थ।

[3] सस्कार सहकृतम् मन अननुभूतामपि निवृत्तपूर्वावस्था विषयीकुर्वत स्मरणम्जनयेत् यथा सस्कार सहकृताति सोयमित्यतीत–वर्तमानत्व विशिष्ट विषय प्रत्यभिज्ञा साधनानि प्रकृतेन्द्रियाणि मनोवृत्ति–ज्ञान जनयन्ति––– प्रमाण पद्धति पृ0 24।

'प्रमाण' को परिभाषित करता है, जो ज्ञान (उपलब्धि अथवा प्रमा) को उत्पन्न करती है। स्मृति के कारणो को प्रमाण से अपवर्जित किया जाता है, तथा उसका यह विभेद वह शाब्दिक आधार है कि सामान्यत स्मृति' पद का प्रयोग सस्कार जन्य ज्ञान का निर्देश करने मे किया जाता है, एव उसका 'प्रमा' अथवा सत्य ज्ञान से विभेद माना जाता है, जो अपने विषयों के अनुरूप होता है।[1]

जैन दार्शनिक विषय की अभिव्यक्ति के निर्देश (अर्थोपदर्शकत्व) को 'प्रमा' मानते है तथा बौद्ध मत मे विषय की वास्तविक प्राप्ति को 'प्रमा' रूप मे परिभाषित किया जाता है। (अर्थ प्रापकत्व)।[2]

जैन दार्शनिको का मत है कि यद्यपि ज्ञान के घटनाक्रम मे किये गए प्रयास के द्वारा एव तदनुसार विषय की प्राप्ति की जा सकती है, तथापि ज्ञान का व्यापार मात्र उसके द्वारा अभिव्यक्त विषय के निर्देश में ही निहित होता है।[3] अत इनके अनुसार प्रमा "स्वार्थ परिच्छित्ति" अथवा विषय के मानचित्र के समतुल्य है एव उसका तात्कालिक साधन अथवा 'प्रमाण' ज्ञान का आत्मगत आन्तरिक प्रकाश है जो उस वस्तुगत 'अर्थ परिच्छित्ति' अथवा विषयो के निर्धारण की उत्पत्ति करती है। स्वार्थ परिच्छित्ति, ज्ञान का व्यापार मात्र प्रतीत होने से उससे एकरूप है, तथा इस प्रकार प्रमाण, ज्ञान से एकरूप रहता है। किन्तु वस्तुगत निर्देशन को 'प्रमा' का सारतत्त्व मानने के कारण 'ज्ञान' अथवा ज्ञान की आन्तरिक अभिव्यक्ति को उसका साधन अथवा 'प्रमाण' माना जाता है। जैन दर्शन के मत मे न्याय शास्त्र द्वारा मान्य ज्ञान की उत्पत्ति के वाह्य भौतिक साधनो अथवा उपसाधनों को अस्वीकृत किया गया है। जैन दार्शनिको का

---

[1] प्रमासाधन हि प्रमाण न च स्मृति प्रमा लोकाधीना वधारणो हि शब्दार्थ सम्बन्ध, लोकश्च सस्कार मात्र जन्मन स्मृतेकान्यानुपलब्धिमर्था व्याभिचारिणी प्रमामाचष्टे तस्माद् तद धेतु प्रमाणमिति न स्मृति हेतु प्रसग ।– तात्पर्य टीका, पृ014।

[2] प्रवृत्ति मूला तूपादेयार्थ प्राप्ति न प्रमाणाधीन तस्या पुरूषेच्छाधीन प्रवृत्ति प्रभवत्वात्–प्रमेय कमल मार्तण्ड पृ07।

[3] यद्यप्य अनेकस्यात् ज्ञान क्षणात् प्रवृतौ अर्थ प्राप्ति श्तथापि पर्यालोच्यमानर्स्थ प्रदर्शकत्वमेव ज्ञानस्य प्रापकत्व नान्यत्– प्रमेय कमल मार्तण्ड, पृ07।

माननना है कि ज्ञान की अभिव्यक्ति ही तत्काल वस्तुगत निर्देशन एव वस्तुगत निर्धारण को उत्पन्न करती है, तथा अन्य उपसाधनो की सस्थिति (साकल्य अथवा सामग्री) मात्र ज्ञान के माध्यम से ही उसको उत्पन्न कर सकती है।[1] अतएव ज्ञान ही सबसे प्रत्यक्ष एव तात्कालिक पूर्वसाधन माना जा सकता है। साख्य मत को भी ये अस्वीकृत करते है जिसके अनुसार 'प्रमाण' इन्द्रियो का व्यापार है। प्रभाकर मत को भी ये अमान्य ठहराते हैं जिसके अनुसार 'प्रमाण' ज्ञान के व्यापार मे ज्ञाता द्वारा अचेतन स्तर पर की गयी प्रक्रिया है।[2]

बौद्ध दार्शनिक धर्मोत्तर का मत जैनमत के समीप है, जिसके अनुसार 'प्रमाण' एव प्रमाणफल' का 'ज्ञान' मे एकीकरण कर दिया गया है। धर्मोत्तर के मतानुसार 'प्रमाण' का अर्थ है विषय के प्रभाव से उत्पन्न प्रत्यय एवं विषय का सादृश्य, तथा प्रत्यय अथवा ज्ञान को प्रमाण फल कहा जाता है। किन्तु इसमे भी ज्ञान एवं उसे उत्पन्न करने वाले विषय का सादृश्य स्वय उस ज्ञान से व्यतिरिक्त नहीं है।[3] यह सादृश्यता 'प्रमाण' कही जाती है, क्योकि इसी सादृश्यता के कारण अनुभव के विषय–विशेष का निर्देश सम्भव होता है। यथा 'नीलत्व' का ज्ञान प्रत्यय की नीलत्व से सादृश्यता के कारण ही सम्भव होता है।

प्रभाकर एवं जैनमत के आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण एव न्याय शास्त्र के वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण का सामजस्य मध्वाचार्य अपनी प्रमाण की परिभाषा 'यथार्थ प्रमाणम्' मे करते है। उनका तात्पर्य है कि प्रमाण वह है जिसके द्वारा एक विषय अपने यथार्थ स्वरूप मे ज्ञात किया जाता है। उसको उत्पन्न करने वाला साधन वाह्य इन्द्रिय सम्पर्क इत्यादि हो सकता है, जिसे 'अनुप्रमाण' कहा जाता

---

[1] प्रमेय कमल मार्तण्ड, पृ0 2–4 ।

[2] एतेनेन्द्रिय–वृति प्रमाणमित्यभिद धान साख्य प्रत्यख्यात् एतेन प्रभाकरोऽप्यर्थ तथात्व प्रकाशको ज्ञातृ व्यापारोऽज्ञान रूपाऽपि प्रमार्णामेति प्रतिपादयन् प्रतिव्यूढ प्रतिपत्तव्य–प्रमेयकमल मार्तण्ड, पृ0 6।

[3] यदि तर्हि ज्ञानम प्रमिति रुपत्वात् प्रमाण फलम् कि तर्हि प्रमाण मित्याह, अर्थेन सह यत् सारूप्य अस्य ज्ञानस्य तत् प्रमाणमिह ननु ज्ञानादव्यतिरिक्त सादृश्यम् तथा च सति तदेव ज्ञान प्रमाणम् तदेव प्रमाण फलम्– न्याय विन्दु–टीका – पृ0 18।

है तथा जो न्याय दर्शन की 'सामग्री' के सदृश है, तथा 'साक्षी' की अन्त प्रज्ञा के अन्त·प्राज्ञ व्यापार का प्रयोग, जिसे 'केवल प्रमाण' कहते है, ये आत्मा के अनुरूप है।

मध्वाचार्य यथार्थ अनुरूपता के रूप मे 'प्रमाण' को दो वर्गो मे विभाजित करते है – 'केवल प्रमाण' एव 'अनुप्रमाण'। 'केवल प्रमाण' वह है जिससे ज्ञान के विषयो का अपरोक्ष एव तत्काल ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वस्तुत व अन्त प्रज्ञात्मक प्रक्रिया एव अन्तर्ज्ञान दोनों होता है। यह 'केवल प्रमाण' पुन· दो प्रकार का होता है – चैतन्य' के रूप मे, एवं 'वृत्ति' के रूप मे । इस 'चैतन्य' का उत्तम, मध्यम एवं अधम, सत् मिश्रित एव असत् के रुप मे वर्णित किया जाता है। 'वृत्ति' भी प्रत्यक्ष अनुमान एव आगम (श्रुति अथवा शब्द) के रूप मे तीन प्रकार की होती है।

'केवल प्रमाण' रूपी अन्तर्ज्ञान को मध्व सम्प्रदाय चार रूपो मे स्वीकार करता है–ईश्वर का अन्तर्ज्ञान, लक्ष्मी अथवा शाक्ति का अन्तर्ज्ञान', योगी जनो का अन्तर्ज्ञान, एव साधारणो जनों का अन्तर्ज्ञान।[1]

ईश्वर का अन्तर्ज्ञान सदैव सत्य, प्रामाणिक, स्वतन्त्र, अनादि एव नित्य, पूर्णत स्पष्ट एवं सर्वार्थ विषयक होता है। लक्ष्मी का अन्तर्ज्ञान ईश्वर पर निर्भर होता है, एव अपेक्षाकृत निम्न कोटि का होता है। किन्तु समान रूप मे अनादि, सत्य, प्रामाणिक होता है, एव स्वय ईश्वर के सम्पूर्ण विस्तार के अतिरिक्त सर्व वस्तुओ मे उसकी विषयता रहती है।

'योगि ज्ञान' योग के द्वारा प्राप्त विशेष रूप से दक्ष योगिजनो मे प्राप्त अतिशय ज्ञान होता है, जो ऋजुयोगि ज्ञान, तात्विक योगिज्ञान, एव अतात्विक योगिज्ञान रूप से तीन प्रकार का होता है। ऋजुयोगि जनो का ज्ञान ईश्वर एव लक्ष्मी के आशिक ज्ञान के अतिरिक्त समस्त वस्तुओ को ज्ञात करने मे सक्षम

---

[1] ईश्वरज्ञान लक्ष्मीज्ञान योगिज्ञान अयोगि ज्ञान चेति– न्याय पद्वति, पृ0 16।

होता है। ये योगिजन ब्रह्मत्व के अधिकारी होते है। स्वरूप ज्ञान एव मनोवृत्ति रूप ज्ञान के भेद से यह दो प्रकार का होता है।

तात्विक योगिज्ञान अपेक्षाकृत कुछ निम्न कोटि का होता है, जो सर्वविषयक नही होता। इसे देवताओ का ज्ञान की भी माना जाता है। इसके उपरान्त साधारण जनो का ज्ञान होता है। योग्यता के क्रमानुसार मुक्ति योग्य जीवो का स्वरूप ज्ञान यथार्थ, नित्य, ससारी जीवो का यथार्थ तथा साधारण निम्न कोटि के जीवो को अयथार्थ ज्ञान होता है।

अन्तःप्रज्ञा (केवल) के रूप मे प्रमाण का अन्त प्रत्ता के साधन (अनुप्रमाण) से विभेद होता है। यह अनुप्रमाण तीन प्रकार का होता है – प्रत्यक्ष, अनुमान एव आगम (शब्द)।

प्रत्यक्ष प्रमाण

प्राय· आसन्न एव अव्यवहित रूप से विद्यमान वस्तुओ का ग्राहक साधन अर्थात् निर्दोषे इन्द्रियो से वस्तु सन्निकर्ष को 'प्रत्यक्ष' कहते है। सात प्रकार के दोषो के कारण यह इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष दोषपूर्ण हो जाता है। ये सात दोष हैं–

(1) विषय से इन्द्रिय की अत्यधिक दूरी,

(2) अत्यधिक समीयता,

(3) अत्यधिक लघुता,

(4) मध्य मे आने वाले अवरोध,

(5) अपने समान वस्तुओ के साथ मिश्रित होने,

(6) अभिव्यक्त होने, तथा

(7) अन्य वस्तुओ के सदृश होने के कारण दोषपूर्ण हो जाते हैं।

मध्वमतानुसार ज्ञानेन्द्रियॉ दो प्रकार की होती है। इसमे से प्रमाता का स्वरूपेन्द्रिय अन्त प्रज्ञात्मक शक्ति 'साक्षी' कहलाता है। इसके विषय है– आत्मा का स्वरूप एव उसके धर्म, अविद्या, मनस् एव उसकी वृत्तियॉ, सर्व वाह्योन्द्रियो

का ज्ञान, सुख, दु खादि, काल एव अव्याकृत आकाश।[1] यह अन्त प्रज्ञात्मक शक्ति 'साक्षी' अपने कार्य व्यापारों के कारण वाह्य विषयो के सम्पर्क मे रहती है। यद्यपि वह 'साक्षी' सदैव ही ऐन्द्रिय–निरीक्षणो के विषय–ज्ञान को सत्य ज्ञात करने में समर्थ होती है, तथापि यह अपेक्षित नही कि उसका निर्णय सदैव वस्तुगत रूप से सत्य हो। ईश्वर एव योगीजनो में वह आत्मगत एवं व्यक्तिगत दोनो रूपों मे तथ्यो के अनुरूप होती है। साधारण जनों मे वह एक स्थिति विशेष मे वस्तुगत रूप मे अनुरूप हो सकती है, अथवा नही भी हो सकती, अथवा उसकी सामग्री वस्तुगत तथ्यो के अनुरूप हो सकती है, अथवा नहीं हो सकती, किन्तु वह ज्ञानेन्द्रियो द्वारा उपस्थित विषय–ज्ञान को ज्ञात करने में सदैव अनुरूप रहती है।[2]

गन्ध, रस, रूप, स्पर्श श्रवण, एव 'मनस्' ये साधारण ज्ञानेन्द्रिया मानी गयी है दृश्येन्द्रिय रंग युक्त वाह्य पदार्थो का प्रत्यक्ष करती है, इसी प्रकार कर्णेन्द्रिय द्वारा 'शब्द' का रसनेन्द्रिय द्वारा 'रस' का घ्राणेन्द्रिय द्वारा गन्ध का, त्वगेन्द्रिय द्वारा स्पर्श का प्रत्यक्ष होता है। 'मनस्' सर्व ज्ञानेन्द्रियो एव स्मरण–शक्ति का अधीक्षक होता है। 'मनस्' के जिन दोषो के कारण त्रुटि ज्ञान होता है, वे भावावेग एव आसक्तियॉ है, एव अन्य ज्ञानेन्द्रियो के दोष पाण्डुरोग इत्यादि व्याधियॉ अथवा दर्पण जैसे मध्यवर्ती माध्यम विकर्षणात्मक प्रभाव उत्पन्न करते है। साधारणत, पच ज्ञानेन्द्रियॉ 'मनस्' की वृत्तियों को उत्पन्न करती है।

---

[1] इन्द्रिय शब्देन ज्ञानेन्द्रिय गृह्येयते, तद् द्विविध प्रमातृस्वरूप प्राकृत च तत्र स्वरूपेन्द्रिय साक्षीत्युच्यते, तस्य विषय आत्मस्वरूप तद्धर्म अविद्या मनस् तद्वृत्तय वाह्येन्द्रियान सुखादय कालव्याकृताकाशच्च ––– प्रमाण पद्धति, पृ0 22।

[2] प्रमाण पद्धति पृ0 26।

ज्ञानेन्द्रियों की प्रत्यक्ष प्रक्रिया

न्याय दर्शन सम्मत छ प्रकार के सन्निकर्ष[1] की आवश्यकता का मध्व मतानुयायी जयतीर्थ प्रत्याखान करते है।[2] उनके अनुसार मध्व दर्शन समवाय सम्बन्ध को स्वीकार नही करता, साथ ही वस्तुओ एव गुणो मे भी किसी प्रकार के भेद को अस्वीकार करता है।[3] अत जयतीर्थ का मानना है कि इन्द्रिय सन्निकर्ष एक ही घटना के रूप मे सम्पन्न माना जाना चाहिए। मध्व मतानुसार 'आत्मा' एवं उसके धर्मों का अन्त प्राज्ञ सत्ता (साक्षी) द्वारा अपरोक्ष प्रत्यक्ष किया जाता है, एवं 'मनस्' के सम्पर्क की कोई आवश्यकता नही समझी जाती। इसी कारण छः प्रकार के इन्द्रिय सन्निकर्ष की भी कोई आवश्यकता नही पडती।

न्याय दर्शन एव अद्वैत वेदान्त मे 'निर्विकल्पक' एव 'सविकल्पक' के भेद से प्रत्यक्ष प्रमाण दो प्रकार के माने जाते है। न्याय मतानुसार निर्विकल्पक ज्ञान का तात्पर्य है विषय का स्वय मे ऐसा सरल सज्ञान जो आठ प्रकार के प्रत्ययात्मक विकल्पो से रहित हो, ये आठ विकल्प हैं– द्रव्य विकल्प, गुण विकल्प, क्रिया विकल्प, जाति विकल्प, विशेष विकल्प, समवाय विकल्प, नाम विकल्प, अभाव विकल्प। किन्तु जयतीर्थ प्रत्यक्षो के इन विकल्प भेदो को स्वीकार नही करते है। वे मानते है कि ये विकल्प 'विशेष' एव समवाय नामक उन दो पदार्थों की मान्यता पर आधारित है जो मध्व दर्शन मे मान्य ही नही है। नाम विकल्प के विषय मे मत है कि किसी प्रत्यक्ष पदार्थ का नाम, पश्चात् क्षण मे क्रियाशील 'स्मृति' के द्वारा ही ज्ञात किया जाता है, तथा किसी पदार्थ की सत्ता का अभाव स्वय उस सत्ता की स्मृति पर निर्भर करता है। अतएव यहॉ 'स्मृति के द्वारा ही प्रत्यक्ष होने से नाम विकल्प एव अभाव विकल्प की अपेक्षा ही

---

[1] छ प्रकार के इन्द्रिय सन्निकर्ष है– (1) सयोग, (2) सयुक्त समवाय, (3) सयुक्त समवेत समवाय, (4) समवाय, (5) समवेत समवाय, (6) विशेषण विशेष्य भाव।

[2] भारतीय दर्शन का इतिहास –भाग1, एस0 एन0 दास गुप्ता, पृ0 334।

[3] गुणगुण्य भेद –जयतीर्थ।

नही है। इस प्रकार मध्व मतानुयातियो द्वारा निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का यह स्वरूप स्वीकार नही किया जाता। वे समस्त प्रत्यक्षो को सविकल्पक ही मानते हैं।

अद्वैत वादियों के प्रत्यक्षीकरण के सिद्धान्तानुसार –विषय' उपस्थित रहता है तथा अन्त करण उसके आकार मे परिवर्तित होकर उसका प्रत्यक्ष करता है। द्वैतवादी व्यासतीर्थ कहते है कि यदि अद्वैतवादियो का यह मत माने तो प्रत्यक्षीकरण के विषय मानसिक नही माने जा सकेगे और यदि विषय केवल मानसिक होते, तो उनका प्रत्यक्ष करने के लिए ज्ञानेन्द्रियों के अनुप्रयोग की आवश्यकता ही नहीं रहती यद्यपि स्वप्नावस्था मे मानसिक विषयो का प्रत्यक्षीकरण किया जाता है, किन्तु दृश्येन्द्रिय आदि का प्रयोग नही होता, ये स्वप्नावस्था का व्यावहारिक अनुभव से भेद भी है व्यावहारिक प्रत्यक्ष अवधि मे अपेक्षाकृत अधिक होते है तथा इन्द्रिय सन्निकर्ष एव मानसिक प्रत्यक्ष दोनो पर निर्भर होते हैं। इसके अतिरिक्त अद्वैत वादियो का मानना है कि परोक्ष ज्ञान की अवस्था मे ज्ञानेन्द्रियो के साहचर्य में अन्त करण की प्रत्यक्ष प्रक्रिया के बिना, जिसमे विषयों के साथ वास्तविक सम्पर्क स्थापित हो, विषय प्रकाशित हो जाते हैं, किन्तु अन्तःकरण के रूपान्तरणो के भेद के आधार पर ही प्रत्यक्ष (अपरोक्ष) एव परोक्ष ज्ञान की समुचित व्याख्या सभव है। इसके लिए 'अन्त करण' के वाह्य गमन अथवा अन्त स्थिति की आवश्यकता नही है। मध्व मतानुयायी मानते है कि अन्त करण का शरीर से वाह्य गमन करते हुए भी विषय को अभिव्यक्त करने वाले शुद्ध चैतन्य के स्वरूप को अन्त करण की वृत्ति मे प्रतिबिम्बत चैतन्य के रूप मे कल्पित करना कठिन है।

द्वैतवादी इस आशका का निराकरण करते हैं कि अन्त करण वृत्ति मे प्रतिबिम्बित चैतन्य मिथ्या होने के कारण जगत के विषयों का मिथ्या सत्ता पर आरोपण सभव नही है एव यदि अन्त करण वृत्ति मे प्रतिबिम्बत चैतन्य विषय का आवरण दूर करता है तो उसको अभिव्यक्त भी करेगा।

पुन द्वैतवादी ये भी मानते है कि यह स्वीकार नही किया जा सकता कि वृत्ति स्थूल भौतिक विषयो के आकार को ग्रहण करती है, क्योंकि इस प्रकार से वह भी उतनी ही स्थूल एव जड हो जाएगी, जितने कि भौतिक पदार्थ है। यदि अन्तकरण एक भावात्मक विषय के आकार को ग्रहण करेगा तो उसे अभावात्मक आकारो को भी ग्रहण करना पडेगा, किन्तु यह असम्भव ही होगा कि अन्तकरण एक ही काल मे भावात्मक एवं अभावात्मक दोनो प्रकारो को ग्रहण करे। इस प्रकार द्वैतवादी अद्वैतभिमत 'अन्त करण की वृत्ति द्वारा प्रत्यक्ष' के सिद्धान्त का खण्डन करते हैं।

अनुमान प्रमाण

मध्वाचार्य का मानना है कि अनुमान का कारण एक दोष रहित तर्क होता है, जिसके द्वारा उसकी सहवर्तिता के आधार पर किसी वस्तु का अभिनिश्चय किया जा सकता है।[1] जयतीर्थ इस साहचर्य व्याप्ति के स्वरूप को अपृथक् व्याप्ति अथवा अविनाभाव के रूप मे वर्णित करते है। व्यासतीर्थ 'तर्क ताण्डव' ग्रन्थ में स्पष्ट करते है कि इस अपृथक् व्यप्ति का अर्थ वस्तुत ऐसे अनुभव का बोध होना चाहिए, जो अग्राहय मान्यता अथवा उपपत्ति को प्रेरित करे।

जब एक विशेष देश काल सम्बद्ध अनुभूत वस्तु किसी अन्य देशकाल सम्बद्ध अनुभूत वस्तु की मान्यता के अतिरिक्त असत्य हो, तब यह स्वीकार करना पडता है कि उन दोनो मे स्थित सम्बन्ध एक व्याप्ति सम्बन्ध' है, जो पूर्वोक्त (विशेष देश काल सम्बद्ध) के आधार पर पश्चायुक्त (अन्य देश काल सम्बद्ध) के अनुमान को प्रेरित करता है।[2] व्यासतीर्थ का मानना है कि मध्वाचार्य अपने 'प्रमाण लक्षण' ग्रन्थ मे इस मत का समर्थन करते है तथा वे स्पष्ट कहते है कि सत्य अनुमान के समस्त उदाहरणो मे अवशेष विधि (परिशेष) आवश्यक

---

[1] भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग4, एस0 एन0 दासगुप्ता, पृ0 161।

[2] यद्देशकालसम्बन्धस्य यस्य यद्देशकालसम्बन्धेन येन विनानुपपत्तिस्तत्यिव तेन सहव्याति–तर्क ताण्डव'।

विधि होती है।[1] किसी सत्य अनुभव के सम्बन्ध में अनुपपत्ति के कारण ही एक अनुमान की प्रक्रिया मे साध्य की आवश्यकता सिद्ध होती है।[2]

गंगेशोपाध्याय न्याय सम्मत अनुमान की परिभाषा देते है, जिसमे वे साध्य एव हेतु के सह अस्तित्व (समानाधिकरण्य) के रूप मे व्याप्ति की व्याख्या करते हैं, तथा मानते है कि साध्याभाव के साथ हेतु का भी अभाव देखा जाता है। मध्व मतानुयायी व्यासतीर्थ इस व्याख्या का खण्डन करते है। वे कहते है कि अनुमान के सभी उदाहरणों मे हेतु में साध्य की उपस्थिति सार्वभौम रूप से सत्य नहीं होती। यथा, निम्न क्षेत्रों में नदी के जल भराव बढ जाने पर ऊपर के क्षेत्र मे वर्षा होने के अनुमान मे हेतु का साध्य के साथ कोई अवकाशित सह अस्तित्व नही होता।

तर्क

अनुमान को उत्पन्न करने वाली मानसिक क्रिया के संघटक के रूप मे विद्यमान निर्धारक दोलन को 'तर्क' अथवा 'ऊह' कहते हैं।[3] 'न्याय सूत्र' मे गौतम इसका वर्णन सत्य के ज्ञान की प्राप्ति की दृष्टि से किये गये तर्क के रूप में करते हैं, जिसमें यह निर्धारित करने का प्रयास किया जाता है कि किसी तथ्य मे एक धर्म विशेष पाया जाता है, तथा यह प्रयास उस निर्धारण के हेतु से सम्बन्धित समुचित पृच्छा पर आधृत होता है।

वात्स्यापन कहते है कि तर्क न तो स्वीकृत 'प्रमाणो' में समाविष्ट किया जाता है, एव न ही वह एक पृथक 'प्रमाण' ही है। अपितु वह एक ऐसा व्यापार है जो 'प्रमाणो के सत्य ज्ञान को निर्धारित करने मे सहायता देता है।[4] तर्क

---

[1] परिशेषोऽर्थापत्तिरनुमानमित्यविशेष—प्रमाण लक्षण, पृ0 27।

[2] अनुमानमपि आवश्यकानुपपत्यैव गमकम्—'तर्क ताण्डव'।

[3] ऊहत्व च मानसत्वव्याप्यो जाति विशेष 'तर्कयामि इत्यानुभवसिद्ध— 'विश्वनाथ वृत्ति' 1—पृ0 40

[4] तर्को न प्रमाण सगृहितो न प्रमाणन्तरम्, प्रमाणानामनुग्राहकस्तावज्ञानाय परिकल्प्यते।—वृस्यायन भाष्य 1/1/1

भाष्य' मे केशव मिश्र तर्क को संशय मे समाविष्ट मानते हे।[1] किन्तु अन्नभट्ट 'तर्क दीपिका' मे कहते है कि यद्यपि 'तर्क' की गणना विपर्यय मे करना उचित है, तथापि चूकि वह प्रमाणों की सहायता करता है अत उसकी पृथक गणना की जानी चाहिए।[2] अनुमान प्रमाण मे 'तर्क की उपयोगिता इसलिए आवश्यक है कि वह मन को साध्य मे हेतु के अस्तित्व के व्यभिचार के उदाहरणो को अभाव के प्रति आश्वस्त करता है तथा इस प्रकार हेतु एव साध्य की व्याप्ति के प्रत्यय के निर्माण में सहायक होता है। [3]

विश्वनाथ का मानना है कि 'तर्क' हेतु के 'व्यभिचार' के सम्भाव्य उदाहरणों के सम्बन्ध में संशयो का निवारण करता है, यथा यदि धूम का अस्तित्व किसी ऐसे उदाहरण मे होता जहॉ वह्नि नही हो तो वह्नि धूम का कारण नहीं होती। इस प्रकार 'तर्क' 'व्याप्ति' के ज्ञान को अत्यावश्यक बना देता है, अतएव अनुमान की क्रिया से प्रत्यक्ष रूप में नही अपितु अप्रत्यक्ष रूप में (परम्परया) सहायक होता है।[4]

विश्वनाथ इस 'तर्क' को पाच प्रकार का मानते है यथा–

(1) आत्माश्रय दोष, यथा यदि इस घट का ज्ञान इस घट के ज्ञान से उत्पन्न होता है तो वह इस घट से भिन्न होना चाहिए।

(2) अन्योन्याश्रय दोष, यथा यदि यह घट ज्ञान–जन्य ज्ञान का विषय है तो वह घट से भिन्न होना चाहिए।

---

[1] तर्क भाष्य, पृ0 44,

[2] तर्क दीपिका, पृ0 88,

[3] व्यभिचार ज्ञानाभाव सम्पादकत्वेन तर्कस्य व्याप्तिगृहे उपयोग– दधीति, पर भावानन्दी न्याय कोश से उद्धृत पादटिप्पणी, पृ0 292।

[4] तथा च धूमो यदि वह्निव्यभिचारी स्यात् वह्निजन्यो न स्यातित्यनेन व्यभिचार शकानिरासे निरकुशेन व्याप्ति ज्ञानेन अनुमितिरिति परम्परया एवास्य उपयोग– विश्वनाथ वृत्ति 1/1/40।

(3) चक्रक दोष, यथा यदि यह घट जन्य किसी अन्य वस्तु से उत्पन्न होता तो वह घट जन्य अन्य वस्तु से जन्य किसी भी वस्तु से भिन्न है।
(4) अनवस्था दोष, यथा यदि 'घट' नामक जाति प्रत्यय घटो का उल्लेख करता है तो वह घट जन्य वस्तुओ का उल्लेख नही करता।
(5) प्रमाण बाधितार्थ प्रसग दोष, यथा यदि धूम वह्नि के अभाव मे अस्तित्व रखता है तो वह्नि जन्य नही हो सकता अथवा यदि पर्वत वह्नि मान नही होता तो वह धूमवान नहीं होता।[1]

व्याप्ति प्रत्यय के निर्माण मे 'तर्क' की प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए मथुरानाथ का मानना है कि जब कोई वह्नि के समस्त ज्ञात उदाहरणो मे धूम का अस्तित्व देखकर तथा वह्निरहित स्थानो में धूमाभाव देखकर भी यह सशय करे के धूम वह्नि से उत्पन्न होता है अथवा नहीं, तब तर्क समस्त वैध सशयो के निवारण में सहायक होता है। तर्क रूपी विचारधारा मात्र तभी व्याप्ति प्रत्यय के निर्माण में सहायक हो सकती है जब उनके विधानात्मक एवं निषेधात्मक उदाहरणो का निरीक्षण किया जा चुका हो, तथा एक अन्त·कालीन निश्चितता प्राप्त हो चुकी हो। ऐसा हो जाने पर भी जब 'तर्क' द्वारा स्पष्ट नही हो पाता तब संशय धारा प्रवाहित हो जाती है।[2]

किन्तु श्री हर्ष 'वेदान्त' के दृष्टिकोण से युक्ति देकर शका निवारण मे तर्क की उपयोगिता को अस्वीकृत करते हैं। उनका मानना है कि यदि 'तर्क' समस्त उदाहरणो मे अनिवार्यत शंकाओं का निवारण करता है तथा किसी विशेष व्याप्ति प्रत्यय के निर्माण में सहायक होता है, तो यह कथन स्वय किसी अन्य व्याप्ति प्रत्यय पर आधृत होगा, एव तब अनवस्था दोष उत्पन्न होता है। पुन., यदि हम वह्नि एव धूम के सार्वभौम साहचर्य को जानते है तथा अन्य

---

[1] विश्वनाथ वृत्ति 1/1/40।
[2] तत्त्व चिन्तामणि – भाग 2, पृ0 219 – 281 ।

किसी तत्त्व को सार्वभौम रूप में अग्नि को व्याप्त नही देखते, तब तर्क द्वारा यह सिद्ध नहीं होता कि उसमे ऐसा कोई तत्त्व स्थित नही है जो वस्तुत धूम का कारण हो। 'तर्क' जो 'स्वक्रिया–व्याघात' की मान्यता के द्वारा संशय का निराकरण करता है तथा जो व्याप्ति का समर्थन करता है, स्वय व्याप्ति पर आधारित न होने के कारण स्वभावत अपने उक्त कार्य को करने मे असफल रहेगा, क्योकि यदि यह मान लिया जाए कि ऐसा आधारहीन तर्क व्याप्ति की स्थापना करता है, तो यह स्वय एक 'व्याघात' होगा।

परन्तु व्यासतीर्थ 'तर्क' ताण्डव' ग्रन्थ मे स्पष्ट करते है कि 'तर्क व्याप्ति प्रत्यय की एक अपरिहार्य अवस्था नही है। 'तर्क' की प्रक्रिया के बिना आप्त पुरूषों में श्रद्धा के द्वारा अथवा पूर्व जन्म के अनुभवो से प्राप्त वंशगत सस्कारो के द्वारा अथवा सर्वमान्य मत की सम्मति के द्वारा व्याप्ति के प्रत्यय को प्राप्त किया जा सकता है। वे मानते है कि 'तर्क' प्रत्यक्ष रूप मे व्याप्ति की स्थापना मे सहायक नही होता, क्योकि साहचर्य के व्यभिचार के अभाव के ज्ञान से सापेक्ष तत्सम्बन्धी व्यापक अनुभव (भूयो दर्शन) के द्वारा व्याप्ति का साक्षात् ग्रहण कर लिया जाता है।[1]

वाचस्पति मिश्र भी इसी मत को मानते है। व्यासतीर्थ का मानना है कि तर्क का व्यापार जो उपाधियो के अभाव का निर्धारण करता है, उसकी सदैव अपेक्षा नहीं होती मात्र कुछ प्रकार के अनुमान मे आवश्यकता होती है। यदि साहचर्य के व्यभिचार का ज्ञान न हो तो साहचर्य के उदाहरणों से ही साक्षी तत्काल व्याप्ति के प्रत्यय का निर्माण का लेता है।

व्यासतीर्थ 'तर्क' पद का प्रयोग न्याय दर्शन सम्मत अर्थ में करते है। वे मानते है कि शकाओ का निवारण व्याप्ति प्रत्यय के निर्माण के लिए अपरिहार्य

---

[1] अपि च तर्को न साक्षाद् व्याप्ति ग्राहक भूयोदर्शनव्यभिचारादर्शनसहकृत प्रत्यक्षेणैव तद् ग्रहणात् – तर्क ताण्डव, (पाडुलिपि, पृ0 20)

नही है, किन्तु 'तर्क' साध्याभाव के कारण साधनाभाव के ज्ञान की अनिवार्य उत्पत्ति मे निहित है। इस दृष्टिकोण से वह 'अनुमान' से एक रूप हो जाता है।

जयतीर्थ भी 'प्रमाण पद्धति' ग्रन्थ मे कहते है कि 'तर्क' का अर्थ है किसी विशेष धर्म अथवा वस्तु (साधन) के प्रत्यक्षीकरण करने अथवा अगीकार करने पर किसी अन्य वस्तु (साध्य) की अनिवार्य मान्यता को स्वीकार करना।[1] यथा, यह अगीकार करने पर कि पर्वत मे वह्नि नही है, हमे अनिवार्यत यह स्वीकार करना पडेगा कि उसमे धूम नहीं है, यह 'तर्क' भी है, एव 'अनुमान' भी।[2]

इस प्रकार 'तर्क' वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक परिकल्पना की मान्यता स्वभावत निष्कर्ष की सत्यता को सिद्ध करती है। इसलिए यह एक 'प्रमाण' अथवा ज्ञान का प्रामाणिक साधन है, एव इसे सशय अथवा मिथ्या ज्ञान नही माना जाना चाहिए। व्यासतीर्थ के अनुसार तर्क का दोहरा व्यापार होता है, एक शकाओं के निवारण एव अन्य प्रमाणो के सहायक के रूप में एवं दूसरा अनुमान के रूप में। वह अनुमान से एक रूप है एव स्वयं एक 'प्रमाण' है।[3]

'तर्क' को एक निषेधात्मक अनुमान माना जा सकता है, यथा यदि वह वह्नि से रहित होता तो वह धूम से रहित होता, किन्तु वह ऐसा नही है इस प्रकार से वह एक स्वतन्त्र अनुमान है, तथा उसका उपयोग एक सकारात्मक अनुमान को सुदृढ बनाने मे किया जाता है, अत उस अवस्था में उसे अनुमान

---

[1] (क) कस्यचिद धर्मस्यागी कारेर्थान्तरष्यापादन तर्क । – प्रमाण पद्वति पृ0 36 अ।
(ख) मम्मते तु अगीकृतेन साध्याभावेन सह अनगीकृतास्य साधना भावस्य व्यापकत्व प्रमा वा साध्याभावागीकार निमित्तक साधनाभावस्यागी कर्त्तव्यत्वप्रमा वा तर्क्यतऽअनेन इति व्युपत्त्या तर्क– तर्क ताण्डव पाण्डुलिपि पृ0 78।

[2] पर्वतो निर्धूमत्वनागीकर्त्तव्य निरग्नि कत्त्वेना गीकृतत्वाद् ह्रदवतित्यत्नुमा नमेव तर्क – तर्क ताण्डव पृ0 84।

[3] कि च परमते कि विषय परिशोधने ————————कि वा वर्द्धमानादिरीत्या साध्याभाव सदेह निर्वतनेन वही पृ0 92।

का एक अतिरिक्त आधार माना जा सकता है।[1] जैसे प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात वस्तु को पुन· अनुमान द्वारा सुदृढ बनाया जा सकता है।[2]

व्याप्ति

'व्याप्ति' शब्द सज्ञा शब्द है तथा इसका तात्पर्य होता है साध्य (वह्नि) हेतु (धूम) के समस्त उदाहरणो मे व्याप्त होता है। तात्पर्य है कि साध्य का वृत्त, धूम के वृत्त से छोटा नहीं होता है तथा उसको परिवेष्टित करता है इसलिए साध्य व्यापक कहलाता है एवं हेतु (धूम) 'व्याप्य' कहा जाता है। धूम व्याप्य है एवं वह्नि व्यापक। अव्यभिचारि सम्बन्ध का अर्थ है कि जहॉ एक है वहॉ दूसरा भी होना चाहिए।

यह 'अव्यभिचारी' सम्बन्ध चार प्रकार का हो सकता है–

(1) दोनो वृत्तो का सताप (सभवृत्ति) हो सकता है एवं उस स्थिति मे हेतु को साध्य माना जा सकता है तथा उसे हेतु माने गए साध्य से अनुमित किया जा सकता है।

(2) जब एक वृत्त दूसरे वृत्त से छोटा हो, जैसे धूम एवं वह्नि के उदाहरण मे वह्नि का वृत्त धूम के वृत्त से बडा अतएव धूम को वह्नि से अनुमित किया जा सकता है, पर वह्नि धूम से अनुमित नही की जा सकती। 'व्यापी' 'व्यापक' से छोटा है।

(3) जहा दोनो वृत्त परस्पर अपवर्जित हो [3] यथा गोत्व का जाति प्रत्यय एव 'अश्वत्व' का जाति प्रत्यय, जहॉ एक होता है, वहॉ दूसरा नही होता।

---

[1] प्रमाणानामनुग्राहक।

[2] साधनानुमान विनैव यदि निरग्निक स्यातर्हि निर्धूम स्यात्तथा चाय निधूर्म इति तर्करूपानुमाने नैवाग्निसिद्धे – वही, पृ0 90

[3] परस्पर परिहारेणैव वर्तते।

(4) जहॉ दोनो कभी तो परस्पर अपवर्जित हो तथा कभी–कभी उनमे समवृत्ति भी प्राप्त होती है, जैसे भोजन पकाना स्त्रियो का कार्य है, फिर भी पुरूष भी भोजन पकाते है।

वह्नि एव धूम के अस्तित्व के निरीक्षण मे, सहज ही मन मे विचार आता है कि क्या इसी स्थान मे ये साथ–साथ दृष्टिगोचर होते हैं अथवा स्थानो एव अन्य कालों मे भी वे साथ–साथ या अपवर्जित रूप मे होते है। फिर अनेक उद्वहरणों के निरीक्षण के उपरान्त यह ज्ञात होता है कि जहॉ धूम है, वहॉ अग्नि है तथा जहॉ वह्नि नहीं, वहॉ धूम भी नहीं है। किन्तु कुछ उदाहरणो मे वह्नि है किन्तु धूम नही है। पुन विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि धूम का वह्नि से सम्बन्ध आर्द्र ईंधन द्वारा निर्धारित होता है। इस 'आर्द्रेन्धन' को 'उपाधि' कहा जाता है।[1] यदि यह उपाधि न होती तो वह्नि का धूम से तथा धूम का वह्नि से निरपेक्ष साहचर्य होता। यह उपाधि व्याप्य के सभी उदाहरणों में अस्तित्व रखती है किन्तु व्यापक के सभी उदाहरणो मे नही।[2] जहॉ साह्चर्य इस प्रकार की उपाधि से निर्धारित नही होता, वहॉ वह सार्वभौम रूप से पारस्परिक होता है।

जब व्याप्ति सम्बन्ध मे कोई उपाधि नही होती, तब नियत व्याप्ति के प्रत्यय का उदय होता है।[3] अतएव नियत व्याप्ति को ऐसे व्यापक की सहायता से प्रत्यक्षीकृत किया जाता है जिनके साथ उपसाधनो के रूप मे साहचर्य के अपवाद के ज्ञान का अभाव एव उपाधियो के अभाव का निश्चय क्रियान्वित रहता है। एक बार धूम एव वह्नि के उपाधिरहित नियत परस्पर सम्बन्ध को ग्रहण कर

---

[1] यह उपाधि 'पर्वत मे धूम ह चूकि वहॉ अग्नि है' अनुमान को असत्य बना देगी।

[2] इतर निरूपणाधीन निरूपणकत्वमुपाधि लक्षणम्– मध्व सिद्धान्तसार, पृ0 6

[3] अविनाभाव प्रमिति – या तु पद्धतवुपाधि निश्चयस्य सहकारित्वोक्ति सा तु उपाधि शकास्थाभिप्राया न तु सार्वत्रिकाभिप्राया अन्यथा उपाध्याभावनिश्यचस्थ व्याप्ति सापेक्ष तर्काधीन त्वेन नवस्थापातात् –तर्क ताण्डव (पाण्डुलिपि– पृ0 22)

लेने पर, फिर जहॉ धूम का प्रत्यक्ष होता है वहॉ वह्नि को अनुमित किया जाता है।[1]

जयतीर्थ 'प्रमाण पद्धति 'ग्रन्थ मे 'व्याप्ति' को वस्तुत अविनाभाव के रूप में परिभाषित करते है। इस अपृथक् व्याप्ति का सभी उदाहरणो मे अभावान्वय है अर्थात् साध्य अथवा अनुमित वस्तु के अभाव के समस्त उदाहरणो मे 'हेतु' के अभाव के रूप मे वर्णन नही किया जा सकता क्योकि ऐसी स्थितियॉ भी होती है जिनमें ऐसे निषेधात्मक उदाहरणो के अभाव के होते हुए भी अनुमान की संभावना होती है यथा, ध्वनि ज्ञेय होने के कारण वाच्य है, यहॉ ऐसा कोई निषेधात्मक उद्धरण नहीं है जिसमें वाच्यता न हो। यह कैवलान्वयी 'अनुमान का उदाहरण बनता है। इस प्रकार के अनुमान मे 'व्याप्ति' की परिभाषा, जिसमे व्याप्ति के अभिनिश्चय के लिए निषेधात्मक उदाहरणो के अस्तित्व की आवश्यकता होती है, उपयुक्त नही' प्रतीत होती। हेतु एवं साध्य में किसी प्रकार के अवकाशिक साहचर्य की भी व्याप्ति की एक आवश्यक अवस्था के रूप मे अपेक्षा नहीं की जा सकती।

अतः अनुमान का निर्धारण करने वाली व्याप्ति का प्रमुख लक्षण एक अकाट्य अनुभव की अनुपपत्ति है जिसके कारण अनुमित वस्तु की मान्यता आवश्यक हो जाती है। यही 'साहचर्य नियम' रूप से भी वर्णित किया जाता है। अग्नि एव धूम के सर्वमान्य उदाहरण मे अग्न्याभाव के समस्त उदाहरणो मे धूमाभाव के निरूपाधिक एवं नियत साहचर्य के रूप मे जिस नियम को वर्णित किया गया है, वह अनुपपत्ति है। यह नियम 'केवलान्वयी' अनुमान के उद्धरणो मे भी समान रूप से उचित ठहरता है, क्योकि वहॉ भी साध्य के असम्भव अभाव से हेतु का अनस्तित्व होगा। अत' साध्य की मान्यता अनिवार्य सिद्ध होगी।

---

[1] प्रमाण पद्धति, पृ0 31– 35।

जयतीर्थ 'व्याप्ति' के अविनाभाव रूप के वर्णन के साथ ही 'साहचर्य नियम' एव अव्यभिचारी सम्बन्ध के रूप मे व्याख्या करते है।[1] जयतीर्थ के 'परिशेष' एव अर्थापत्ति का अनुमान मे समावेश किया है, क्योकि उनके विचार में इनकी विधियॉ अनुमान की विधियों की भॉति ही है।[2]

चलरिशेषाचार्य जो जयतीर्थ के अनुयायी है नियत साहचर्य (जहॉ धूम है, वहॉ अग्नि है) के रूप मे व्याख्या देते है कि इसका अर्थ हेतु का साध्य से एक नियत सम्बन्ध मात्र है[3] न कि केवल एक ही स्थान मे उनका अस्तित्व। यहॉ साहचर्य का तात्पर्य है साध्य के साथ अव्यभिचारी सम्बन्ध [4], यही व्याप्ति कहा जाता है।[5] यद्यपि व्याप्ति की साहचर्य के रूप मे परिभाषा नही दी जा सकती किन्तु वह एक ऐसा अव्यभिचारी सम्बन्ध है जो विभिन्न स्थानो मे विद्यमान एक कारण एवं कार्य के मध्य स्थित हो सकता है। इसी कारण आचार्य साहचर्य से रहित व्याप्ति की संभावना (व्यधिकरण व्याप्ति) के पक्ष मे तर्क देते है।

अनुमान में ज्ञान मीमांसात्मक प्रक्रिया

न्याय दर्शन के मतानुसार जब धूम एव वह्नि के मध्य–स्थित व्याप्ति सम्बन्ध को जानने वाला कोई व्यक्ति पर्वत पर धूम देखता है तो वह व्याप्ति सम्बन्ध का स्मरण करता है कि वह धूम वह्नि से नियत एवं निरूपाधिक सम्बन्ध रखता है।[6] फिर दोनो प्रत्ययों का सम्बन्ध् स्थापित होता है, अर्थात् वह धूम जिसका वह्नि से निरूपाधिक एव नियत सम्बन्ध है, पर्वत मे विद्यमान है।

---

[1] प्रमाण पद्धति, पृ0 30 ।

[2] अनुपपँत्तेर्व्याप्तित्व च प्रमाणलक्षणे परिशेषार्थापत्ति अनुमान्विशेषित्यत्रार्थापत्तिरिवानुमानमपि आवश्यक अनुपपत्ययैव गमकमित्युक्तत्वात्। – 'तर्क ताण्डव' (पाण्डुतिथि पृ0 1–2), प्रमाण लक्षण टीका पृ0 5–7।

[3] अत्र साहचर्य हेतो साध्येन सम्बन्धमात्र विविक्षितम्–प्रमाण चन्द्रिका ।

[4] अव्यभिचरित साध्य सम्बन्धो व्याप्ति– प्रमाण चन्द्रिका, पृ0 8 अ।

[5] गगेश की व्याप्ति की वैकल्पिक परिभाषा से तुलना के योग्य – यत्सम्बन्धितावच्छेक रूपवत्त यस्य तस्य सा व्याप्ति – तत्वचिन्तामणि, भाग 2, पृ0 150।

[6] यह वह 'धूम' है जिसके साथ वह्नि नियत रूप से उपस्थित पायी गयी थी।

ज्ञान का यह तृतीय सश्लेषण ही पर्वत मे वह्नि के अनुमान की ओर प्रेरित करता है।

व्यासतीर्थ यह युक्ति देते है कि न्याय सम्मत यह प्रक्रिया उन सभी उदाहरणो मे सत्य हो सकती है जहॉ हेतु को बिना देखे व्यप्ति का सम्रण होता है।

किन्तु प्रभाकर मानते है कि समस्त अनुमान दो पृथक् तर्क वाक्यो से अग्रसर होता है तथा सश्लेषण की कोई अपेक्षा नही रहती। ये दो तर्क वाक्य होगे 'धूम वह्नि से व्याप्त है' तथा 'पर्वत वह्निमान' है। परन्तु व्यासतीर्थ का मानना है कि इस प्रकार का विश्लेषण अनुमान एव अन्य मानसिक प्रक्रियाओ यथा प्रत्याह्वान आदि मे यथार्थ मनोवैज्ञानिक अवस्था होता है। इसके अतिरिक्त, यदि धूम एवं पर्वत मे देखे गए धूम की एक रूपता की मात्र दो तर्क वाक्यों के सश्लेषण के द्वारा स्थापना नही की जाती तो न्याय वाक्य मे चार पद होने से वह दोषपूर्ण हो जाता [1]। मध्वाचार्य का मानना है कि अनुमान 'सादृश्य' के आधार पर सम्भव होता है, एव इसके लिए जाति प्रत्ययों की स्वीकृति आवश्यक नही होती, यही सिद्धान्त शब्दो के निरूपण के सम्बन्ध मे भी योग्य है। जब कुछ विषयो को एक विशेष नाम से सम्बोधित किया जाता है तो उस नाम के द्वारा उन अन्य वस्तुओ को भी बोधित किया जा सकता है जो इस नाम से मूलत· सम्बन्धित पूर्व विषयो से अत्यधिक साम्य रखते हो।[2] एक रूप धर्मो के आधार के बिना भी 'व्याप्ति' का निरूपण सादृश्य के आधार पर सम्भव है, यथा यह धर्म है एव उसके सदृश वस्तुऍ वह्नि से सम्बन्धित है।

---

[1] एव च किचित् प्रमेय वह्नि व्याप्य पर्वतश्च प्रमेयवान् इति ज्ञानद्वयमिव कश्चिद् धर्मो वह्नि व्याप्य पर्वतश्च धूमवनिति विशकलित परस्पर वर्तनाभिश ज्ञान द्वयमपि नानुमिति हेतु– तर्क ताण्डव, पृ0 68।

[2] अनुगत धर्म विनापि सादृश्येन सर्वत्र व्याप्यत्यादि ग्रह सम्भवातय 'धूम' एतत्सदृशस् च वह्नि व्याप्य इत्येव कमेण व्याप्तिग्रह । मध्व सिद्धान्तसार, पृ0 6।

अनुमान के भेद

भारतीय दर्शन शास्त्र मे अनुमान तीन प्रकार का माना जाता है--

(1) कार्यानुमान– कारण का कार्य से अनुमान, यथा वह्नि का धूम से अनुमान।

(2) अकार्य– कारणानुमान– कारण कार्य प्रकारो से एक भिन्न स्तर का अनुमान, यथा रस से रूप का अनुमान – रसे रूपस्य।

(3) कारवानुमान–कार्य का कारण से अनुमान, यथा वर्षा का घिरते बादल से।

एक अन्य दृष्टिकोण से अनुमान दो प्रकार का माना जाता है–

(1) दृष्ट – जहॉ अनुमित पदार्थ 'प्रत्यक्ष योग्य' होता है, यथा वह्नि का धूम से अनुमान।

(2)सामान्यतोदृष्ट – जहॉ वह प्रत्यक्ष योग्य नहीं होता , यथा रूप के प्रत्यक्षीकरण से चक्षुरिन्द्रिय का अनुमान।

'दृष्ट' एवं 'अदृष्ट' रूप से भी अनुमान का विभाजन माना जाता है–

(1) जब दो वस्तुओं के मध्य व्याप्ति के साक्षात् निरीक्षण के आधार पर अनुमान किया जाता है, यथा वह्नि एव धूम तब वह 'दृष्ट' कहलाता है।

(2) जब एक अनुमान समानता अथवा सादृश्यता के आधार पर किया जाता है, तब वह 'सामान्यतोदृष्ट' कहलाता है, यथा जैसे हल का चलाना आदि फसल की उत्पत्ति को प्रेरित करता है, वैसे ही यज्ञ करना स्वार्गीय सुखोत्पत्ति करता है। इनमें सादृश्य है क्योकि दोनों के फल प्रत्यक्ष है।

अनुमान का एक अन्य दृष्टि से भी विभेद किया जाता है–

(1)साधनानुमान– एक प्रमा से दूसरी प्रमा का अनुमान, यथा वह्नि का धूम से।

(2) दूषणानुमान – मिथ्या ज्ञान का अनुमान, यथा वह अपने निष्कर्ष को सिद्ध नही कर सकता क्योकि इसका अनुभव से व्याघात है।

पुन कुछ विद्वानों के अनुसार 'केवलान्वयी', 'केवल व्यतिरेकि' तथा 'अन्वयव्यतिरेकी' रूप से तीन प्रकार के अनुमान कहे गए है।

(1) उपस्थिति मे पूर्ण अन्वय के आधार पर 'केवलान्वयी' अनुमान होता है। यहॉ व्यतिरेक का कोई स्थान सम्भव नही होता। यथा, सब ज्ञेय पदार्थ वाच्य है।

(2) पूर्ण व्यतिरेक के आधार पर 'केवल व्यतिरेकि' अनुमान होता है। यहॉ कोई अन्वय का उदाहरण सम्भव नही होता । यथा सब प्राणवान शरीर आत्माओ से सम्पन्न होते है, इसको केवल व्यतिरेक के उदाहरणों द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है, 'वे सब सत्ताऍ जो आत्माओ से सम्पन्न नही है, प्राणवान् नहीं है।

(3) सयुक्त अन्वय एव व्यतिरेक के आधार पर ' अन्वयव्यतिरेकि' अनुमान होता है। यह एक साधारण प्रकार का अनुमान होता है, जहॉ व्याप्ति की अनुभूति अन्वय एव व्यतिरेक दोनो प्रकार के उदाहरणों द्वारा होती है।

अनुमान का दो और प्रकार कहा गया है– स्वार्थानुमान, परार्थानुमान।

(1) स्वार्थानुमान, जहॉ व्याप्ति सहित हेतु का ज्ञान हमारे मन मे स्वत उत्पन्न होता है।

(2) परार्थानुमान, जहॉ उक्त ज्ञान अन्य लोगो की शिक्षा के लिए होता है।

`अनुमान के अवयव

इस सम्बन्ध मे व्यासतीर्थ प्राचीन नैयायिको के दस वाक्यो के मत'[1], उत्तरवर्ती नैयायिको के पॉच वाक्यो के मत[2], मीमासको के तीन वाक्यों के मत[3] एव बौद्धो के उदाहरण एव उपनय सम्बन्धी दो वाक्यो के मतो का विवेचन करते है। व्यासतीर्थ का मानना है कि इन सघटक वाक्यों का मूल्य उन व्यक्तियो को, जो इसे नही जानते, एक व्याप्ति विशेष का स्मरण करान मे निहित है इसलिए अनुमान जिन परिस्थितियों में किया जाता है तदनुसार अथवा अनुमान द्वारा जानने वाले व्यक्ति की मन. स्थिति के अनुसार मात्र उतने ही वाक्यों की आवश्यकता पडती है। कुछ ऐसे उदाहरण भी होते हैं जिनमें प्रतिज्ञा, हेतु एवं उदाहरण हो सकते है अथवा कुछ प्रकार के उदाहरणो मे मात्र हेतु ही आवश्यक होता है।[4] इसलिए अनुमान के लिए आवश्यक सघटक वाक्यों की संख्या के सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नही होता, परिस्थिति विशेष पर ही निर्भर करता है।

जयतीर्थ एव व्यासतीर्थ दोनो ने 'तार्किक दोषों [5] पर विस्तृत विवेचन किया है तथा तत्सम्बन्धी न्याय विभाजन की अलोचना भी की है। किन्तु उनका अधिक दार्शनिक महत्व प्रतीत नहीं होता, अतएव उसे प्रस्तुत नही किया जा रहा।

---

[1] जिज्ञासा सशय शक्य प्राप्ति प्रयोजनसशयनिरासा प्रतिज्ञा हेतु उदाहरणोपनयनिगमनानि इति दशावयवा इति जनन्नेयायिका आहु। – तर्क ताण्डव।

[2] प्रतिज्ञा – हेतु – उदाहरण – उपनय – निष्कर्ष।

[3] इन नैयायिको के पॉच वाक्यो मे प्रथम तीन अथवा अन्तिम तीन ।

[4] विवादेनैव प्रतिज्ञा सिद्धो कुत पर्वतोऽग्निमानिति प्रश्ने अग्नि व्याप्त धूमवत्वादिति हेतुमात्रेण वा – तर्क ताण्डव (पाण्डुलिपि, पृ0 10) ।

[5] प्रमाण पद्धति, पृ0 48–76 तथा तर्क ताण्डव (पाण्डुलिपि पृ0 114 एव आगे)।

शब्द प्रमाण

मध्वाचार्य एव उनके मतानुयायी केवल तीन प्रकार के प्रमाणो को स्वीकार करते है– प्रत्यक्ष, अनुमान एव वेदो का साक्ष्य। अन्य तन्त्रो मे स्वीकृत अन्य प्रमाण अनुमान के ही भेद कहे गए है।

वेदों मे स्वत. स्वतन्त्र ज्ञान का आधिक्य माना गया है। वेद अपौरूषेय [1] एव नित्य कहे गए हैं। वे ज्ञान के प्रामाणिक साधन है। यह सिद्ध करने का प्रयास नही किया जाता कि वेद प्रामाणिक ज्ञान के साधन है। व्यासतीर्थ का मानना है कि एक सर्वज्ञ सत्ता को वेदो का रचयिता मानकर परोक्ष रूप से उसकी प्रामाणिकता मानने से ज्यादा उचित उनकी अपरोक्ष प्रामाणिकता स्वीकार करना है। यह निश्चित नही है कि ऐसे रचयिता द्वारा मिथ्या कथनो का प्रयास किया जा सकता है। परम्परा भी ईश्वर को वेदो का रचयिता नही मानती। ईश्वर को वेदों का महोपाध्याय माना जा सकता है, क्योंकि वह उनका प्रथम वक्ता एवं उपदेशक है। [2] परन्तु उसने उनकी सृष्टि नहीं की है। वह उनको नित्य स्मरण रखता है। वेदो मे शब्दो एवं अवतरणो मे एक ऐसी प्रामाणिकता होती है जो तथ्यो से अग्रिम है, एवं उनसे स्वतन्त्र है। मध्वमत न्याय एव मीमांसा के मतो में असहमत होते हुए दोनो का सामजस्य करता हैं। मध्व अपने मत के समर्थन मे अन्य श्रुति प्रमाणो ब्रह्मपुराण, पेंगीश्रुति, माल्लवेय श्रुति इत्यादि को भी उद्धृत करते है। मध्व मतानुयायियो ने जिन अन्य शास्त्रों को आप्त वचन के रूप में स्वीकार किया है, वे है 'पाचरात्र', महाभारत, रामायण।

तत्व विवेचन में ज्ञान की उपयोगिता

मध्वाचार्य मोक्ष के साधन के रुप मे ज्ञान एवं भक्ति को मानते है। ज्ञानपूर्वक किया गया कर्म मनुष्य को पुन. बंधन में नहीं डालता। तप आदि ज्ञानांग रुप से ही अनुष्ठेय है। मोक्ष ज्ञान के अधीन है तथा ज्ञानी शमादि

---

[1] पौरूषेय शब्दाप्रमाण कत्वे सति सप्रमाणकत्वात् – तर्क ताण्डव (पाण्डुलिपि, पृ0 100)

[2] शास्त्रादैव प्रमाणाज्जगतौ जन्मादिकारण ब्रह्म अधिगम्यते–शाकर भाष्य।/1/3

साधनो से सम्पन्न होता है। वेदोक्त एव शास्त्रोक्त कर्मो के सम्पादन के साथ वर्णाश्रम धर्म के अनुष्ठान ज्ञान की उत्पत्ति एव पुष्टि मे सहायक होते है। भक्ति के लिए भी ज्ञान की उपस्थिति मध्व अनिवार्य मानते है। ज्ञान सम्पन्न गुरु ही मोक्षानुकूल शिक्षा देने मे समर्थ होता है। ज्ञान को भक्ति के एक घटक के रुप मे भी स्वीकार किया गया है।

तत्त्व विवेचन में वेदान्त मत के प्रमाणो का अत्यधिक योगदान है। इनमे भी शब्द प्रमाण महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। वेदान्त दर्शन मे श्रुति प्रमाण एव प्रस्थान त्रयी की अत्यधिक मान्यता है।

मध्वाचार्य का मानना है कि जिन प्रमाणो की प्रत्यक्ष व्याख्या भेद के आधार पर की जा सकती है, उन्हे अभेद के आधार पर अप्रत्यक्ष एवं दूरस्थ व्याख्या (लक्षणा आदि) मे नही रखा जा सकता यथा 'तत्त्वमसि' एव 'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म' में उल्लिखित एकत्व अथवा तादात्म्य विशुद्ध स्वप्रकाश चैतन्य के रूप मे ब्रह्म तथा जीव की प्रमुख सत्ता को निर्मित करने वाले चेतन तत्त्व रूपी मुख्यार्थ करने मे सक्षम है।

ब्रह्म सूत्र में दिया गया सूत्र' शास्त्रयोनित्वात्' द्वारा स्पष्टत. तत्त्व विवेचन मे प्रमाणो (श्रुतिप्रमाण) की उपयोगिता को बताता है। इस सूत्र की वेदान्त मत मे दो व्याख्या की जाती है प्रथम अर्थ है' शास्त्रो का कारण' तथा द्वितीय अर्थ है 'जिसकी अभिव्यक्ति का शास्त्र कारण, स्त्रोत अथवा प्रमाण' है।[1]

मध्व मतानुयायियो द्वारा द्वितीय अर्थ स्वीकार किया जाता है, तथा प्रथम अर्थ के विरोध में वे कहते है कि ब्रह्म का वेदो का कारण होना उसकी सर्वज्ञता मे वृद्धि, नही करता जो 'जन्माद्यस्य यत.' सूत्र मे वर्णित जगत् की उत्पत्ति आदि के कारण होने में अन्तर्निहित है।[2]

---

[1] शास्त्रादैव प्रमाणाज्जगतौ जन्मादि–कारण ब्रह्म अधिगम्यते–शाकर भाष्य।/1/3

[2] कथ च अनन्तदार्थकस्य प्रपच कर्तृत्वैव नस्फुट तदेक देश वेद कारणत्वेन स्फटीभविष्यति, सर्वज्ञम्। न्याय सुधा, पृ0 111–112।

जयतीर्थ, व्यासतीर्थ एव अन्य टीकाकारो का मानना है कि मध्वाचार्य ने सूत्र मे आए हुए 'शास्त्र' पद का अर्थ 'ऋक्, साम, एव यजुष् वेद किया है। वे मानते है कि केवल अनुमान ही ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति आदि का कारण सिद्ध करने में असमर्थ है। उपनिषद पाठो के सम्मिलित प्रमाण के आधार पर 'ब्रह्म' एव जीव सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार मध्वाचार्य का मानना है कि–ऋक्यजुसामाथर्वश्च भारतं पंचरात्रक मूल रामायण चैव शास्त्राणीत्यभिधीयते'।––––"वेद पाचरात्रयोरैक्याभिप्रायेण पंचरात्रस्यैव प्रामाण्यमुक्तम्"। सर्व शास्त्र विष्णु के रूप मे 'ब्रह्म' को चरम कारण मानने मे एक मत है।

मध्व मतानुसार जो मत यह अस्वीकार करते हैं कि विष्णु जगत् का चरम कारण है, उन मतो को कोई मान्यता नही दी जा सकती क्योकि उनके उपदेश वेदों के अनुकूल नहीं, है, ऐसे सिद्धान्त अप्रामाण्य हैं।

वेदों का आप्तत्व स्वय उन्हीं के आधार पर स्वीकार करना पडता है, किन्तु वह अन्य पाठ के संदर्भ से सर्वथा स्वतन्त्र एव निरपेक्ष है।

साधारण अनुभव का व्यावहारिक जगत् जो प्रत्यक्ष एवं अनुमान के योग्य है तभी तक अस्तित्व रखता है जब तक कि आत्मा की ब्रह्म के साथ तादात्म्य की अनुभूति नही हो जाती, एक बार यह अनुभूति होने पर जगत् का मिथ्या आभास विलीन हो जाता है।

मध्वाचार्य ईश्वर तथा जीव में द्वैत मानते हैं तथा उनका मानना है कि इस द्वैत का जीव अपनी ओर से प्रत्यक्ष करता है तथा ईश्वर की ओर से वह ईश्वर स्वय प्रत्यक्ष करता है। यद्यपि हम ईश्वर का प्रत्यक्षीकरण नही कर सकते, तथापि उनके सम्बन्ध में हमारे भेद को प्रत्यक्ष कर सकते है।

ब्रह्म से जीवो के भेद को शब्द प्रमाण एवं प्रत्यक्ष प्रमाण के अतिरिक्त अनुमान प्रमाण द्वारा इस आधार पर प्रमाणित किया जा सकता है कि जीव दुख

एव पीडा के विषय होते है, जो ब्रह्म नही है। ब्रह्म एव जीव के स्थायी नित्य सत्ता होने से उनका परस्पर भेद भी नित्य एव यथार्थ है क्योकि मध्वो द्वारा स्वरूप मे सीमित जीवो को मिथ्या नही माना जाता।

ब्रह्म एव जीव के तादात्म्य का प्रत्यय आत्मा से एकरुप ही होता है, अतएव वह मानसिक नही कहा जा सकता। चरम सत्य का ज्ञान मानसिक होने के कारण स्वय असत्य नही कहा जा सकता, क्योकि उसकी सत्यता इस तथ्य पर निर्भर करती है कि उसका कदापि बाध नही होता।

समीक्षा

मध्वाचार्य का द्वैतवाद आचार्य शंकर के अद्वैतवाद के विरोध में एक प्रबल प्रतिक्रिया स्वरूप है। अनेक विषयों मे यह रामानुजाचार्य के यथार्थ सत्ता सम्बन्धी विचारों से साम्य भी रखता है। यथा मध्वाचार्य रामानुजाचार्य की भांति तीनों तत्वों की यथार्थ सत्ता स्वीकार करते है– ईश्वर, चित् एवं अचित्, किन्तु रामानुज की भांति चित् एव अचित् को ईश्वर परतत्र न मानकर मध्वाचार्य इनकी स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं।

मध्वाचार्य विशुद्ध द्वैतवादी आचार्य है एवं ज्ञान की प्राप्ति के लिए पांच महत्वपूर्ण भेदों को मानते हैं।

(1) ईश्वर का जीवात्मा से भेद,

(2) ईश्वर का प्रकृति से भेद,

(3) जीवात्मा का प्रकृति से भेद,

(4) एक जीवात्मा का दूसरे जीवात्मा से भेद, एवं

(5) प्रकृति के एक अंश का प्रकृति के दूसरे अंश से भेद

इस पचविध भेद का ज्ञान 'मुक्ति' मे सहायक बनता है। परमानन्द की प्राप्ति ही मुक्ति है तथा 'अहेतुकी भक्ति' मुक्ति का एकमात्र साधन।

यथार्थ जगत की ज्ञान प्रक्रिया मे साधन स्वरुप मध्वाचार्य तीन प्रमाणो को स्वीकार करते है – प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द। उपमान प्रमाण को अनुमान की कोटि मे ही समाहित किया जाता है। दोष रहित इन्द्रियो से वस्तु के सन्निकर्ष प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता है। मध्व मतानुसार ज्ञान की प्रामाणिकता 'साक्षी' द्वारा होती है। आचार्य ने 'साक्षी' को इन्द्रिय ही माना है तथापि यह अन्तःप्रज्ञात्मक शक्ति अपरोक्ष रूप से प्रत्यक्ष करती है। मनस् के सम्पर्क की आवश्यकता नहीं समझी जाती। परवर्ती द्वैतवादी जयतीर्थ प्रत्यक्ष के विकल्प भेदों को स्वीकार नहीं करते हैं। मध्वमतानुयायी अद्वैत सम्मत अन्तःकरण की वृत्ति द्वारा प्रत्यक्ष के सिद्धान्त का खण्डन करते हैं।

अनुमान प्रमाण द्वारा यद्यपि नवीन तथ्य प्राप्त नही किये जा सकते, तथापि अन्य साधनों द्वारा प्राप्त तथ्यो की परीक्षा करके उन्हे क्रमबद्ध करने में सहायक होता है। मध्व अनुमान में व्याप्ति की आवश्यकता को स्वीकार करते है तथा यह मानते है कि 'व्याप्ति' रूप अव्यभिचारी सम्बन्ध द्वारा अनुमान सिद्ध किया जा सकता है। कुछ परवर्ती अनुयायियों ने व्याप्ति की आवश्यकता का निषेध भी किया है।

यथार्थ सत्ता के सत् ज्ञान के लिए वेदो के आश्रय को अपेक्षित मानते है। मध्वाचार्य ने वेदों को अपौरूषेय अतएव स्वतः प्रामाणिक कहा है। वेदो मे स्वतन्त्र एव स्वत. ज्ञान का आधिक्य है। ईश्वर वेदों का रचयिता नही, अपितु प्रथम उपदेशक है, जो उन्हे नित्य स्मरण भी रखता है।

मध्वदर्शन मे 'स्मृति' का भी सत्य ज्ञान के रूप मे समावेश किया गया है ये प्रमाणत्रय – प्रत्यक्ष, अनुमान एव शब्द, 'ज्ञान' की उत्पत्ति मे साधन रूप है।

मध्वाचार्य ज्ञान के स्वत प्रामाण्य को स्वीकार करते है तथा उसे साक्षी के द्वारा ग्रहण किया गया मानते है। उनका मानना है कि साक्षी ही ज्ञान एव उसकी प्रामाणिकता दोनो को ग्रहण करने की क्षमता रखता है।

भ्रम के विषय में मध्वाचार्य रामानुजाचार्य की भांति ही अद्वैत मत सम्मत 'अनिर्वचनीयख्यातिवाद' का खण्डन करते हैं। मध्वाचार्य का भ्रम सिद्धान्त 'अन्यथाख्यातिवाद' कहलाता है। इसके मतानुसार भ्रम वह मिथ्या ज्ञान है जिसमे एक वस्तु अन्य वस्तु के रूप मे अवभासित होती है। भ्रम ज्ञान की सामग्री का यथार्थ ज्ञान की सामग्री से भेद होता है।

मध्वाचार्य के 'द्वैतवाद' का आधार अनुभव अथवा ज्ञान है। वे मानते है कि ज्ञाता एवं ज्ञेय के बिना कोई ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। ज्ञान के स्वत प्रमाण्यवाद को स्वीकार करते हुए मध्वाचार्य का मानना है कि प्रत्येक ज्ञान एक साथ ज्ञाता एव ज्ञेय, इन दो भिन्न, स्वतन्त्र सत्ताओ के रूप में प्रकाशित होता है।

षष्ठ अध्याय

शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय

प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय मे किसी न किसी परम तत्त्व की कल्पना की गयी है। उस परम तत्व के साक्षात्कार से परम लक्ष्य 'मोक्ष' की प्राप्ति होती है, जिसे अलग–अलग सम्प्रदायो मे अलग–अलग सज्ञाओ से अभिहित किया गया है। वेदान्त दर्शन इसे 'ब्रह्म' अथवा 'ईश्वर' के नाम से अभिहित करता है तथा इसमे श्रुतियो को परम प्रमाण मानता है। ब्रह्म का स्वरूप मुख्यत उपनिषदो मे ज्ञात होता है। शुद्धाद्वैतवादी वल्लभाचार्य का मानना है कि 'ब्रह्म' का कारणत्व केवल अप्रत्यक्ष होता है। ब्रह्म ने अपनी इच्छा से सत्, चित् एव आनन्द के तत्वो के प्राबल्य के द्वारा स्वय को जड–पदार्थ, जीव एव ब्रह्म नामक अपने तीन स्वरूपो मे अभिव्यक्त किया है, अतएव ब्रह्म जगत् का 'समवाय कारण' माना जाता है।[1]

'शुद्धाद्वैतवाद' मे वल्लभाचार्य स्वाभाविक अद्वैत एव ऐच्छिक अद्वैत की मानक श्रुतियो का समन्वय करते है। वे मानते है कि तादात्म्य का अभेद ही अद्वैत है। यह शुद्धाद्वैत भावात्मक है।

वल्लभाचार्य अपने मत शुद्धाद्वैतवाद की पुष्टि के लिए जिन दार्शनिक धारणाओ का साधन के रूप मे उपयोग करते है वे निम्न है –

(1) **ब्रह्मवाद**– अर्थात् जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एव प्रलय काल मे 'ब्रह्म' के अतिरिक्त किसी भी अन्य तत्त्व को माध्यम नही माना जाता है। वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म स्वय स्वरूपत जगदाकार मे परिणत होता है। वह ब्रह्म ही जगत् का समवायि कारण है। भगवद् रूप जगत् मे अज्ञानवश भिन्नता की प्रतीति होती है, तथा 'ज्ञान' से इस भिन्नता का बोध हो जाता है।[2]

---

[1] तस्माद् ब्रह्मैव एव रामवायित्व — अणुभाष्य 1/1/3

[2] अज्ञानात् परिच्छेदाप्रियत्वे ज्ञानेन बाध दर्शनात् – अणुभाष्य 1/1/3

(2) ब्रह्म का सूक्ष्म निरूपण करने वाले वाक्यो का वेदान्त मे बाहुल्य है, जो प्रपचात्मक जगत् एव उसके धर्मों से ब्रह्म की विलक्षणता का प्रतिपादन करते है इनके विरूद्ध धर्मों का भी वेदान्त मे प्रचुर प्रतिपादन हुआ है।[1]

(3) वल्लभाचार्य सत्कारणवाद एव सत्कार्यवाद का समर्थन करते है। सत्कारणवाद के अनुसार जगत् सत् के रूप मे अद्वैतात्मक हो जाता है, जगत् का कारण मात्र परम सत् अर्थात् ब्रह्म ही है।[2] सत्कार्यवाद के अनुसार सत् ब्रह्म मे जो अनेक कार्य होते है, वे भी सत् रूप ही है। ये कार्य अपनी अभिव्यक्ति के पूर्व भी सत् ही थे, तथा अभिव्यक्ति होने पर भी सत्तात्मक ही है। वस्तुत यह जगत् अव्याकृत् है।[3] वल्लभाचार्य का ऐसा मानना है कि इसी विशेषता को 'असद्वा '[4] श्रुति बताती है।

(4) जगत् की उत्पत्ति के पूर्व एव विनाश के पश्चात् जागतिक वस्तुओ के सत्ता से टूटते सम्बन्ध की प्रतीति, भ्रान्ति मात्र ही है। वस्तुत जगत् मे उत्पत्ति अथवा नाश है ही नही। वह आविर्भूत या तिरोभूत अथवा अभिव्यक्त एव अनभिव्यक्त हो सकता है। वल्लभाचार्य का मानना है कि 'ईश्वर' की आविर्भाव एव तिरोभाव ये दो शक्तियॉ है, जिससे ये समस्त आकारो मे प्रकट होता है।[5]

(5) 'अविकृतपरिणामवाद' वल्लभाचार्य का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। जिस प्रकार स्वर्णाभूषण वस्तुत स्वर्ण ही है, तथा गला दिये जाने पर पुन स्वर्ण मे ही अन्तर्हित से जाता है, उसी प्रकार जगत् मूलत ब्रह्म का ही अविकृत परिणाम है। यह अपनी समस्त अवस्थाओ मे स्वरूपत ब्रह्म ही है।

---

1 अस्थूलादि वाक्यान्यपि सन्ति सर्वत्र प्रपच तद्धर्म वैलक्षण्य प्रतिपादिकतानि ततोऽन्योन्यविरोधेनैकस्य मुख्यार्थबाधो वक्तव्य – अणुभाष्य 1/1/3

2 सन्मूलमन्विच्छ सन्मूला सौम्येमा सर्वा प्रजा सदायतना सत्प्रतिष्ठा (छादोग्य० 6/8/4

3 अव्याकृतेन धर्मान्तरेण तथा व्यपदेश अणुभाष्य 2/1/16–17 ।

4 'असद्वा इदमग्रभासीत्'

5 घटादीनामपि ब्रह्मत्वान्नित्यतेति वक्त युक्तिमाह – आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै मुखवैरिण – सर्वनिर्णय'–वल्लभाचार्य

(6) कारण ब्रह्म कार्य जगत् के रूप मे विकृत हुए बिना ही परिणत होता है, अत कार्य कारणात्मक है, एव कारण कार्यात्मक। यही कार्य–कारण तादात्म्य सम्बन्ध है तथा इसे ही वल्लभाचार्य 'शुद्धाद्वैत' कहते है।

ईश्वर के अतिरिक्त वल्लभाचार्य अन्य तत्वो की भी ईश्वराश्रित सत्ताएँ मानते है– काल, कर्म, स्वाभाव, पुरूष, प्रकृति। इनमे 'काल' के प्रत्यय मे कर्म एव स्वभाव का समावेश होता है। यह सत्त्वाश रूप मे प्रकट होते हुए भी अतीन्द्रिय होता है, एव कार्यो के स्वरूप द्वारा ही अनुमित किया जाता है। 'कर्म' सावभौम तत्व है जो व्यक्तियो के विशिष्ट कर्मो के विविध रूपो एव विशिष्ट अवस्थाओ के रूप मे ही अपनी अभिव्यक्ति करता है। 'धर्म' एव 'अधर्म' भी महत्वपूर्ण पदार्थो के रूप मे स्वीकार किये जाते है।

वल्लभाचार्य 'स्वभाव' को एक पृथक् तत्त्व मानते है। उसका कार्य–व्यापार ईश्वरेच्छा से अनुप्राणित रहने से ईश्वर से तादात्म्यीकरण होता है। स्वभाव की कारणता विशिष्ट होने के कारण तत्त्वो के विकासात्मक क्रम को उत्पन्न करती है। इन विविध तत्त्वों मे 'सत्त्व' प्रकाशात्मक स्वरूप होने तथा सुखाभिव्यक्ति मे बाधक न होने से जीवो मे सुख एव ज्ञान के प्रति आसक्ति का कारण बनता है।[1] 'रजस्' अपने आसक्ति स्वरूप के कारण जीवों मे अभिनिवेश एव कर्मो के प्रति इच्छा उत्पन्न करता है, तथा 'तमस्' जीवो मे त्रुटियॉ आलस्य, निद्रा आदि की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। वल्लभ मतानुसार ये गुणत्रय मायोत्पन्न माने जाते है। अनादि गुण रहित नियन्त्रक एव असमर्थ 'पुरूष' जगत् के गुण अथवा दोषो से प्रभावित हुए बिना ही उनसे साहचर्य रखता है। यह आत्मसत्ता चेतन एव आनन्द स्वरूप है, जैसी सुषुप्तावस्था मे रहती है। इस प्रकार चैतन्य ही 'आत्मा' के यथार्थ स्वरूप का प्रतिनिधित्व करता है।

---

[1] सुखानावरकत्वे प्रकाशकत्वे सुखात्मकत्वे च सति सुखासक्त्या ज्ञानासक्त्या च देहिनो देहाद्यासक्ति जनकं सत्त्वम् - अनुभाष्य पर टीका, पृ0 170।

'अज्ञान' से सम्बन्धित प्रकृति, जगत् के विकासात्मक क्रम का कारण होती है। वल्लभाचार्य मानते है कि 'महत्' इत्यादि तत्त्व एव इन्द्रियो का विकास 'प्रकृति' द्वारा ही होता है।

भ्राति का स्वरूप

वल्लभाचार्य के मतानुसार केवलाद्वैत इत्यादि अद्वैतवादी मतो मे ब्रह्म को माया युक्त मानकर अशुद्ध अर्थात् सीमित कर दिया गया है। जबकि ब्रह्म वास्तव मे माया से अलिप्त नितान्त शुद्ध है तथा ब्रह्म ही एक अद्वय तत्त्व है। आचार्य वल्लभ माया को अद्वैत सिद्धि मे बाधक मानते है। उनके अनुसार ब्रह्म माया के बिना भी जगत् का समवायिकारण है किन्तु वे जगत् को अयथार्थ नही मानते है।

वल्लभाचार्य का मत है कि यदि 'अविद्या' का सम्यक् ज्ञान के द्वारा विनाश होता तो 'अविद्या' के भ्रम से आच्छादित जीव की शारीरिक रचना का विनाश हो जाता तथा 'जीवन्मुक्ति असम्भव हो जाती। मायावाद के समर्थको के अनुसार मिथ्या रजत की सृष्टि अविद्या से आच्छादित शुक्ति होती है। अत शुक्ति–रजत् भ्रम स्थल मे रजत् एक वस्तुगत सृष्टि होती है तथा इस प्रकार वह एक सापेक्षिक यथार्थ विषय होता है, जिसका सम्पर्क चक्षुरिन्द्रिय से होता है।

अन्यथाख्यातिवाद

वल्लभाचार्य के मतानुसार शुक्ति–रजत रूपी भ्रम 'बुद्धि' की एक मानसिक सृष्टि है। ज्ञानेन्द्रियो एव मनस् के सन्निकर्ष द्वारा उत्पन्न प्रथम सामान्य ज्ञान शुक्ति का ज्ञान होता है। सम्यक् ज्ञान मे बुद्धि वही ग्रहण करती है कि जिसे ज्ञानेन्द्रियो ने प्रत्यक्ष किया है। भ्रम के इस मत को 'अन्यथाख्याति' कहा जा सकता है, क्योकि यहॉ पर जिस वस्तु से ज्ञानेन्द्रियॉ सम्पर्क में है उससे अन्यथा किसी वस्तु का प्रत्यक्षीकरण हो रहा है। वल्लभाचार्य अद्वैतवाद के भ्रम सिद्धान्त (अनिर्वचनीयख्यातिवाद) को अनुचित बताते है।

वल्लभाचार्य कहते है कि मायावादियो का यह विचार कि शुक्ति–रजत 'माया' के द्वारा उत्पन्न की जाती है, तथा माया के द्वारा ही नष्ट की जाती है, ऐसा विचार उचित नही, क्योकि तब माया द्वारा उत्पन्न जगदाभास के प्रत्यय को, 'माया' द्वारा विनाश योग्य माना जा सकता है तथा 'सम्यक् ज्ञान' के लिए प्रयास करने की कोई आवश्यकता ही नहीं होगी।

वल्लभाचार्य के अनुयायी मानते है कि जगत् की सृष्टि एव जगत् के विनाश विषयक प्रत्यय ऐसे मिथ्या प्रत्यय है, जिनकी सृष्टि जीव स्वयं करता है। वल्लभाचार्य के मतानुसार जीव को, ईश्वरांश होने से सत्य माना जाता है, किन्तु जन्म एव पुनर्जन्म के चक्र का विषय बनने पर वह मिथ्या हो जाता है। इस प्रकार जगत् प्रपच का सत्य अथवा मिथ्यात्व, उसको प्रत्यक्ष करने की पद्धति पर निर्भर करता है। अर्थात् जब एक व्यक्ति जगत् का प्रत्यक्षीकरण करता है तथा उसे ब्रह्म के रूप मे ज्ञात करता है, तब यथार्थ जगत् का नानात्व से सम्बन्धित उसका बौद्धिक प्रत्यय तिरोहित हो जाता है। वस्तुत· प्रत्यक्ष किया गया जगत् यथावत् बना रहा सकता है। केवलाद्वैतवाद द्वारा मान्य माया को वाह्य जगत् का सृष्टिकर्त्ता मानने के सिद्धान्त का वल्लभ दर्शन प्रत्याख्यान करता है तथा माया की सृष्टि को वाह्य न मानकर आन्तरिक मानता है। वल्लभाचार्य के मतानुसार दृश्य जगत् स्वरूपत· मिथ्या नही है। केवल ईश्वर से पृथक् एक स्वतन्त्र सत्ता के रूप मे उसका प्रत्यय स्वीकार नही किया जा सकता।

ज्ञान का स्वरूप एवं वर्गीकरण

वल्लभ मतानुयायी पुरूषोत्तमाचार्य के अनुसार 'ज्ञान' अनेक प्रकार का होता है। इनमे से 'नित्य ज्ञान' चार प्रकार का माना गया है–

(1) ईश्वर का स्वरूप ज्ञान, जिसमे उसका सर्वसत्ताओ से तादात्म्य होता, एव वह मोक्ष स्वरूप होता है।

(2) ईश्वर के महानतम गुणों की अभिव्यक्ति,

(3) सृष्टि के प्रारम्भ मे 'वेदो' के रूप मे उसकी अभिव्यक्ति,

(4) ईश्वर के समस्त ज्ञेय रूपो मे 'शाब्दिक ज्ञान के रूप मे उसकी अभिव्यक्ति।

शाब्दिक ज्ञान मे उसका रूप स्वय को व्यक्तियो मे अभिव्यक्त करता है इसी कारण से शब्दों के साहचर्य के बिना कोई ज्ञान नही हो सकता, मूक व्यक्तियो मे भी सकेत होते है, जो भाषा का स्थान ले लेते है। यह पॉचवे प्रकार का ज्ञान मान लिया गया है।

पुन एक प्रकार का इन्द्रिय ज्ञान होता है तथा चार प्रकार का मानसिक ज्ञान माना जाता है।

(1) मानसिक ज्ञान मे, वह ज्ञान जो मनस् द्वारा उत्पन्न होता है, सशय कहलाता है। मनस् का व्यापार सकल्प' एव 'विकल्प' होता है।

(2) बुद्धि का व्यापार 'सशय का अतिक्रमण करके 'निश्चय' के रूप मे ज्ञान को उत्पन्न करता है।

(3) स्वप्नावस्था का ज्ञान 'अहंकार' द्वारा उत्पन्न होता है।

(4) 'चित्त' सुषुप्तावस्था मे आत्मा का प्रत्यक्षीकरण करता है।

इस प्रकार 'अत-करण' का चतुर्विध ज्ञान होता है। इस चतुर्विध अन्त करण के ज्ञान के साथ एक प्रकार का इन्द्रिय ज्ञान तथा पूर्वोक्त पॉच प्रकार के नित्य ज्ञान को मिलाकार कुल दस प्रकार के ज्ञान स्वीकार किये गए है।

एक अन्य दृष्टिकोण से 'काम', 'सकल्प', 'विचिकित्सा', 'श्रद्धा', 'अश्रद्धा', 'धृति', आधृति', 'ही', 'घी', 'भी', ये समस्त मनस् माने गए है। सुख एव दु ख भी मनस् मे ही स्थित होते है। क्योकि ये किसी वाह्येन्द्रिय से सम्बन्धित नही होते।

'ज्ञान' मात्र तीन क्षणो तक ही नही रहता, जैसा कि बौद्ध मानते है, अपितु तब तक बना रहता है, जब तक उस ज्ञान का अन्य विषयो के द्वारा अतिक्रमण नहीं हो जाता, एव तब भी वह 'सस्कार' के रूप मे शेष रहता है।

पुन उस ज्ञान की ओर मनस् के आकृष्ट होने पर 'स्मृति' मे वह उसे खोज लेता है।

प्रमा एवं अप्रमा

वल्लभाचार्य 'प्रमा' एव 'अप्रमा' (अथवा भ्रम) मे यह भेद करते है कि भ्रम में प्रमा से कुछ अधिक होता है, अर्थात यदि शुक्तिका–रजत् का उदाहरण ले, तो शुक्तिका का प्रत्यक्षीकरण 'प्रमा' कहलाता है किन्तु रजत् का आरोपण 'मिथ्या ज्ञान' अथवा 'भ्रम' अथवा 'अप्रमा है, जो अतिरिक्त तत्त्व के रूप मे निहित है।[1]

'प्रमा' की परिभाषा अबाधित ज्ञान अथवा ऐसे ज्ञान के रूप में दी जाती है जो बाध योग्य नही हो ।[2] 'प्रमा' ज्ञान 'सत्त्व' द्वारा उत्पन्न होता है। 'सत्व मे जो ज्ञान प्रमुख रूप मे प्रबल होता है वह यह प्रत्यय होता है कि एक सामान्य तत्त्व सर्वत्र विद्यमान है, केवल यही ज्ञान पूर्ण रूप से सत्य होता है। जो ज्ञान 'रजस्' से सम्बन्धित होता है, वह पूर्णत· सत्य नही होता, जिसे साधारण अथवा प्रत्यक्षात्मक वैज्ञानिक ज्ञान मे प्राप्त किया जा सकता है, जो त्रुटियो एव सशोधन के योग्य होता है। यह 'रजस्' ज्ञान अपनी प्रथम अभिव्यक्ति के समय अपने स्वरूप में 'निर्विकल्पक' होता है।

कुछ ऐसे भी उदाहरण जगत् मे परिलक्षित होते है, जो अंशत· सत्य होते है, एवं अशत· मिथ्या। इनमें प्रमा की प्रबलता होने अथवा न होने के आधार पर ज्ञान को सत्य अथवा मिथ्या माना जाता है। पुरूषोत्तमाचार्य के अनुसार चित्रकला, कला सृष्टि एव नाटकीय प्रतिरूपको मे ऐसे अनुप्रयोग देखने को मिलते हैं।

---

[1] भ्रमप्रमासमूहालम्बन तु, एकदेश विकृतमनन्यवद् भवतीति न्यायेन भ्रमाधिक्ये विपर्यासैव। प्रमाधिक्ये च निश्चय । – प्रस्थान रत्नाकर, पृ0 25–26।

[2] अबाधित–'ज्ञानत्व' बाध योग्य व्यतिरिक्तत्व वा तल्लक्षणम् – प्रस्थान रत्नाकर, पृ0 6।

सत्कारणवाद एवं सत्कार्यवाद

वल्लभाचार्य अपने 'शुद्धाद्वैत की पुष्टि के लिए जिन दार्शनिक धारणाओ का साधन के रूप मे उपयोग करते है, उनमे से प्रमुख है—सत्कारणवाद, सत्कार्यवाद एव कार्यकारणतादात्म्यवाद।

'सत्कारणवाद' के अनुसार जगत् सत् के रूप मे अद्वैतात्मक हो जाता है, जगत् का कारण केवल सत् अर्थात् ब्रह्म ही है।[1] 'सत्कार्यवाद' की दृष्टि मे सत् ब्रह्म मे जो अनेक कार्य होते है, वे भी सत्रूप ही है। ये कार्य होने के पूर्व भी कारण ब्रह्म के रूप मे सत् ही थे, तथा कार्य होने पर भी सत्ता को नहीं छोडते।

कारण कार्य के रूप मे विकृत हुए बिना ही परिणत होता है, अतएव कार्य कारणात्मक है, एव कारण कार्यात्मक है, यही कार्य–कारण का तादात्म्य सम्बन्ध कहलाता है। इसे ही वल्लभाचार्य 'शुद्धाद्वैत' कहते है। वे तादात्म्य के अभेद को ही अद्वैत कहते है। उनके अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त जगत् जैसा कुछ नही है। यह नही कहना चाहिए कि ब्रह्म जगत् के रूप मे परिणत् हुआ अपितु जगत् भी ब्रह्म ही है। वल्लभाचार्य "सर्व खल्विद ब्रह्म" इस औपनिषद वचन को ही अपने मत का आधार मानते है।

करण तथा कारण

पुरूषोत्तम 'करण' एव 'कारण' मे विभेद करते है। 'करण' उत्पन्न किये जाने वाले कार्यो के गतिशील कर्त्ता से सम्बन्धित एक असाधारण कर्त्ता होता है[2] तथा 'कारण' शक्ति का वह आधार होता है जो आकृतियो के आविर्भाव एवं तिरोभाव को उत्पन्न कर सके।[3] वह जो विशेष आकृतियो को उत्पन्न करता है, अथवा कुछ आकृतियो के तिरोभाव के लिए कार्य करता है,

---

[1] (क) सन्मूलमन्विच्छसन्मूला सौम्येमा सर्वा प्रजा· सदायतना सत्प्रतिष्ठा– छादोग्य० 6/8/4/
(ख) कारणीभूतस्य सत् रूपत्वात् – पत्रावलम्बन, वल्लभाचार्य।

[2] व्यापारवदसाधारणम् – पुरूषोत्तम

[3] आविर्भाव शक्त्याधरत्व कारणत्वम्।

उसे क्रमश उनका कारण माना जाता है। अतएव वह शक्ति जो एक उपादान कारण के कार्यों को हमारे व्यवहार के लिए अभिव्यक्त कर सकती है, उसे उक्त कार्य का 'आविर्भाव कारण' माना जाता है। 'आविर्भाव' वस्तुओ का वह पक्ष होता है जिसके द्वारा अथवा जिसके कारण इनका अनुभव किया जा सके, अथवा वे व्यवहार योग्य बन सके, एव उनका अभाव 'तिरोभाव' कहलाता है।[1]

इन 'आविर्भाव' एवं 'तिरोभाव' की शक्तियॉ प्रधान रूप से ईश्वर मे रहती है एव गौण रूप से उन विषयों मे होती है जिनके साथ उसने उन्हे विशिष्ट रूपों मे सम्बन्धित किया है। 'कार्य नियत पूर्व वृत्ति' के रूप मे कारण की नैयायिक परिभाषा को मान्यता नही दी जाती क्योकि उसमे अन्योन्याश्रय दोष का समावेश होता है। कार्य के सम्बन्ध में नियतपूर्वता में कारणता के प्रत्यय का समावेश होता है तथा कारणता मे निरूपाधिकता सन्निहित होती है।

जगत् की उत्पत्ति के पूर्व एव नष्ट होने के उपरान्त जागतिक वस्तुओ का सत्ता से टूटता सम्बन्ध, भ्रान्ति मात्र है। वस्तुत जगत् मे उत्पत्ति एव नाश है ही नहीं। जगत् पूर्व में भी था, पश्चात् भी रहेगा। वह आविर्भूत या, तिरोभूत, अथवा अभिव्यक्त एवं अनभिव्यक्त हो सकता है। वल्लभाचार्य के अनुसार घट इत्यादि सब ब्रह्म हैं, अतएव नित्य है। आचार्य तर्क देते है कि भगवान की आविर्भाव एव तिरोभाव ये दो शक्तियॉ है, जिससे वे समस्त आकारों मे प्रकट होते है . मिट्टी इत्यादि भगवद् रूप घटादि आकारो में अभिव्यक्त होते हैं। उनकी अभिव्यक्ति मे हरि की इच्छा ही प्रधान है, तिरोभाव भी उनका दूसरे रूप मे हो जाता है।[2]

---

[1] उपादानस्य कार्य या व्यवहारगोचरं करोति सा शक्तिराविर्भाविका। आविर्भावश्च व्यवहार योग्यम्। तिरोभावश्च तदयोग्यत्वम्–प्रस्थान रत्नाकर पृ0 26।

[2] आविर्यावतिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिण । सर्वाकार स्वरूपेण भविष्यामीति या हरे ।। वीक्षा यथा यतोयेन तथा प्रादुर्भवत्यण । मृदादि भगवद्रूप घटाद्याकार सयुक्तम्।।

कारण दो प्रकार का होता है –(1) तादात्म्य (अथवा समवायि), एव (2) निमित्त

वल्लभाचार्य भास्कर की भॉति मानते है कि ब्रह्म अपनी पूर्णता मे जगत् के समस्त विषयो मे तथा जीवो मे विद्यमान रहता है। उसने विभिन्न रूपों मे 'केवल कुछ गुणो को उनकी प्रबल मात्रा मे अभिव्यक्त किया है, इसलिए नानात्व मे किसी विकार का समावेश नही होता। इसी कारण वल्लभ उपादान कारण की तुलना मे समावायि कारण पद अधिक उपयुक्त मानते है। उनके अनुसार समवायिकारण का प्रत्यय सार्वभौम एव निरूपाधिक व्याप्ति मे निहित होता है। पुन वल्लभाचार्य अन्य वेदान्तानुयायियो की भॉति 'समवाय' सम्बन्ध को अस्वीकृत भी करते है। उनकी 'समवाय' की खण्डन पद्धति शंकर एव रामानुज की भॉति ही है। वल्लभाचार्य के अनुसार 'समवाय का तात्पर्य समवाय–सम्बन्ध नहीं होता, अपितु उसका अर्थ 'तादात्म्य' होता है। नैयायिको का मत है कि 'समवाय' कार्य एव कारण, 'गुणो' एव द्रव्यो तथा सामान्यों एवं द्रव्य के मध्य स्थिति समवाय का सम्बन्ध है, परन्तु वल्लभाचार्य के अनुसार इन युग्मो को सयुक्त करने के लिए किसी पृथक, समवाय सम्बन्ध की अपेक्षा नही है, अपितु स्वय द्रव्य ही क्रिया, गुणो, तथा कारण एव कार्य के रूप मे प्रकट होता है। इस प्रकार केवल 'तादात्म्य' की विविध रूपो मे अभिव्यक्ति ही हमे वैपरीत्य मे नानात्व का प्रत्यय प्रदान करने मे सक्षम है। वस्तुत· समवाय सम्बन्ध द्वारा एक साथ सम्बन्धित माने जाने वाले विविध रूपो मे कोई भेद नही होता है।[1]

इस 'तादात्म्य' मे भेदाभेद के प्रत्यय का समावेश होता है। जिसमें भेद, अभेद के एक प्रकार के रूप मे प्रतीत होता है तथा अभेद को कारणता का सारतत्व माना जाता है।

मूलेच्छातस्तथा तस्मिन् प्रादुर्भावो हरेस्तदा। तिरोभावस्तथैवस्यात् रूपान्तर विभेदत ।।– 'सर्व निर्णय'– वल्लभाचार्य

[1] ननु दूषिते समवाये अयूत सिद्धयो क सम्बन्धोऽङ्गीकर्त्तव्य इति चेतादात्म्येमव इति ब्रूम ।   कारण–कार्य तादात्म्य द्रव्योर्निर्विवादम्।– पुरूषोत्तम की टीका, पृ0 627।

पुरूषोत्तम 'द्रव्य' एव 'गुण' के प्रत्ययो को स्वीकार नही करते है, जिनकी 'समवाय' के सम्बन्ध के आधार पर अन्य दर्शनो, यथा न्यायशास्त्र, मे व्याख्या की जाती है, (उनमे द्रव्य को गुण का कारण माना जाता है)। एक गुण द्रव्य के समकालीन अभिव्यक्ति मात्र होता है तथा द्रव्यगुण का कारण नही माना जाता।

'तादात्म्य' अथवा 'उपादान कारण' का प्रत्यय दो प्रकार का होता है– 'अपरिवर्तनशील', यथा, घट आदि मे मृत्तिका की अपरिवर्तनशीलता तथा 'परिवर्तनशील'। उपादान कारण में समाविष्ट अवयवो का सयोग अथवा उनकी गति को एक पृथक् कारण नही माना जाता है, अपितु उसे उपादान कारण का एक अश ही माना जाता है। 'निमित्त कारण' मनस् के व्यापार के रूप में ज्ञान की अभिव्यक्ति है।

वल्लभाचार्य के मत मे जगत् मिथ्या नही है तथा ईश्वर उसका 'समवायि' एव 'निमित्त कारण' है। 'समवायिकारण' को सर्व प्रकार के अस्तित्व मे व्याप्त रूप मे सकल्पित किया गया है, यथा मृत्तिका घट मे व्याप्त रहती है, किन्तु घट के असदृश समवायिकारण ईश्वर मे कोई विकार नही होता, क्योंकि असदृश ईश्वर मे इच्छा–शक्ति होती है।

'भेदाभेदस्वरूप निर्णय' मे पुरूषोत्तम का मत है कि 'सत्कार्यवाद'[1] के अनुसार सभी वस्तुएँ आरम्भ से ही ब्रह्म मे अपना अस्तित्व रखती है। जीव भी ईश्वराश होने के कारण उसमे ही अस्तित्ववान् है। कारणावस्था एव कार्यावस्था मे वल्लभ ये भेद मानते हैं कि कार्यावस्था मे कतिपय गुण अथवा धर्म अभिव्यक्त हो जाते है। अतएव जगत् में दृष्टिगत होने वाले द्वैत का अद्वैत ब्रह्म से विरोध नहीं होता, क्योकि आभासित रूप एव धर्म जो परस्पर भिन्न है, ईश्वर के साथ अभेद के, उनके तात्त्विक धर्म के व्याघाती नही होते।

---

[1] 'सत्कार्य वाद' के अनुसार सत् ब्रह्म मे जो अनेक कार्य होते है, वे भी सत् रूप ही है तथा होने के पूर्व ब्रह्म मे भी सत् ही थे।

प्रमाण निरूपण

प्रमाणो से सम्बन्धित ज्ञान 'सात्विक ज्ञान' होता है। 'सत्त्व' का 'प्रमा' से साह्चर्य होने पर जब वह सत्त्व विलीन हो जाता है तब 'अप्रमा' की स्थिति बनती है। वल्लभ दर्शन मे 'प्रमा' को परिभाषित किया जाता है "अबाधित ज्ञान अथवा ऐसा ज्ञान जो बाध योग्य न हो।"[1] जिस सत्त्व के द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है, उसकी वृद्धि अनेक कारणों से हो सकती है। अर्थात् शास्त्र, विषय, जनसाधारण, देश, काल, जन्म, कर्म, ध्यान, मन्त्र, शुद्धिकरण एवं सस्कार अनेक सत्त्व तत्त्व है। 'सत्त्व' में जो ज्ञान मुख्यत प्रबल होता है, वह इस प्रकार का प्रत्यय होता है कि एक सामान्य तत्त्व सर्वत्र विद्यमान है, मात्र यही ज्ञान पूर्णरूप से सत्य होता है। 'रजस्' से सम्बन्धित ज्ञान पूर्णत सत्य नहीं होता। यह वह ज्ञान है जिसे साधारण अथवा प्रत्यक्षात्मक वैज्ञानिक ज्ञान में प्राप्त किया जाता है एव जो त्रुटियों से युक्त एव सशोधन के योग्य होता है। यह रजस् ज्ञान अपनी प्रथम अभिव्यक्ति के काल मे अपने स्वरूप मे निर्विकल्पक होता है तथा केवल वस्तुओं के अस्तित्व का ज्ञान प्रदान करता है। इस अवस्था मे इन्द्रियो का विषयो पर प्रथम अनुप्रयोग होने से सत्त्वगुण होता है, तथा रजस् का साह्चर्य न होने के कारण 'निर्विकल्पक ज्ञान' 'सात्विक' ही माना जाता है।

समस्त भारतीय दर्शन 'प्रमा' के 'करण' को प्रमाण मानते है। यद्यपि विभिन्न दर्शनों में 'प्रमा' को भिन्न–भिन्न प्रकार से परिभाषित किया जाता है, तथापि प्रमा का सामान्य रूप में अर्थ है 'अबाधित यथार्थ ज्ञान'। वल्लभ दर्शन मे भी 'प्रमा' की परिभाषा अबाधित ज्ञान अथवा ऐसे ज्ञान के रूप मे दी जाती है, जो बाध योग्य न हो। 'करण' उत्पन्न किये जाने वाले कार्यों के गतिशील कर्त्ता से सम्बन्धित एक असाधारण कर्त्ता होता है।[2] 'कारणता' वह है जो 'कारण' एवं 'कार्य' के मध्य एक कडी के रूप में विद्यमान होता है।

---

[1] अबाधित ज्ञानत्व बाधयोग्यव्यतिरिक्तत्व वा तल्लक्षवम्–प्रस्थान रत्नाकर, पृ06।

[2] व्यापारवदसाधारणम् – प्रस्थान रत्नाकर

यदि शुक्तिका का उदाहरण ले तो शुक्तिका का प्रत्यक्षीकरण 'प्रमा' कहलाता है तथा प्रत्यक्ष करने वाली नेत्रेन्द्रिय 'करण'। इस प्रकार इन्द्रिय सन्निकर्ष का गतिशील कारण 'इन्द्रियो का व्यापार' होता है। ईश्वरेच्छा के उदाहरण में जगत् की उत्पत्ति के कारण किसी गत्यात्मक व्यापार को अनिवार्य नही माना जाता।

प्रत्यक्ष प्रमाण

वल्लभाचार्य के अनुसार विभिन्न प्रकार के प्रत्यक्षीकरणो के अनुभव, इन्द्रिय शक्तियों के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण को परिभाषित किया जा सकता है। 'प्रत्यक्ष' इन्द्रिय एवं उसके विषयों के सत् सम्पर्क द्वारा उत्पन्न होता है।[1] वल्लभानुयायी छ प्रकार के 'प्रत्यक्ष प्रमाण' स्वीकार करते है–

(1) दृष्टि सम्बन्धी – नेत्रेन्द्रिय

(2) स्पर्श सम्बन्धी – त्वगेन्द्रिय

(3) रस सम्बन्धी – रसनेन्द्रिय

(4) श्रवण सम्बन्धी – कर्णेन्द्रिय

(5) घ्राण सम्बन्धी – नासिका

(6) मानसिक – मनस् (बुद्धि)

शंकराचार्य के अद्वैत मत के विपरीत यहाँ मनस् को एक इन्द्रिय शक्ति माना गया है। ये सभी इन्द्रिय शक्तियाँ परमाण्वीय स्वरूप की मानी जाती हैं। यथा दृश्येन्द्रिय अथवा नेत्रेन्द्रिय 'रूप' का प्रत्यक्ष तभी कर सकती है जब एक 'अभिव्यक्त' रूप (उद्भूत रुपवत्व) होता है। अतएव विभिन्न इन्द्रियो द्वारा सर्व इन्द्रिय गुणो के प्रत्यक्षीकरण के लिए माना जाता है कि स्पर्श–गन्धादि इन्द्रिय–गुणो के प्रत्यक्षीकरण के लिए तत्सम्बन्धित गुणो का उद्भूत या अभिव्यक्त होना आवश्यक है।

---

[1] इन्द्रियार्थसत् सम्प्रयोगजन्य ज्ञानम्–प्रस्थान रत्नाकर, पृ0 20

वस्तुओ के दृष्टि प्रत्यक्ष की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे साख्य दर्शन एव अद्वैत वेदान्त में 'वृत्ति' की उपस्थिति स्वीकार की जाती है।[1] 'वृत्ति' का तात्पर्य है 'मानसिक अवस्था'। जब किसी वस्तु को देखने पर हम अपनी आखो को बन्द कर लेते है, तब उस विषय की एक पश्चात् प्रतिमा का उदय होता है। यह पश्चात् प्रतिमा स्वय उस विषय मे स्थित नही हो सकती, क्योकि हमारे नेत्र पटल बद होते है, अतएव वह 'अहकार' (अन्त करण) अथवा 'बुद्धि' मे स्थित होती है। वेदान्त दर्शन शास्त्र यह मानता है कि यह 'वृत्ति' निकट एवं सुदूर वाह्य विषयो तक जाती है तथा इस प्रकार 'बुद्धि' एव विषय में एक सम्बन्ध को स्थापित करती है। एक यह आशका की सम्भावना है कि 'वृत्ति' एक द्रव्य तो होती नहीं, अतएव यह सुदूर गमन कैसे करेगी ? किन्तु वेदान्त एव साख्यशास्त्र इसका प्रत्याख्यान करते है कि वृत्तियो का सुदूर गमन प्रत्यक्षीकरण के तथ्यो द्वारा सिद्ध होता है, इसलिए यह मानना चाहिए कि मात्र अस्तित्ववान् द्रव्य ही गमन क्रिया नहीं करते, तथा द्रव्य के अभाव मे गमन क्रिया अवरूद्ध भी नही होती।

वल्लभानुयायी पुरूषोत्तमाचार्य 'वृत्ति' स्वीकार तो करते है, किन्तु वेदान्त एवं साख्य शास्त्र सम्मत 'वृत्ति' से भिन्न स्वरूप मे। वे मानते है कि 'वृत्ति' बुद्धि की एक अवस्था होती है, जो काल तत्त्व द्वारा उत्पन्न की जाती है, तथा सत्त्व गुण की प्रबलता को अभिव्यक्त करती है। इस प्रकार वल्लभानुयायी 'काल' को 'बुद्धि मे स्थित एक 'तत्त्व' के रूप मे स्वीकार करते है। जबकि शाकर वेदान्तानुयायी काल को इद्रियो मे स्थित तत्त्व के रूप मे मानते हैं। इनका मानना है कि काल का कोई वर्ण नही होता, किन्तु काल का दृश्येन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होता है।

पुरूषोत्माचार्य मानते है कि काल 'बुद्धि' का एक निर्धारक होता है तथा अन्य कारकों के साथ मानसिक प्रकाश का उत्तरदायी होता है। प्रत्यक्ष

---

[1] ज्ञान मे परिवर्तन एव ज्ञान की परोक्षता की समस्या के समाधान हेतु अद्वैत ट्र्शन मे 'वृत्ति' की कल्पना की गयी है। 'वृत्ति' अन्तःकरण का विकार है।

प्रक्रिया मे विषय से उत्पन्न किरणे नेत्र गोलक का वेधन करती हैं, तथा उसमे सस्कारो को उत्पन्न करती है, जो नेत्र के बन्द होने के कारण विषय–किरणो के रूक जाने पर भी शेष रहते है। ये नेत्र पटलगत सस्कार 'सत्त्वगुण' की अभिव्यक्ति करने वाली 'बुद्धि' में प्रकाश की उत्पत्ति के उपसाधन होते है।[1] इस प्रकार 'वृत्ति' बुद्धि की ही एक अवस्था सिद्ध होती है। शुक्तिका–रजत् के मिथ्या प्रत्यक्ष मे यह माना जाता है कि 'रजस्' की शक्ति द्वारा पूर्वकाल मे अनुभूत रजत् के सस्कार प्रत्यक्षीकरण के विषय पर आरोपित किये जाते है, एव 'तमस्' के द्वारा शुक्तिका का वास्तविक स्वरूप आच्छादन होकर रजत् के रूप मे प्रत्यक्ष होने लगता है।

वल्लभानुयायी तमस् को एक पृथक् तत्त्व स्वीकार करते है, वे इसे प्रकाश का अभाव मात्र नही मानते। शांकर वेदान्ती भी ऐसा ही मानते है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद

इन्द्रिय प्रक्रिया के प्राथमिक क्षण मे बुद्धि के सक्रिय होने पर "निर्विकल्पक ज्ञान" उत्पन्न होता है, तथा जब इन्द्रिय शक्ति के साह्चर्य में वृत्ति' के रूप मे 'बुद्धि' रूपान्तरित होती है तब "सविकल्पक ज्ञान" बनता है। यद्यपि एक वृत्ति के उदित होने पर पूर्व वृत्ति तिरोहित हो जाती है, तथापि वह 'संस्कार' के रूप में बनी रहती है। जब ये 'संस्कार' बाद में विशिष्ट कारणो अथवा अवस्थाओ द्वारा पुन. जागृत किये जाते है, तब 'स्मृति' का निर्माण होता है।

विशुद्ध इन्द्रिय ज्ञान अथवा सवेदन इन्द्रियों मे अन्तर्निहित नही माना जाता। "निर्विकल्पक ज्ञान" मे इन्द्रिय प्रक्रिया प्रथम रूप मे 'सत्त्व' को उत्पन्न करती है, अतएव इन्द्रियो के अनुप्रयोग से उत्पन्न प्राथमिक ज्ञान इन्द्रियो के विशिष्ट गुणो दृष्टिक, श्रवणीय इत्यादि का प्रवहन नहीं करते, अपितु मात्र अस्तित्व का प्रवहन करते है, जो किसी इन्द्रिय का विशिष्ट गुण न होकर

---

[1] स एव मायिक आकारो नयनकिरणेषु नेत्र मुद्रणे प्रत्यावृत्तेषु गोलकान्तरनुभूयते–प्रस्थानरत्नाकर, पृ0 123–125

केवल सत्त्व' के स्वरूप की अभिव्यक्ति होता है। ऐसा ज्ञान इन्द्रियो द्वारा उत्पन्न होते हुए भी उनमे स्थित नही रहता। 'भनस्' के द्वारा ही शुद्ध सत् के रूप मे यह ज्ञान इन्द्रिय–लक्षणो के साहचर्य मे विशिष्ट रूपो को ग्रहण करता है।

"सविकल्पक ज्ञान" की स्थिति मे भी यही क्रियाविधि रहती है। इसमे भी प्रथम क्षण मे इन्द्रियो के द्वारा सत् का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष किया जाता है, जो 'रजस्' के बाद के प्रभाव से नामरूप से सम्बन्धित हो जाता है। इन्द्रियो द्वारा प्रदत्त सत् ही इन्द्रियो के साहचर्य में 'रजस्' द्वारा अनुप्रेरित 'अन्त करण' के प्रभाव से नामरूप मे अभिव्यक्त होता है। 'प्रत्यक्ष' की स्थिति मे इन्द्रियॉ अपने प्राथमिक अनुप्रयोग से सत्त्व को प्रवाहित करती है, 'जिनके कारण विशुद्ध सत् का सप्रत्यक्ष होता है, तत्पश्चात् इन्द्रियो के साहचर्य मे क्रियाशील 'अन्त करण' के 'रजस्' तत्त्व द्वारा नाम रूप से सम्बन्धित हो जाती है।

सविकल्पक ज्ञान दो प्रकार का होता है–

(1) विशिष्ट बुद्धि (2) समूहालम्बन बुद्धि ।

'विशिष्ट बुद्धि' का अर्थ है सम्बन्धित ज्ञान तथा 'समूहालम्बन बुद्धि' का तात्पर्य है वाक्यो के समूह के रूप मे ज्ञान। सरल विषयो यथा, घट का ज्ञान एक सम्बन्धित ज्ञान माना जाता है। ये विविध प्रकार के सविकल्पक ज्ञान वस्तुत एक ही प्रकार के होते है, क्योकि वे सब इन्द्रियो द्वारा सत् की अभिव्यक्ति एवं 'अन्त.करण' द्वारा नामरूप के आरोपण के सरल व्यापार से युक्त होते है।

एक अन्य दृष्टिकोण से सविकल्पक ज्ञान पॉच प्रकार का होता है –

1 सशय,

2 विपर्यास,

3 निश्चय,

4 स्मृति,

5 स्वरूप।

'सशय' का तात्पर्य है, एक ही विषय मे दो अथवा अनेक विरोधी धर्मों के ज्ञान के रूप मे होना।[1] 'विपर्यास' का अर्थ है इन्द्रियों के सम्पर्क मे जो विषय है, उनसे भिन्न बाह्य विषयो के ज्ञान रूप मे होना। 'निश्चय' से तात्पर्य है 'विषयो' का सम्यक् ज्ञान। 'निश्चयात्मक ज्ञान' का 'स्मृति' से यह भेद है कि ज्ञान का अर्थ सदैव एक विषय का प्रत्यक्षीकरण होता है, जबकि स्मृति केवल आभ्यन्तरिक होती है एव वह एक पूर्व अनुभव द्वारा उत्पन्न होती है। सम्यक् ज्ञान दो प्रकार का माना जाता है

1 प्रत्यक्ष,

2 परोक्ष।

प्रत्यक्ष (सम्यक) ज्ञान इन्द्रिय एव उसके विषय के सत् सम्पर्क द्वारा उत्पन्न होता है।[2] स्मृति ज्ञान को एक ऐसे ज्ञान के रूप में जाना जाता है, जो न निद्रा से, न वाह्य विषयो द्वारा उत्पन्न होता है, अपितु पूर्व सस्कारो द्वारा उत्पन्न होता है, जो कि पूर्व ज्ञान के सूक्ष्म अस्तित्व में निहित होता है। स्वप्नानुभव के विशिष्ट सृष्टि होने के कारण साधारण अनुभवो के वस्तु–जगत् से उसका विभेद रहता है। ये स्वप्न के अनुभव ईश्वर की 'माया' शक्ति द्वारा निर्मित माने जाते है।

आचार्य वल्लभ का यह मत मध्वाचार्य के मत से वैभिन्न्य रखता है। मध्वाचार्य का मानना है कि स्वप्नानुभव किसी भी सामग्री से रहित होते है, तथा सृष्टि नही माने जा सकते। वे मात्र विचार द्वारा उत्पन्न भ्रम–मात्र होते है। वल्लभाचार्य के अनुसार स्वप्नानुभव के सृष्टि होने के कारण उसके ज्ञान को भी यथार्थ ही मानना चाहिए। सुषुप्ति स्वप्न के अनुभवों की ही एक जाति विशेष मानी जाती है। जिसमे 'आत्मा' स्वय को अभिव्यक्त करता है।[3]

---

[1] एकस्मिन् धर्मिणविरूद्धनानाकोट्यअवगाहिज्ञान सशयम्।
[2] इन्द्रियार्थ सत् सम्प्रयोगजन्य ज्ञानम्। प्रस्थान रत्नाकर, पृ0 20।
[3] तत्र आत्मस्फुरणं तु स्वतस्व।

चिन्तन का तात्पर्य है 'सकल्प' अथवा 'विकल्प' अथवा 'अन्वय' व्यतिरेक' विधि अथवा मानसिक संशय अथवा 'ध्यान'। इस चिन्तन' का 'स्मृति' के अन्तर्गत समावेश किया जाता है। लज्जा, भय इत्यादि भी 'अहकार' के व्यापार है।

'प्रत्यभिज्ञा' को सम्यक् ज्ञान अथवा निश्चयात्मक ज्ञान माना जाता है। अभ्यासजन्य दृढ 'ज्ञान' की दशा मे, तो पूर्वानुभव–सस्कार 'सहकारी' के रूप मे कार्य करते है तथा प्रत्यभिज्ञा की दशा मे 'स्मृति' सहकारिणी' के रूप मे कार्य करती है।[1] अतएव 'प्रत्ययभिज्ञा' को 'स्मृति' के कारण उत्पन्न माना जाता है, पूर्वानुभव संस्कार के कारण नही। आचार्य वल्लभ उसका कारण मानते हैं कि पूर्वानुभव संस्कार की प्रक्रिया होती है, तथापि 'स्मृति' का व्यापार उसमे प्रत्यक्ष सहायता प्रदान करता है।

'प्रत्यभिज्ञा' एवं 'स्मृति' मे भेद भी माना गया है। जहॉ 'स्मृति' की उत्पत्ति पूर्वानुभव संस्कारों से अपरोक्ष रूप में होती है, वही प्रत्यभिज्ञा वर्तमान प्रत्यक्षीकरण के साह्चर्य में 'स्मृति' की प्रक्रिया से अपरोक्ष रूप से तथा पूर्वानुभव संस्कारो की प्रक्रिया से परोक्ष रूप से उत्पन्न होती है। यह समस्त सम्यक् ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द एव सादृश्य (उपमिति)[2] हो सकता है।

किन्तु 'ईश्वर' का साक्षात्कार साधारण प्रत्यक्षीकरण से उत्पन्न नही होता। ईश्वर के स्वरूप का साक्षात्कार केवल उसके अनुग्रह से प्राप्त किया जा सकता है, जो समस्त रूपों मे 'भक्ति' द्वारा उत्पन्न किया जा सकता है।[3]

---

[1] अभ्यासजन्ये दृढप्रतीतिरूपे ज्ञाने यथा पूर्वानुभव सस्कार सहकारी तथा प्रत्यभिज्ञाया स्मृति सहकारिणी, ... । – प्रस्थानरत्नाकर, पृ0 25

[2] उपमिति, जो सादृश्य के ज्ञान से सम्बन्धित इन्द्रियो के द्वारा उत्पन्न होती है– सादृश्यादि सत्कृतेन्द्रियार्थ ससर्गज्ञान।

[3] वरण चानुग्रहः। स च धर्मान्तरमेंव, न तु फलादिष्टा। . स च भक्ति बीज भूत । – प्रस्थान रत्नाकर, पृ0 137 ।

अनुमान प्रमाण

वल्लभ दर्शन मे 'प्रत्यक्ष प्रमाण' के बाद द्वितीय स्थान अनुमान प्रमाण का है। 'अनुमान' प्रमाण की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है कि 'वह एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा प्रभावशाली ज्ञान प्राप्त किया जाता है'। यह अनुमान प्रक्रिया 'व्याप्ति ज्ञान' द्वारा प्रभावित होती है

समस्त वेदान्त शास्त्रो मे 'अनुमिति' के असाधारण कारण को 'अनुमान' कहते है। 'साध्य' के साथ 'हेतु' का, एक या अधिक उदाहरणो मे उसका समानाधिकरण्य देखे जाने पर आंशिक सस्कारो की जागृति होकर 'स्मृति' बनती है, तथा उसी के अनुसार हेतु द्वारा साध्य का निर्धारण किया जाता है। इस 'सम्यक् ज्ञान' को ही 'अनुमिति' कहते है।

वल्लभाचार्य के अनुसार 'अनुमिति' का कारण 'लिग' अथवा हेतु' होता है यद्यपि अद्वैत दर्शन मे व्याप्ति ज्ञान को अनुमिति का कारण माना जाता है[1] किन्तु वल्लभ दर्शन उसका निषेध करके 'लिग' को अनुमिति' का करण मानता है। न्याय भाष्यकार भी 'लिग' को ही अनुमिति का कारण स्वीकार करते है।[2] न्यायमत मे अनुमिति का क्रम इस प्रकार माना गया है–

(1) पक्षधर्मता ज्ञान – पर्वतो धूमवान् (पक्ष पर हेतु का होना)

(2) व्याप्ति लक्षण – यत्र–यत्र धूम तत्र–तत्र वह्नि (धूम वह्नि व्याप्त है)

(3) लिग परामर्श – व्याप्ति विशिष्ट धूमवान् पर्वत ।

(4) अनुमिति – पर्वतो वह्निमान्।[3]

इस प्रकार न्याय मतानुसार लिग परामर्श के अव्यवह्ति पश्चात् अनुमिति होती है। वल्लभ दर्शन के अनुसार भी अनुमान प्रक्रिया 'व्याप्ति ज्ञान' द्वारा प्रभावित होती है।

---

[1] अनुमितिकरणं च व्याप्ति ज्ञान–वेदान्त परिभाषा– पृ0 150।

[2] तत्पूर्वणम् – इत्येन लिगलिगिनोसम्बन्धदर्शन लिगदर्शन चाभिसम्बध्यते– न्याय भाष्य, पृ0 21।

[3] भारतीयदर्शन, नन्दकिशोरदेवराज – पृ0 274।

व्याप्ति

भारतीय दर्शन मे 'व्याप्ति' शब्द का स्पष्ट सकेत 'वैशेषिक सूत्र' मे प्राप्त होता है। सद् हेतु की विवेचना करते हुए महर्षि कणाद कहते है कि 'जो हेतु साध्य से सर्वथा अभिन्न अथवा भिन्न सम्बन्ध वाला होता है, वह हेतु (उपदेश) नहीं हो सकता, अपितु जो हेतु प्रसिद्धि पूर्वक (व्याप्ति पूर्वक) होता है वही सद् हेतु कहा जाता है'।[1] अत लिग का ज्ञान व्याप्ति ज्ञान के आधार पर माना है। साख्य दर्शन मे भी व्याप्ति का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। आचार्य व्याप्ति का लक्षण देते है कि साध्य तथा साधन दोनो का अथवा किसी एक का निरन्तर साह्चर्य ही 'व्याप्ति' है।[2] यथा– उत्पन्न हुए सब पदार्थ अनित्य है– यह साध्य है तथा 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्नि' 'यह साधन है। बौद्ध दर्शन मे भी अविनाभाव सम्बन्ध को 'व्याप्ति' कहा जाता है।

वल्लभ दर्शन 'व्याप्ति' का अर्थ करता है 'साध्य' मे 'हेतु' का निरूपाधिक अस्तित्व, अर्थात् जहॉ एक 'हेतु' होता है, वहॉ एक 'साध्य' होता है, एव जहॉ साध्याभाव होता है, वहॉ हेतु का अभाव भी होता है। 'हेतु' वह होता है, जिसके द्वारा एक अनुमान होता है तथा साध्य की स्वीकृति अथवा निषेध होता है।

'सांख्य प्रवचन सूत्र' के मत का समर्थन करते हुए वल्लभानुयायी पुरूषोत्तमाचार्य का मानना है कि जब एक गुण अथवा धर्म का निरूपाधिक अस्तित्व होता है, तब उसमे 'परस्पर अथवा 'एकांगी व्याप्ति' हो सकती है एव जब 'हेतु' के वृत्त का 'साध्य' के वृत्त से सपात होता है, तब 'समव्याप्ति

[illegible]
(ख) प्रसिद्धि पूर्वकत्वादपदेशस्य – वैशेषिकसूत्र 3/1/14
[2] भारतीय दर्शन, भाग 2 – डा0 राधाकृष्णन् पृ0 257।

होती है, एव जब हेतु का वृत्त 'साध्य' के वृत्त के अन्तर्गत होता है, तब 'विषम व्याप्ति' होती है।[1]

जब साध्य के साथ हेतु का समानाधिकरण्य एक अथवा अनेक उदाहरणो (स्थानो) मे देखा जाता है, तब उससे आशिक सस्कारो की जागृति होकर अनिवार्य समानाधिकरण्य की स्मृति का उदय होता है। तब उसी के अनुसार 'हेतु' द्वारा 'साध्य' का निर्धारण होता है। यथा, जब रसोई मे वह्नि एव धूम का सह–अस्तित्व दीखता है, तब धूम एव वह्नि का अनिवार्य समानाधिकरण्य ज्ञात होता है, तत्पश्चात् पर्वत मे धूम देखने पर वह्नि के साथ धूम के समानाधिकरण्य का स्मरण होता है, तथा धूम वह्नि के अस्तित्व का निर्धारण करता है, यहॉ धूम 'लिग' है, जो अनुमिति का कारण बनता है।

अनुमान प्रमाण के भेद

प्राय· सभी दार्शनिक सम्प्रदायो मे 'व्याप्ति' के दो भेद– 'अन्वय व्याप्ति' एव 'व्यतिरेक व्याप्ति' स्वीकार किया जाता है। 'अन्वय' का अर्थ है एक तत्त्व का ऐसा भावान्वय जो मात्र उसके सत्त्व से ही कार्योत्पत्ति करता है[2] एव 'व्यतिरेक' का तात्पर्य है उस तत्त्व का अभाव जिसमे कार्याभाव का समावेश होता है अर्थात वह तत्त्व जो कार्य के अभाव में स्वय भी अनुपस्थित रहता है।[3]

जहॉ हेतु के सद्भाव मे 'साध्य' का सद्भाव निश्चित रूप से उपलब्ध हो वह 'अन्वय व्याप्ति' है, यथा–'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्नि'। जहॉ साध्य के अभाव मे हेतु का भी अभाव निश्चित रूप से प्राप्त होता हो,

---

[1] नियत धर्म साहित्ये उभयोरेकतरस्य वाव्याप्तिरिति। उभयो समव्याप्तिकयो कृतकत्वा नित्यत्वादि रूपयोरेकतरस्य विषय व्याप्तिकस्य धूमादेर्नियत धर्मसाहित्ये अव्याभिचरित धर्मरूपे समानाधिकरण्ये व्याप्ति – प्रस्थानरत्नाकर, पृ0 139–140।

[2] तत्रस्व स्व व्याप्येतर यावत्कारणसत्त्वे यत्सत्त्वेऽवश्य यत्सत्वमन्वय – प्रस्थान रत्नाकर पृ० 32

[3] कार्यातिरेकेणानवस्थानम् – प्रस्थान रत्नाकर

वहा 'व्यतिरेक व्याप्ति' होती है, यथा यत्र यत्र वह्न्याभाव तत्र तत्र धूमाभाव'।

वल्लभानुयायी पुरूषोत्तम दो प्रकार के 'अनुमान' स्वीकार करते है–
(1) केवल व्यतिरेकी (2) अन्वय व्यतिरेकी।

जहॉ भावात्मक उदाहरण उपलब्ध नही होते तथा व्याप्ति केवल अभाव के द्वारा, होती है वह 'केवल व्यतिरेकी' अनुमान होता है। जहॉ व्याप्ति को अन्वय व्यतिरेकी की संयुक्त प्रणाली द्वारा ज्ञात किया जाता है, वहॉ 'अन्वय व्यतिरेक' अनुमान होता है।

पुरूषोत्तम 'केवलान्वयि' प्रकार के अनुमान को नही मानते है, क्योकि वे मानते है कि ब्रह्म मे 'साध्य' का अभाव होता है। इसका तर्क आचार्य देते है कि अनुमान के लौकिक उदाहरणो में भी अभावात्मक सत्ताओ की उपलब्धि होती है।[1]

न्याय दर्शन मे अनुमान के द्वारा अन्य व्याप्तियो को दृढतापूर्वक मनवाने के लिए पाच तर्क–वाक्यो को स्वीकार किया जाता है। वे है–

1 प्रतिज्ञा – पर्वतो वह्निमान्,

2 हेतु– धूमत्वात् ,

3 दृष्टान्त – यथा, महानसः

4 उपनय – यत्र–यत्र धूम, तत्र तत्र वह्नि, यत्र धूमाभावः तत्र वह्न्याभाव,

5 निगमन – अत्र धूमवान् य. वह्निवान्।

किन्तु इनको पृथक् तर्कवाक्य मानने की आवश्यकता नहीं है, वे एक ही सश्लिष्ट तर्क वाक्य के अवयव है।[2] तात्पर्य यह है कि इनमे से प्रथम तीन ही अवयव समुदाय से व्याप्ति ज्ञान हो जाता है। ये तीन हैं – प्रतिज्ञा, हेतु एव दृष्टान्त, जिन्हे पुरूषोत्तम अधिक मान्यता देते है।

---

[1] सर्वत्रापि केनचिद् रूपेण ज्ञेयत्वादि सत्वेअपि रूपान्तरेण तदभावस्य सर्वजनीनत्वाच्च केवलान्वयि साध्यकानुमानस्यैवाभावात् – प्रस्थानरत्नाकर, पृ0 141।

[2] प्रस्थान रत्नाकर, पृ0 143।

शब्द प्रमाण

प्रमाणो को ज्ञान प्राप्ति के प्रामाणिक व वैध साधनो के रूप मे परिभाषित किया जाता है। वल्लभ के अनुसार परमब्रह्म जो कि विभु व विश्वेतर हैं अथवा दैवीय है, उसे समझने के लिए अथवा उसकी व्याख्या के लिए वल्लभ ने 'श्रुति' या 'शब्द' को सर्वाधिक प्रामाणिक और एकमात्र साधन माना है। अन्य साधनों की वैधता इसी आधार पर होती है कि वे श्रुति के सिद्धान्तो के अनुरूप हैं। वल्लभ वेदो को नारायण की कृति मानते है। वे कहते है कि ब्रह्म के ज्ञान के लिए 'तर्क' सर्वथा अनुपयुक्त हैं जो उनके धार्मिक झुकाव को स्पष्ट करता है।

आचार्य वल्लभ प्रामाणिकता के सर्वमान्य तीन आधारों यथा वेदो ब्रह्मसूत्र व गीता जिन्हें प्रस्थानत्रयी के नाम से जाना जाता है, के अतिरिक्त भागवत पुराण को चतुर्थ आधार के रूप में सम्मिलित करते हैं।

वल्लभ प्रामाणिकता के उक्त चारों आधारो को महत्व के आधार पर उत्तरोतर क्रम में रखते है यथा उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्र तथा भागवत पुराण। उपनिषद से उत्पन्न संदेहों के निदान के लिए गीता को और गीता से उत्पन्न संदेहो के निदान व व्याख्या के लिए ब्रह्मसूत्र को मान्यता देते है। इस आधार पर उन्होंने भागवत पुराण को सर्वोच्च प्रमाणिकता प्रदान दी है। वल्लभमत के कुछ प्रमुख बिंदु वास्तव में भागवत पुराण की शिक्षाओं का विस्तार ही हैं। इस प्रकार ब्रह्मसूत्र की शिक्षाओ की व्याख्या के लिए भागवत पुराण पर वल्लभ की निर्भरता के लिए उनकी आलोचना भी की गई है।

वल्लभ का वेदो से तात्पर्य सम्पूर्ण वैदिक साहित्य यथा संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा पूर्व एवं उत्तर मीमांसा से है। इसके अतिरिक्त वे, जो श्रुति की शिक्षाओं के विरूद्ध नहीं हैं यथा व्याससूत्र सांख्य,

शब्द प्रमाण

प्रमाणो को ज्ञान प्राप्ति के प्रामाणिक व वैध साधनो के रूप मे परिभाषित किया जाता है। वल्लभ के अनुसार परमब्रह्म जो कि विभु व विश्वेतर है अथवा दैवीय है, उसे समझने के लिए अथवा उसकी व्याख्या के लिए वल्लभ ने 'श्रुति' या 'शब्द' को सर्वाधिक प्रामाणिक और एकमात्र साधन माना है। अन्य साधनो की वैधता इसी आधार पर होती है कि वे श्रुति के सिद्धान्तों के अनुरूप हैं। वल्लभ वेदो को नारायण की कृति मानते है। वे कहते है कि ब्रह्म के ज्ञान के लिए 'तर्क' सर्वथा अनुपयुक्त हैं जो उनके धार्मिक झुकाव को स्पष्ट करता है।

आचार्य वल्लभ प्रामाणिकता के सर्वमान्य तीन आधारो यथा वेदों ब्रह्मसूत्र व गीता जिन्हें प्रस्थानत्रयी के नाम से जाना जाता है, के अतिरिक्त भागवत पुराण को चतुर्थ आधार के रूप में सम्मिलित करते हैं।

वल्लभ प्रामाणिकता के उक्त चारों आधारो को महत्व के आधार पर उत्तरोतर क्रम में रखते है यथा उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्र तथा भागवत पुराण। उपनिषद से उत्पन्न सदेहो के निदान के लिए गीता को और गीता से उत्पन्न संदेहो के निदान व व्याख्या के लिए ब्रह्मसूत्र को मान्यता देते है। इस आधार पर उन्होने भागवत पुराण को सर्वोच्च प्रमाणिकता प्रदान दी है। वल्लभमत के कुछ प्रमुख बिंदु वास्तव में भागवत पुराण की शिक्षाओ का विस्तार ही हैं। इस प्रकार ब्रह्मसूत्र की शिक्षाओं की व्याख्या के लिए भागवत पुराण पर वल्लभ की निर्भरता के लिए उनकी आलोचना भी की गई है।

वल्लभ का वेदों से तात्पर्य सम्पूर्ण वैदिक साहित्य यथा संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा पूर्व एव उत्तर मीमांसा से है। इसके अतिरिक्त वे, जो श्रुति की शिक्षाओं के विरूद्ध नहीं हैं यथा व्याससूत्र सांख्य,

योग, महाभारत, गीता (केवल भगवान श्री कृष्ण के शब्द) रामायण, पुराण– साहित्य (भागवत पुराण) पॉचरात्र आदि को भी वल्लभ ने प्रमाणिक माना है।

'तत्वार्थ दीप निबंध' के 'सर्व निर्णय' अध्याय मे आचार्य वल्लभ ने प्रमाणो पर विस्तार से विचार किया है। सुबोधिनी के दशम् स्कन्ध मे वे कहते है कि ईश्वर स्वय ही चारो आधारो को प्रामाणिकता प्रदान करते है जिसका तात्पर्य है कि उक्त आधारो की प्रामाणिकता तर्क से परे है जो कि पूर्ण रूप से तार्किक नहीं है।

यद्यपि प्रत्येक वेदात विचारक ने अपने मतवाद के समर्थन में उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्र के अंशो को प्रयुक्त किया है अतः उनके अर्थो को मोडने का आरोप सभी पर लगता रहा है। ब्रह्मसूत्र भी उपनिषद् के महत्वपूर्ण तत्त्वो का सकलन ही है अतः महत्व की श्रेणी मे ब्रह्मसूत्र का स्थान उपनिषद् के बाद आता हैं। कुछ विचारको ने भागवत् पुराण, विष्णु पुराण तथा पॉचरात्र को अपने मतवाद के अनुसार अत्यधिक महत्व प्रदान किया है। आचार्य वल्लभ के सिद्धान्तो मे ज्ञान के वैध साधनो का स्पष्ट उल्लेख नही है लेकिन वे प्रत्यक्ष आदि को तब तक वैध मानते हैं जब तक कि वे 'शब्द' के अनुरूप हैं।

तत्व विवेचन में ज्ञान की उपयोगिता

वल्लभ दर्शन मानता है कि ईश्वर का स्वरूप जिसमें उसका सर्व सत्ताओ से तादात्म्य होता है, तथा वह मोक्ष स्वरूप होता है। उसके महान व कल्याण गुणो की अभिव्यक्ति के लिए वेदों की उत्पत्ति सृष्टि के आदि मे हुई है। यही नित्य ज्ञान है। ईश्वर के समस्त ज्ञेय रूपों मे शाब्दिक ज्ञान के रूप में उसकी अभिव्यक्ति होती है। वल्लभाचार्य ने प्रत्यक्षादि प्रमाणों को तभी तक

वैध माना है जब तक कि वे शब्द के अनुरूप है। अतएव शाब्दिक ज्ञान अथवा श्रुति ज्ञान ही ईश्वर की अभिव्यक्ति करने में पूर्ण समर्थ है।

समीक्षा

वल्लभाचार्य का सिद्धान्त जिसे 'शुद्धाद्वैतवाद' के नाम से जाना जाता है, उसका महत्व उन बिदुओ के आधार पर समझा जा सकता है जो शुद्धाद्वैत को अन्य पूर्वगामी मतों से अलग करते है। शुद्धाद्वैतवादी वल्लभाचार्य अपने सिद्धान्तों में स्वाभाविक अद्वैत एवं ऐच्छिक अद्वैत की मानक श्रुतियों के समन्वय द्वारा 'ब्रह्म' को मायासम्बन्ध रहित शुद्ध अद्वय मानते हैं। इस शुद्ध अद्वय ब्रह्म की प्राप्ति में अन्य वैष्णव वेदान्ताचार्यो की भॉति वे भी भगवदनुग्रह को एकमात्र साधन मानते हैं तथा इसे 'पुष्टि' संज्ञा देते हैं। इसी कारण इसका मोक्ष सिद्धान्त 'पुष्टिमार्ग' कहा जाता है। ये पूर्णतः भक्तिवादी हैं।

शुद्धाद्वैत की स्थापना हेतु आचार्य वल्लभ ने कुछ दार्शनिक धारणाओं का साधन रूप मे उपयोग किया है–

ब्रह्मवाद

सत्कारणवाद,

सत्कार्यवाद,

आविर्भाव एव तिरोभाव,

अविकृतपरिणामवाद,

कार्य–कारण तादात्म।

इस 'ब्रह्म' को वे 'ईश्वर' कहते हैं, तथा इसके अतिरिक्त समस्त सत्ताऍ ईश्वराश्रित मानते हैं। 'माया' अद्वैत सिद्धि में बाधक है।

वल्लभाचार्य के अनुसार शुक्ति–रजत रूपी भ्रम 'बुद्धि' की एक मानसिक अवस्था है। उनके भ्रम–मत को 'अन्यथाख्यातिवाद' कहा जाता है। अन्य वैष्णव दार्शनिको की भॉति ये भी शकराचार्य के 'अनिवर्चनीयख्यातिवाद' का प्रत्याख्यान करते है। भ्रम को मायोत्पन्न मानना इन्होंने अनुचित कहा है। आचार्य वल्लभ मानते है कि दृश्य जगत् वस्तुतः मिथ्या नही है, वरन् ईश्वर से पृथक् स्वतन्त्र रूप मे उसकी सत्ता स्वीकार नही की जा सकती।

वल्लभाचार्य ने ज्ञान की कई कोटियॉ स्वीकार की है। ईश्वर सम्बन्धित ज्ञान 'नित्य ज्ञान' है। इसके अतिरिक्त एक प्रकार का इन्द्रिय ज्ञान एवं चार प्रकार के मानसिक ज्ञान को मिलाकर कुल दस प्रकार के ज्ञान स्वीकार किये जाते है। यह ज्ञान मात्र तीन क्षणो का नहीं होता अपितु संस्कार के रूप में बना रहता है।

सत्त्व द्वारा उत्पन्न ज्ञान 'प्रमा' एव मिथ्या ज्ञान 'अप्रमा' माना जाता है। वल्लभाचार्य 'समवाय' सम्बन्ध को स्वीकार नही करते तथापि 'समवायि कारण' को तादात्म्य सम्बन्ध रूप मे मानते है।

प्रमाणों से सम्बन्धित ज्ञान 'सात्विक ज्ञान' कहा जाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय एव विषयो से उसके सत् सम्पर्क द्वारा उत्पन्न होता है। वल्लभाचार्य मनस् को भी एक इन्द्रिय मानते हैं। 'वृत्ति' को अन्तःकरण का विकार अथवा मानसिक अवस्था स्वीकार किया गया है। छ. इन्द्रियो की भॉति प्रत्यक्ष प्रमाण के भी छ भेद माने गए है।

वल्लभानुयायी पुरूषोत्तम ने 'काल' प्रत्यय को बुद्धि का निर्धारक कहा है, जो अन्य कारणो के साथ मानसिक प्रकाश का उत्तरदायी होता है। इन्द्रिय प्रक्रिया के प्रथम क्षण मे निर्विकल्पक ज्ञान होता है तथा वृत्ति के रूप में बुद्धि के रूपान्तरित होने पर सविकल्पक ज्ञान होता है।

मध्वमत के विरूद्ध वल्लभाचार्य स्वप्नावस्था को यथार्थ मानते है। वल्लभ दर्शन मे अनुमान प्रमाण को एक प्रभावशाली ज्ञान का साधन माना जाता है जो तीन अवयवो – प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त द्वारा पुष्ट होता है। यह अनुमान प्रक्रिया व्याप्तिज्ञान द्वारा प्रभावित होती है।

वल्लभानुयायी पुरूषोत्तम उपमान एवं अनुपलब्धि को पृथक प्रमाण नही मानते हैं। उपमान का अन्तर्भाव वे 'प्रत्यक्ष' मे ही करते है। पुरूषोत्तम 'अर्थापत्ति' को एक पृथक् प्रमाण मानते हैं। वह अन्तर्विरोध के द्वारा ज्ञात तथ्य से अज्ञात तथ्य की ओर प्रवृत्त करता है।

वल्लभाचार्य ने शब्द प्रमाण को महत्वपूर्ण माना है। वे श्रुति अथवा शब्द प्रमाण को भगवद् ज्ञान मे परम सहायक मानते है। चार वेदो, श्रीमद् भागवत्, ब्रह्मसूत्र एवं भगवत्गीता ये चार श्रुति प्रमाण है।

सप्तम् अध्याय

अचिन्त्यभेदाभेद सम्प्रदाय

भूमिका

भ्रम का स्वरुप

सत्कार्यवाद

प्रत्यक्ष ज्ञान

समीक्षा

निम्बार्काचार्य एव वल्लभचार्य के उपरान्त उत्तर भारत के वैष्णव सुधारको मे अन्तिम नाम महाप्रभु चैतन्य का आता है। वस्तुतः इन्हे वल्लभाचार्य का अवर समकालीन माना जाता है। श्री चैतन्य ने अपने विचारो मे परमेश्वर श्रीकृष्ण की अनन्या भक्ति के अतिरिक्त और कुछ नही कहा है। उन्होने स्वयं कोई रचना नही की जो उनके दर्शन को स्पष्ट कर सके। उनके उपदेशो के आधार पर जीव गोस्वामी (16 वी. शती) तथा बलदेव विद्याभूषण ने दार्शनिक विचार धारा का प्रवर्तन किया, जिसे 'अचिन्त्यभेदाभेदवाद' कहा जाता है।

श्री चैतन्य के अनुयायी दार्शनिक विचार धारा मे रामानुजाचार्य एवं मध्वाचार्य से प्रभावित प्रतीत होते हैं।[1] ज्ञान के साधनो के विषय मे परम्परागत विवरण ही प्राप्त होते हैं, जिनमें वैदिक प्रामाण्य प्रमुख हैं।

भ्रम का स्वरुप

अचिन्त्यभेदाभेदवादी 'माया' को ब्रह्म की वाह्य शक्ति के रूप मे मानते हैं जो जीव को प्रभावित करती है, किन्तु ब्रह्म को नही। ब्रह्म प्राप्ति के अनन्तर इसका आभास समाप्त हो जाता है। 'प्रकृति' एव उसके विकार केवल अभिव्यक्ति अथवा आभास मात्र हैं, जिनकी माया की शक्ति के द्वारा ब्रह्म के बाहर सृष्टि की जाती है।

जीव शरीर को ज्ञात कर सकते है, किन्तु वे परम तत्व एव सर्व वस्तुओ के परम द्रष्टा को ज्ञात नहीं कर सकते। 'माया' के द्वारा ही विभिन्न वस्तुएँ एक आभासी स्वतन्त्र अस्तित्व रखती हैं, और जीवो द्वारा ज्ञात की

---

[1] प्रमेय रत्नावली, पृ० 8

जाती है। माया की प्रक्रिया 'प्राण', मनस् , इन्द्रियो के व्यापार तथा शरीर इस कारण सम्भव होते है क्योकि वे ईश्वर की मौलिक 'स्वरूप शक्ति' से परिव्याप्त माने गए है।[1] द्रव्य का प्रत्यक्ष किया जाता है, किन्तु शक्ति का नही। ईश्वर की शक्ति एक साथ ही 'स्वाभाविक' और 'अचिन्त्य' होती है। साधारण जगत् मे भी वस्तुओ की शक्तियॉ अचिन्त्य मानी जाती है, अर्थात न तो उसका वस्तुओ के स्वरूप से निगमन से निगमन किया जा सकता है, न ही साक्षात् प्रत्यक्ष के द्वारा। इस प्रकार द्रव्य मे स्थित शक्तियों के अस्तित्व को तर्क द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता, अपितु एक उपपत्ति के रूप मे स्वीकार किया जाता है।[2]

ब्रह्म का यथार्थ एव अनिवार्य स्वरूप समस्त वस्तुओ मे सदा एक रूप रहता है, अतएव उस अवस्था में कोई द्वैत नही होता, इस कारण कुछ भी ज्ञेय नही होता एव न ही उससे पृथक् कोई रूप होता है। जो परम तत्व समस्त वस्तुओ को अभिव्यक्त करता है, वह स्वय को भी अभिव्यक्त करता है। यथा, वह्नि की उष्ण रश्मियाँ जो अपना अस्तित्व वह्नि से ही प्राप्त करती है, वे स्वयं वह्नि को नही जला सकती।[3]

परमेश्वर की 'अचिन्त्य शक्ति' समस्त विरोध ग्रस्त दृश्य घअनाओ की व्याख्या करने मे समर्थ है तथा 'योगमाया' के द्वारा परमेश्वर किसी भी रूप, आभास अथवा दृश्य घटना की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति कर सकता है।

---

[1] स्वरूपभूताख्यामन्तरगा शक्ति सर्वस्यापि प्रवृत्यन्थानुपपत्या–षट् सदर्भ, जीव गोस्वामी, पृ० 69

[2] लोके हि सर्वेषा भावाना मणि मन्त्रादीना शक्तय अचिन्त्य ज्ञान गोचरा अचिन्त्य तर्क सह मज्ज्ञान कार्यान्यथानुपपत्ति प्रमाणक तस्य गोचरा सन्ति–षट् सन्दर्भ, पृ० 63-64

[3] षट् सन्दर्भ, पृ० 71

जीव गोस्वामी ने साधारण वेदान्त मत, जो ब्रह्म को शुद्ध चैतन्य तथा वस्तुओं का आश्रय मानता है, का निषेध किया है। वह माया एव ब्रह्म के सम्बन्ध को अनुभवातीत एवं तर्कातीत मानते है। वे मानते है कि यद्यपि आभासों को उत्पन्न करने वाली विभिन्न शक्तियॉ परमेश्वर में निवास कर सकती है तथापि उसके साह्चर्य का रूप सर्वथा अचिन्त्य हो सकता है। ब्रह्म मे द्वैत का आभास अज्ञान की उपस्थिति के कारण नही, अपितु उसकी अचिन्त्य शक्तियो के कारण होता है। इस प्रकार सूक्ष्म जीव एव जगत् की सूक्ष्म जडात्मक शक्तियाँ, दोनों की उत्पत्ति परमात्मा से ही है। परमात्मा स्वयं मे इस उत्पत्ति का 'निमित्त कारण' है तथा अपनी शक्तियों के साहचर्य में वह जगत् का 'उपादान कारण' है।

सत्कार्यवाद

समस्त वैष्णव मतानुयायियों की भॉति चैतन्य मतानुयायी भी जगत् को रज्जु–सर्प के सदृश मिथ्या नहीं मानते किन्तु घट की भॉति उसका नाश अवश्यसम्भावी माना जाता है। इस सम्बन्ध में 'सत्कार्यवाद' के सिद्धान्त को माना जाता है। इसके अनुसार परमात्मा की सूक्ष्म शक्ति ही विविध रूपो मे अपनी अभिव्यक्ति करती है।[1]

शुक्ति पर अध्यस्त रजत की भाँति एक अभास सर्वथा मिथ्या होता है, क्योंकि उसका केवल आभास होता है, परन्तु उसकी कोई उपयोगिता नही होती, इसलिए यह विंश्वास किया जाता है कि वस्तुओं का एक विशेष स्वभाव होता है, तथापि वे सर्वथा भिन्न प्रभाव डालती है। एक वस्तु के किसी अन्य वस्तु होन के मिथ्या ज्ञान के होते हुए भी तद् वस्तु अपने

---

[1] सूक्ष्मावस्था लक्षण तच्छक्ति ।

स्वाभाविक गुणो को बनाए रखती है, जो मिथ्या प्रत्यय से प्रभावित नही होते।

एक वस्तु में किसी परिवर्तन अथवा उपयोग को उत्पन्न करने की जो शक्ति होती है वह समस्त कालो एव स्थानो मे, अथवा वस्तु के परिवर्तन मे उपस्थित नहीं रह सकती। इसलिए यह शक्ति नित्य एव स्थायी नही मानी जा सकती। शुक्ति–रजत के सदृश एक मिथ्या आभास, जिसका केवल एक दृश्य रूप है किन्तु जिसमे कोई अन्य उपयोग अथवा परिर्तनो को उत्पन्न करने की शक्ति नही होती, उसे सत् नही माना जा सकता। केवल वही सत् है जो मिथ्या विषयो अथवा उन विषयों के समस्त उदाहरणो मे उपस्थित रहता है। इस अर्थ में 'अचिन्त्यभेदाभेदवाद' सिद्धान्त 'सत्कार्यवाद' एव परिणामवाद दोनों को मानता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान

जीव गोस्वामी का मानना है कि साधारण बोध स्वरूप चेतना की एक अवस्था होती है जो निश्चयात्मक ज्ञान में परिणत हो जाती है। निश्चयात्मक ज्ञान के पूर्व असम्बद्ध तात्कालिक अनुभव होता है, यह निर्विकल्प बोध है। अपने मूलरूप मे निश्चयात्मक बोध इसी में अन्तर्निहित रहता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान मे पूर्व से विद्यमान निश्चयात्मक ज्ञान विश्लेषण के उपरान्त बुद्धिगम्य किया जाता है। यह निर्विकल्प ज्ञान चेतना का एक तथ्य है तथा यह अर्न्तदृष्टि ज्ञान भी इसी प्रकार का है, जिसमे सम्बन्ध अनुपस्थित रहते है। जीव गोस्वामी ऐसे सर्वव्यापी को नही मानते जिसमे समस्त भेद सम्मिलित हो।[1]

---

[1] भागवत् सन्दर्भ, पृ० 55

हमे पहले सर्वव्यापी का उसके स्वरूप मे ज्ञान होता है, तदुपरान्त सोपाधिक सर्वव्यापी का ज्ञान होता है। ब्रह्म का अर्न्तदृष्टि द्वारा प्राप्त ज्ञान, जो शुद्ध एवं साधारण है, चेतना का एक सन्देह रहित तथ्य है, यद्यपि जीव गोस्वामी इसका अतीन्द्रिय होना आवश्यक मानते हैं।

बलदेव का मानना है कि मानव मात्र का चरम लक्ष्य आनन्द का नित्य स्वामित्व एवं दुःखो का नित्य निरोध है। यह लक्ष्य आत्म स्वरूप को जानने वाले व्यक्ति के द्वारा भगवान के स्वरूप एवं गुणों से सम्बन्धित रूप के यथार्थ ज्ञान के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता हैं। वह भगवान अपने स्वरूप में एक है, तथा शुद्ध चित्त एवं आनन्द है। तथापि वह अनेक स्थानो व विविध भक्तों के रूप में आविर्भूत होता है। उसकी चिन्तन प्रक्रिया भक्तों के मन में होती है इस कारण बलदेव स्वप्न सृष्टियो को मिथ्या नहीं मानते। इनके अनुसार ये स्वप्न सृष्टियॉ सत्य होती है, तथा भगवान की इच्छा से उत्पन्न होती हैं। जाग्रतावस्था मे ये भगवान की इच्छा से ही तिरोहित रहता है।[1] इसलिए भक्तों के मन में आविर्भूत होने वाली ये स्वप्न मूर्तियॉ यथार्थ होती है जो भगवान के द्वारा उसी--की इच्छा से अभिव्यक्त होकर मन के साहचर्य से क्रियान्वित होती हैं।

बलदेव अद्वैतवादियों के प्रतिबिम्बवाद का प्रत्याख्यान करते है एव उसे दोषपूर्ण कहते हैं क्योंकि प्रतिबिम्ब की सकल्पना में भेद का समावेश होता है।

बलदेव मानते है कि जीव सूक्ष्म अणु रूप, प्रकृति के गुणो से समन्वित तथा भगवान पर पूर्णतः आश्रित होता है। यद्यपि ब्रह्म सर्वव्यापी है,

---

[1] गोविन्द भाष्य, 3/2/1-5

तथापि वह ज्ञान एव भक्ति के द्वारा ज्ञात किया जा सकता है। ज्ञान स्वरूप होता हुआ भी जीव ज्ञाता है, अणु चैतन्य होने से अल्पज्ञ है। भगवान के स्वरूप की यथार्थ अनुभूति अपरोक्षानुभूति द्वारा एव उसका इन्द्रिय प्रत्यक्ष केवल साध्य भक्ति द्वारा सम्भव है। भगवान के चित् एव आनन्द को भगवान के द्रव्य अथवा गुणो के रूप मे जाना जा सकता है। उसके प्रति यह उल्लेख 'विशेष' नामक प्रत्यय को मानकर किया जाता है। इसी प्रत्यय के बल पर 'सत्' का अस्तित्व है, काल का अस्तित्व है, इत्यादि तर्क वाक्यो को सत् माना जाता है। इस विशेष के प्रत्यय के द्वारा ही बलदेव 'अचिन्त्यत्व' के स्वरूप की अधिक स्पष्ट व्याख्या करते है।[1]

मनुष्य में प्राप्त होने वाली सकल्प एवं स्वतःस्फूर्त इच्छा हरिइच्छा की ही अभिव्यक्ति है। इस प्रकार जीव एव जगत् दोनो ही नियति के अधीन है। जीव की कोई स्वतन्त्रता नही मानी जाती। जब एक व्यक्ति कोई विशेष कार्य अथवा आचरण करता है अथवा कोई सकल्प करता है, तब वह स्वय कर्त्ता नही होता अपितु केवल माध्यम होता है, जिसके द्वारा परमेश्वर कार्य करता हैं।[2] इस क्रिया का एक मात्र कारण मनुष्य के अनादि पूर्व कर्म होते है, जिनके अनुसार भगवान मनुष्येच्छा को निर्धारित करते है। बलेदव ने 'भक्ति' को भी एक ज्ञान–विशेष कहा है।[3]

---

[1] तेनैव तस्य वस्त्वभिन्नत्व स्व निर्वाहकत्व च स्वस्य तादृशे तद्भावोज्जृम्भकमचिन्त्यत्व सिद्धयति – गोविन्द भाष्य 3/2/3 पर सूक्ष्म टीका।

[2] भारतीय दर्शन, भाग II डा० एस० राधाकृष्णन, पृ० 667

[3] वही , पृ० 670

समीक्षा

चैतन्य महाप्रभु पूर्णतः भक्तिवादी थे। उनके अनुयायियो मे जीव गोस्वामी तथा बहुत समय पश्चात् बलदेव विद्याभूषण ने उनके मतो को दार्शनिक रूप दिया।

डा० राधाकृष्णन का मानना है कि ज्ञान के सिद्धान्त विषयक प्रश्नो पर ऐसा कुछ नही है जो इस सम्प्रदाय का अपना विशेषत्व रखता हो।[1] ये परम्परागत वैदिक प्रमाणो को ही स्वीकार करते हैं। 'माया की सत्ता में' विश्वास करते है तथा यह मानते है कि माया के द्वारा ही वस्तु का यथार्थ एवं सत् ज्ञान प्राप्त न होकर आभासित ज्ञान होता है।

परवर्ती अचिन्त्यभेदाभेदवादी बलदेव द्वारा जिस विचार तत्र का प्रतिनिधित्व किया जाता है उसे 'मध्व–गौडीय मत' की सज्ञा दी गई है। किन्तु डा० राधाकृष्णन का मानना है कि बलदेव इत्यादि यद्यपि स्वय को सिद्धान्तो मे मध्व का अनुयायी मानते है तथापि उनके विचार वस्तुत. रामानुज के अधिक निकट है।[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि श्री चैतन्य एव उनके अनुयायियो का दार्शनिक विवेचन पूर्णतः भक्ति परक है। उन्होने स्वतन्त्र रूप से ज्ञानमीमासा का विवेचन नही किया है। अन्य दार्शनिक मतो के लिए वे रामानुजाचार्य एव मध्वाचार्य के सिद्धान्तों के ऋणी हैं।

---

[1] भारतीय दर्शन, भाग II – डा० एस० राधाकृष्णन, पृ० 667

[2] वही, पृ० 670

अष्टम अध्याय

उपसंहार

समस्त दार्शनिक सम्प्रदायों का इस विषय मे मतैक्य है कि मानव मात्र का परमलक्ष्य आत्मसाक्षात्कार द्वारा परब्रह्म प्राप्ति है, जो वस्तुत ज्ञान के अभाव मे संभव नही है। भारतीय दर्शन में 'ज्ञान' की समस्या कुछ मूलभूत प्रश्नो के साथ उपस्थित रहती है, जिनका समाधान करने हेतु प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय मे ज्ञान के स्वरूप एव उसके साधनो तथा ज्ञान प्रक्रिया का भिन्न–भिन्न प्रकार से विवेचन किया जाता है।

भारतीय दर्शन की मुख्य विशेषता आध्यात्मिक ज्ञान की प्रधानता एव व्यावहारिकता है। इस दोनो में सामंजस्य स्थापित करने के लिए तत्त्वमीमांसा के साथ ज्ञानमीमासा का भी अध्ययन आवश्यक है, क्योकि ज्ञान के द्वारा ही सत् के स्वरूप का निर्धारण होता है।

भारतीय वेदान्त दार्शनिक 'प्रस्थान–त्रयी' को अपने सिद्धान्तो का आधार मान कर अपने भिन्न–भिन्न विचार प्रस्तुत करते है 'प्रस्थान–त्रयी' से तात्पर्य है–उपनिषद्, गीता एवं ब्रह्मसूत्र। कुछ वेदान्त दर्शनो, विशेषत वैष्णव वेदान्त सम्प्रदायो मे 'श्रीमद्भागवत्' को भी वेदान्त माना गया है।

वेदान्त सम्प्रदायो की संख्या मुख्य रूप से छ मानी जाती है–

(1) शकराचार्य का केवलाद्वैत सम्प्रदाय,

(2) रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय,

(3) निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैत सम्प्रदाय,

(4) मध्वाचार्य का द्वैत सम्प्रदाय,

(5) वल्लाभाचार्य का शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय,

(6) चैतन्य महाप्रभु का अचिन्त्यभेदाभेदवाद अथवा गौडीय सम्प्रदाय।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे इन्हीं छह प्रमुख सम्प्रदायो के ज्ञानमीमांसा सम्बन्धी प्रश्नों का यथासम्भव विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसमे आचार्य शकर का केवलाद्वैतवाद, अद्वैत ब्रह्म को निर्विशेष, निर्गुण मानता है

तथा अन्य सभी वैष्णव वेदान्त सम्प्रदायो मे सगुण, साकार ब्रह्म मानकर उसे 'ईश्वर' कहा गया है।

इन सम्प्रदायो मे शकराचार्य का 'केवलाद्वैत' अथवा अद्वैत वेदान्त ही मुख्य रूप से ब्रह्म को ज्ञान स्वरूप मानता है। 'वह परमसत्ता ही ज्ञान है तथा ज्ञान ही सत्ता है, इन दोनों मे परस्पर कोई भेद नही है'।[1] अद्वैत वेदान्त दर्शन मे प्रातिभासिक, व्यावहारिक तथा पारमार्थिक सत्ताओ मे से व्यावहारिक सत्ता मे ही ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय इस त्रिपुटी का व्यवहार होता है, वस्तुत पारमार्थिक दृष्टि से इनमें कोई भेद नहीं है। 'ज्ञाता' एव 'ज्ञेय' दोनो ही ज्ञान के प्रति हेतु है। 'वेदान्त परिभाषा' में ज्ञान की परिभाषा दी गयी है, "ज्ञान वह है जिसे पहले कभी न जाना गया हो, और जानने पर जिसका बाध न हो सके।"

अपने ब्रह्म सूत्र भाष्य का प्रारम्भ करते हुए आचार्य शंकर ने लौकिक अनुभव के विवेचन में दर्शन की मूल समस्या 'भ्रम के स्वरूप' का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। शकराचार्य मानते है कि समस्त लोक व्यवहार दो तत्त्वों, 'शुद्ध चैतन्य' स्वरूप 'आत्मतत्त्व', जो विषयी, ज्ञाता, चेतन एवं नित्य है तथा 'अहं' प्रत्ययगोचर है, तथा 'विषय' या 'ज्ञेय पदार्थ, जो जड एव अनित्य है, इदं प्रत्यय गोचर है, के परस्पर तादात्म्य पर निर्भर है। इस शुद्ध आत्मतत्त्व पर अविद्या के कारण अनात्म पदार्थो तथा देहेन्द्रियान्तःकरणादि अनात्म धर्मो का अध्यास होते ही यह शुद्ध साक्षिचैतन्य 'जीव' अथवा 'प्रमाता' के रूप मे अवभासित होता है, यही 'मुख्याध्यास' है। इसे ही अज्ञान, अविद्या, भ्रम इत्यादि नाम दिये जाते है। इसके नाश के लिए ही अद्वय आत्मतत्त्व का अपरोक्ष ज्ञान आवश्यक माना गया है।[2]

---

[1] सत्तैव बोधो बोध एव च सत्ता, नानयो परस्परव्यावृत्ति (ब्र0सू0 शा0 भा0 3/2/21

[2] अस्यानर्थ हेतो प्रहाणाय आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरम्भन्ते – अध्यास भाष्य, शा0 ब्र0 सू0 भा0।

यह 'अध्यास' मिथ्या ज्ञान अथवा असत् ज्ञान है, सत् पर असत् का आरोप मात्र है। शकराचार्य अन्य दार्शनिक ख्यातिवादो का खण्डन करते है कि भ्रम, विवेकाग्रह अथवा ज्ञान का अभाव अथवा अपूर्ण ज्ञान नही अपितु मिथ्या ज्ञान या अन्यथा ज्ञान है। यह तादात्म्य सबध वस्तुत भेद, अभेद एवं भेदाभेद रूपी सबध का अभाव ही है।

भ्रम के स्वरूप के संबध मे आचार्य शकर अनिर्वचनीयख्याति' को स्वीकार करते है। इसके मतानुसार अविद्यावश भ्रम स्थल मे एक अनिर्वचनीय वस्तु की उत्पत्ति होती है तथा उसी अनिवर्चनीय वस्तु की ख्याति (भ्रान्ति) भी होती है। 'अनिर्वचनीय' का तात्पर्य है, जो न सत् हो न असत् न ही सदसत्। यह भ्रम शशविषाण की भॉति असत् नहीं है (प्रतीति होने से), सत् भी नहीं, क्योंकि ज्ञान से बाधित है तथा सदसत् उभय का साथ परस्पर विरोधी है। अद्वैतमत मे भ्रम ज्ञान निर्विषय नही माना जाता अपितु भ्रम ज्ञान का विषय होता है। उस सिद्धान्त को वे वस्तुवादी से भी अधिक दृढता से स्वीकार करते है। किन्तु वे तात्त्विक वस्तुवाद का विरोध भी करते है। आचार्य शंकर ने प्रतिभास एवं व्यवहार के भेद द्वारा व्यवहार को उच्चतर स्तर का माना है तथा जगत् की व्यावहारिक सत्ता का उसके सापेक्ष सत्यत्व की प्रतिपादन किया है। यह व्यावहारिक सत्ता ब्रह्म ज्ञान पर्यन्त सत् रहती है।

यथार्थ ब्रह्म तथा व्यावहारिक किन्तु अयथार्थ जगत् मे परस्पर सबध के लिए शंकराचार्य ने 'माया' की अवधारणा की है क्योकि वे मानते है कि सान्त जगत् एवं अनन्त ब्रह्म मे कार्य कारण भाव सम्बन्ध नही बन सकता। 'माया' ब्रह्म की एक अनिवर्चनीय शक्ति है जो अपनी दो शक्तियो आवरण एव विक्षेप द्वारा सृष्टि प्रक्रिया करती है। वास्तव मे भ्रम का कारण यही माया है। माया एव अविद्या को अद्वैत मत में पयार्यवाची भी माना जाता है।

यद्यपि शकराचार्य प्रतिपादित मत बौद्धिक तार्किकता पर आधारित था, तथापि साधारण जन के व्यवहार से परे जटिलता एव गभीरता को धारण

किये हुए था। अत प्रतिक्रिया स्वरूप वैष्णव सम्प्रदायो का उदय हुआ जिसमे प्रमुख है – विशिष्टाद्वैतवाद। विशिष्टाद्वैतवाद के प्रमुख प्रतिनिध आचार्य रामानुज हुए। उन्होने शंकर के निर्गुण ब्रह्म तथा सगुण ब्रह्म के मध्य सामजस्य स्थापित करके ब्रह्म को ईश्वर के रूप मे सर्वसुलभ बनाया।

रामानुजाचार्य अपने दर्शन का प्रारम्भ ही शंकराचार्य के अविद्या अथवा मायावाद के खण्डन से करते हैं। इसके लिए वे 'सप्तानुपपत्ति' का सिद्धान्त देते है। इसके अनुसार मायावाद का सिद्धान्त मान्य नही है–क्योकि

(1) माया ब्रह्म पर आश्रित नही हो सकती। माया एव ब्रह्म दो तत्त्व मानने से अद्वैत की हानि होगी।

(2) शुद्ध स्वप्रकाश ज्ञान स्वरूप ब्रह्म को अविद्या आवृत्त कैसे कर सकती है।

(3) अविद्या का स्वरूप क्या है ? सत् (भावात्मक) अथवा असत् (अभावात्मक)।

(4) माया को अनिर्वचनीय कहना भी तो उनका निर्वचन करना ही है। (5) अविद्या की सिद्धि के लिए कोई प्रमाण भी नही है।

(6) अविद्या का निवर्तक या विनाशक कोई नहीं है। ब्रह्म निर्विशेष तो है नहीं।

(7) अविद्या अथवा माया की निवृत्ति सिद्ध नही होती।

रामानुजाचार्य शंकराचार्य की 'अनिर्वचनीयख्यातिवाद' का खण्डन करके 'यथार्थख्याति' अथवा 'सत्ख्यातिवाद' का प्रवर्तन करते है। रामानुजाचार्य के अनुसार ज्ञान यथार्थ होता है, मिथ्या ज्ञान के रूप मे भ्रम असम्भव है। ज्ञान सत् पदार्थ का ही होता है। भ्रम अथवा अज्ञान अपूर्ण किन्तु सत् ज्ञान है। यह अन्यथा ज्ञान भी नही। प्रमा द्वारा भ्रम का बाध नही होता अपितु भ्रम के आंशिक ज्ञान की समग्र ज्ञान के रूप में पुष्टि होती है।

लगभग सभी परवर्ती वैष्णव दार्शनिक शकराचार्य के भ्रम सिद्धान्त 'मायावाद' का विरोध करते है। निम्बार्क मतानुयायी भी 'सत्ख्यातिवाद' को ही

मानते है। वे ब्रह्म के सहयोग से उत्पन्न होने वाले अज्ञान के सिद्धान्त को ही अमान्य मानते है।

मध्व मतानुयायी मानते है कि भ्रम अनिवर्चनीय नही माना जा सकता। भ्रामक ज्ञान मे दोषो का प्रभाव रहता है, न कि अज्ञान का। भ्रम सन्निकर्ष का कारण वस्तुत इन्द्रिय दोष, सस्कार व्यापार इत्यादि भौतिक परिस्थितियॉ है।

भ्रम के विषय मे शुद्धाद्वैतवादी 'अन्यथाख्यातिवाद' स्वीकार करते है। उनका मानना है कि अद्वैतवादी मत मे ब्रह्म को माया युक्त मानकर सीमित कर दिया गया है। वल्लभाचार्य मानते है कि 'भ्रम' बुद्धि की एक मानसिक सृष्टि है। सम्यग् ज्ञान मे बुद्धि वही ग्रहण करती है, जिसे ज्ञानेन्द्रियो ने प्रत्यक्ष किया है।

ये सभी वैष्णव वेदान्ती जगत् को ब्रह्म की माया शक्ति द्वारा की गयी मिथ्या सृष्टि न मानकर यथार्थ मानते है। रामानुजाचार्य के अनुसार प्रमा या सम्यक् ज्ञान सदैव सविकल्पक होता है। ज्ञान, ज्ञातृ–ज्ञेय सम्बन्ध होने से ज्ञाता मे रहता है तथा ज्ञेय पदार्थ को ज्ञाता का विषय बनाता है। ज्ञान ईश्वर, माया, जीव पर आश्रित रहने से उनका धर्म है। आत्मा वस्तुत. ज्ञाता है जो ज्ञान स्वरूप एव ज्ञानाश्रय तो है, परन्तु ज्ञान मात्र नही। ज्ञान का ज्ञान या तो किसी वस्तु के साथ होता है या बिल्कुल नही होता।

निम्बार्क मतानुयायी भी आत्मा या शुद्ध चैतन्य को 'ज्ञाता' ही मानते है तथा ज्ञान को ज्ञाता आत्मा का धर्म। वे मानते है कि ज्ञान से मिथ्या ज्ञान का नाश नहीं होता, क्योंकि ज्ञान स्वयं के सदृश पदार्थ का ही नाश करता है। एक ज्ञान की अन्य ज्ञान से निवृत्ति हो सकती है।

द्वैतवादी मध्वाचार्य ज्ञान का स्वरूप यथार्थ मानते है, क्योकि ज्ञान की अपने विषय मे अनुरूपता होती है तथा यह स्वाभाविक रूप मे स्वत प्रमाण होता है। मध्व दर्शन का आधार ही अनुभव अथवा ज्ञान है। उनका मानना है कि ज्ञाता तथा ज्ञात प्रमेय के बिना कोई ज्ञान उत्पन्न नही हो सकता। ज्ञान

के कर्त्ता अथवा ज्ञात प्रमेय पदार्थ के बिना ज्ञान के विषय मे कुछ भी कहना निरर्थक है। ज्ञान द्वारा ही पंच भेदो को जानकर भगवत्प्राप्ति सभव है।

शुद्धाद्वैतवादी वल्लभाचार्य ने ज्ञान के कई भेद माने है। ईश्वर का स्वरूप ज्ञान, उनके गुणो का ज्ञान, वेदो एव शब्दो का ज्ञान नित्य ज्ञान है। किन्तु वल्लभाचार्य जागतिक ज्ञान को पूर्णत. असत्य अथवा मिथ्या नही मानता। उनका कहना है कि प्रमा की प्रबलता होने अथवा न होने के आधार पर ही ज्ञान को सत् अथवा मिथ्या माना जा सकता है।

अचिन्त्यभेदाभेदवादी चैतन्य ने स्वय तो ज्ञान विषयक कोई दर्शन नही दिया है किन्तु उनके अनुयायी भी भक्ति एव ईश्वर के स्वरूप वर्णन पर अधिक बल देते हैं, ज्ञान मीमांसा पर कम। वे भक्ति को ही ज्ञान का एक स्वरूप मानते है। उनका मानना है कि ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान किये बिना भक्ति नहीं हो सकती।

'साक्षी' को वेदान्त दर्शन का एक विशिष्ट तत्त्व माना गया है। अद्वैत वेदान्तानुसार यह साक्षी आत्मा, अथवा ब्रह्म, ईश्वर एव जीव, इन तीनो से भिन्न है। साक्षी द्वारा प्रेरित वृत्ति ही ज्ञान है। समस्त ज्ञानों एव अनुभवो का अधिष्ठान यही साक्षी है। यद्यपि समस्त ज्ञान एव अज्ञात पदार्थ साक्षिचैतन्य के विषय है, तथापि यह स्वय का भी विषय के रूप मे ज्ञान नही कर सकता, क्योंकि यह द्रष्टा के रूप में प्रत्येक अनुभव में प्रकाशित रहता है। उपाधि भेद से अन्त करण से उपाहित साक्षी, 'जीवसाक्षी' तथा माया से उपहित साक्षी 'ईश्वरसाक्षी' कहलाता है। अविद्या की निवृत्ति होते ही ईश्वर, साक्षी एव जीव एक साथ परब्रह्म के रूप मे प्रकाशित होते है।

रामानुजाचार्य चित् तत्त्व 'आत्मा' को ही ज्ञाता मानते हैं। जो ज्ञान एव ज्ञानाश्रय है। ज्ञान केवल मनस् द्वारा अथवा-मनस् द्वारा होकर इन्द्रिय के वस्तु सन्निकर्ष से होता है, वृत्ति द्वारा नही। ज्ञान का ज्ञाता आत्मा है, न कि साक्षी।

रामानुजाचार्य की भॉति निम्बार्क मत मे भी आत्मा को शुद्ध चैतन्य एव ज्ञाता माना गया है। ज्ञान आत्मा का धर्म है। इसके लिए वृत्ति की आवश्यकता नही होती।

किन्तु द्वैतवादी मध्वाचार्य 'साक्षी' की सत्ता मानते हैं। आचार्य मध्व के अनुसार 'साक्षी' के बिना ज्ञान प्रामाणिक नही होता। साक्षी को वे ज्ञान स्वरूप एव स्व प्रकाशक कहते है। उसे ज्ञान एव उसकी प्रामाणिकता दोनो ज्ञात हो जाते है किन्तु मध्वाचार्य 'साक्षी' को इन्द्रिय मानते है, जबकि अद्वैत वेदान्त मे उसे द्रष्टा कहा जाता है जो जीव एव ईश्वर की भॉति अनिर्वाच्य 'ब्रह्म' का ही विवर्त है। शकर का 'साक्षी' अज्ञानाच्छादित ब्रह्म है, जब कि मध्व का साक्षी प्रकृति का परिणाम एक इन्द्रिय है। मध्वाचार्य आत्मा का प्रत्यक्षीकरण भी साक्षी द्वारा ही मानते है।

ज्ञान के स्वत प्रामाण्यवाद को सभी वेदान्त दार्शनिक स्वीकार करते है। ज्ञान के प्रामाण्य के निश्चय हेतु विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में भिन्न–भिन्न मतों का प्रतिपादन किया गया है। किसी भी ज्ञान के यथार्थ तथा अयथार्थ दो भेद माने गए है। इनमें से यथार्थ ज्ञान ही प्रमा है तथा उसकी कारण सामग्री प्रमाण है। प्रमाता को प्रमा के यथार्थ तथा प्रमाण के सत्यत्व की इच्छा होती है। ज्ञान के इस याथार्थ्य तथा उसके द्वारा प्रमा के सत्यत्व के निश्चय को ही 'प्रमाण' कहा जाता है। अयथार्थ ज्ञान 'अप्रमा' कहलाता है तथा उसका करण 'अप्रमाण' है। इस अप्रमात्व तथा अयथार्थ के अप्रमाणत्व को 'अप्रामाण्य' कहा जाता है।

प्रामाण्य और अप्रामाण्य पर ज्ञान तथा उत्पत्ति दो दृष्टियो से विचार किया जाता है। वेदान्त दार्शनिक मानते है कि ज्ञान का प्रमाणीकरण किसी अन्य ज्ञान से नही हो सकता, ये 'स्वत प्रमाणवादी' कहे जाते है। स्वत प्रामाण्यवाद के अनुसार प्रत्येक ज्ञान में प्रामाण्य स्वत होता है जिसका अर्थ है कि ज्ञान के कारण व उसके प्रामाण्य के कारण भिन्न–भिन्न न होकर एक ही है, अर्थात् जिन कारणों से ज्ञान ज्ञात होता है उन्हीं कारणो से उसके

प्रमाणत्व का भी ज्ञान हो जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान का, ज्ञान के साथ ही उसके प्रामाण्य का भी स्वत ही ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान की दृष्टि से स्वत· प्रामाण्यवाद है।

उत्पत्ति की दृष्टि से स्वतः प्रामाण्यवाद का अर्थ है कि जिन कारणो से ज्ञान उत्पन्न होता है उन्ही कारणो से उसमे प्रामाण्य भी उत्पन्न होता है। इस दृष्टिकोण से ज्ञान के तथा उसके प्रामाण्य के एक ही कारण होने से ज्ञान स्वत प्रमारूप ही उत्पन्न होता है।

इसके विपरीत परत प्रामाण्यवाद के अनुसार जब हमे कोई ज्ञान होता है तब उसके प्रामाण्य के बारे में कोई निश्चय नही होता। पश्चात् मे अन्य ज्ञान के द्वारा उनके प्रामाण्य का ज्ञान होता है। इस प्रकार उत्पत्ति की दृष्टि से यह मान्यता है कि ज्ञान तथा उसके प्रामाण्य की उत्पत्ति भिन्न–भिन्न कारणो से होती है।

ज्ञान की दृष्टि से स्वतः अप्रामाण्यवाद के अनुसार किसी ज्ञान के अप्रामाण्य का ज्ञान उन्हीं कारणो से होता है जिससे उस ज्ञान का ज्ञान होता है। उत्पत्ति की दृष्टि से ज्ञान तथा अप्रामाण्य के कारण एक ही होगे।

परत· अप्रामाण्य के अनुसार ज्ञान करण तथा अप्रामाण्य करण एक ही न होकर भिन्न–भिन्न होते है। स्वतः अप्रामाण्य के अनुसार प्रत्येक ज्ञान अप्रमा रूप ही ज्ञात या उत्पन्न होता है, जबकि परत· अप्रामाण्य के अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य अन्य ज्ञान से सिद्ध होता है तथा उसके करण ज्ञान के अपने करण न होकर अन्य करण होते है।

अद्वैत वेदान्त स्वत· प्रामाण्यवाद ही स्वीकार करता है। इनके अनुसार प्रत्यक्षादि छहो प्रमाणों का प्रामाण्य ही ज्ञान की सामग्री से उत्पन्न होता है। यह प्रमाण स्मृति एव अनुभव दोनों के लिए साधारण और सवादि प्रवृत्ति के लिए अनुकूल, प्रमात्व अर्थात् तदवान् पदार्थ मे तत्प्रकारक ज्ञान है। इस प्रकार स्मृति एव अनुभव दोनो मे ही व्याप्त रहने वाले प्रामाण्य का लक्षण 'तद्वति तत्प्रकारक ज्ञानत्व' है। प्रामाण्य की उत्पत्ति गुणादि सामग्री से न

होकर स्वत ही होती है अर्थात् प्रामाण्य का जनक ज्ञान जन्य सामग्री है। इसलिए अद्वैत मत मे ज्ञान स्वत प्रामाण्य ही माना गया है। इसके साथ ही प्रामाण्य की प्राप्ति एव उत्पत्ति भी स्वत ही मानी जाती है।

समस्त आस्तिक दर्शनो मे वेदो के प्रामाण्य को विश्वासपूर्वक स्वत ही माना गया है। रामानुजाचार्य भी ज्ञान के स्वत प्रामाण्य को ही स्वीकार करते है। वे मानते है ज्ञान की स्वत प्रमाणता उस अर्थ को लक्ष्य करती है जो ग्रहण किये गए विषयो से निश्चित होता है। यद्यपि स्वत. प्रमाण्य स्वीकार किये जाने पर किसी भी अनुभव के बारे मे शका नही की जा सकती, तथापि विशेष दशा मे ये भ्रम का निष्कासन नही करते।

निम्बार्क दर्शन भी स्वत प्रामाण्य ही स्वीकार करता है। वे मानते है कि पदार्थ के ज्ञान के साथ ही उसका प्रामाण्य भी स्वत ही ग्रहण हो जाता है।

मध्व दर्शन भी अन्य वेदान्त दर्शनो की भाति ही ज्ञान के स्वतः प्रमाण को स्वीकार करता है। उसके अनुसार स्वत प्रमाण्य का तात्पर्य है, 'साक्षी' द्वारा उस ज्ञान को सत्य समझना जिसे वह दोषो अथवा अन्य बाधाओ से अप्रतिरूद्ध होकर ग्रहण करे। मध्व दर्शन मे स्वत प्रमाण्य का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। मध्व स्वतः प्रामाण्य सिद्धान्त मे 'प्रामाण्य' पद का प्रयोग प्रमात्व अथवा सत्य की निश्चितता के अर्थ मे ही करते है।

प्रमाण के स्वरूप तथा प्रमाण की सख्या के विषय मे भारतीय दर्शन सम्प्रदायों मे पर्याप्त मतभेद है। नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एव शब्द इन चारो को ही स्वतन्त्र रूप से प्रमाण स्वीकार करते है।

वेदान्त सम्प्रदायों मे प्रमाण की संख्या के विषय में मुख्यत पॉच धाराएँ है–

1. शंकराचार्य का अद्वैत दर्शन छ प्रमाण स्वीकार करता है – प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि।

2. रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद मे तीन ही प्रमाण स्वीकार किये जाते है–प्रत्यक्ष, अनुमान एव शब्द।

3. निम्बार्क का द्वैताद्वैत दर्शन भी इन्ही तीन प्रमाणो को मानता है– प्रत्यक्ष, अनुमान एव शब्द।

4. मध्व सम्प्रदाय भी इन्ही तीन प्रमाणों–प्रत्यक्ष, अनुमान एव शब्द को मानता है। साथ ही अनुमान के तीन भेद स्वीकार करता है।

5. वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय मे तीन ही प्रमाण मान्य है– प्रत्यक्ष, अनुमान एव शब्द।

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त सम्प्रदाय को छोडकर शेष चारों वैष्णव सम्प्रदाय तीन ही प्रमाण स्वीकार करते है किन्तु उनमे भी प्रमाणो के स्वरूप के सम्बन्ध मे मतभेद पाए जाते है।

अपनी सुलझी हुई व्याख्याओं के कारण अद्वैत दर्शन का एक विशिष्ट स्थान है। अद्वैत दर्शन ज्ञान की उत्पत्ति के लिए छ प्रमाणो को मान्यता देता है। ये है–प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति एव अनुपलब्धि। ये समस्त प्रमाण वृत्ति ज्ञान को उत्पन्न करते हैं। वृत्ति ज्ञान, ज्ञाता एव ज्ञेय के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है।

'वेदान्त परिभाषा' मे चैतन्य तीन प्रकार का स्वीकार किया जाता है प्रमातृ चैतन्य, प्रमाण चैतन्य एवं प्रमेय चैतन्य। अन्त करण की उपाधि से अवच्छिन्न 'प्रमातृ चैतन्य', अन्त करण की वृत्ति से अवच्छिन्न 'प्रमाण चैतन्य', तथा ज्ञान के विषय से अवच्छिन्न 'विषय चैतन्य' अथवा 'प्रमेय चैतन्य' है। भारतीय दर्शन की यह सामान्य धारणा है कि वाह्य विषयो के ज्ञान की स्थिति मे अन्त करण की वृत्ति बाहर जाकर दृश्य वस्तु से सम्पर्क करती है। 'वृत्ति' का अर्थ है अन्त करण का विकार। यह वृत्ति विषय के सम्पर्क से तदाकाराकारित होकर विषय का प्रत्यक्ष आदि ज्ञान करती है। वृत्ति को ही उपचारवश 'ज्ञान' कहा जाता है।

अद्वैत वेदान्त मे प्रमाण का सामान्य लक्षण 'प्रमाकरण प्रमाणम्' किया गया है। अनधिगत, अबाधित विषयक ज्ञान प्रमा है[1] क्योकि जो ज्ञान अनधिगत है, पहले से ज्ञात नही है, वह स्मृति नही है, तथा जिस ज्ञान का बाध हो वह भी प्रमा नही है। अद्वैत वेदान्त मे स्मृति को प्रमा नही माना जाता।

अद्वैत दर्शन में ब्रह्म अथवा आत्मा ही विशुद्ध सत्ता रूप पदार्थ है जो सदैव एक रूप रहता है, उसका ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है। वही वास्तविक अर्थ मे प्रमा है। अज्ञानवश उसमे प्रतीतियॉ मान ली जाती है।

अद्वैत वेदान्त मे 'चैतन्य' को प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता है तथा प्रत्यक्ष प्रमा रूप चैतन्य 'ब्रह्म' ही है। उसकी अभिव्यक्ति अन्तकरण की वृत्ति द्वारा ही होने से चक्षुरादि इन्द्रियॉ करण प्रतीत होती है।

अद्वैत वेदान्त अनुमिति के असाधारण करण को अनुमान मानता है। प्रमाण का नाम 'अनुमान' है तथा 'प्रमा' का नाम 'अनुमिति'। अनुमिति व्याप्ति ज्ञान द्वारा होती है अतएव 'व्याप्ति ज्ञान' ही अनुमान प्रमाण है।

अद्वैतमतानुसार जिसका पदार्थ संसर्ग किसी भी अन्य प्रमाण से बाधित न होता हो, ऐसे वक्ता के तात्पर्य विषयीभूत संसर्ग के बोधक वाक्य को ही शब्द प्रमाण कहते हैं। इसे ही 'श्रुति प्रमाण' भी माना जाता है। यह ज्ञान का महत्त्वपूर्ण साधन माना जाता है। शब्द का स्वतन्त्र अस्तित्त्व वेदो के प्रामाण्य का निरूपण करने के लिए स्वीकार किया गया है।[2] वस्तुत. 'ब्रह्म' न तो प्रत्यक्ष द्वारा, न अनुमान द्वारा, न तर्क द्वारा और न ही श्रुति द्वारा जाना जा सकता है। समस्त प्रमाण आत्मपूर्वक है इसीलिए ब्रह्म अथवा आत्मा की सिद्धि प्रमाणो द्वारा नही की जा सकती। श्रुति एवं तर्क अध्यास को दूर करने

---

[1] अनधिगताबाधितार्थ विषयज्ञानत्व प्रमात्व – वे0 परि0,1

[2] शकराचार्य ने स्पष्ट कहा भी है–'प्रत्यक्षादिभि प्रमाणेन पर प्रत्याययितु शक्य, आगमेन तु शक्यते एव प्रत्यययायितुम् –शा0भा0 केन0 1/4

मे सहायता करते है। शकराचार्य निर्विशेष ज्ञान को ही आत्मा का स्वरूप मानते है, जिसमें ज्ञाता ज्ञेय में भेद नही रहता।

विशिष्टाद्वैतवादी रामानुजाचार्य ज्ञानोत्पत्ति के लिए केवल तीन ही प्रमाण स्वीकार करते हैं–प्रत्यक्ष, अनुमान एव शब्द। उनके मत मे 'स्मृति' एव प्रत्यभिज्ञा स्वतन्त्र प्रमाण नही माने गए है। वे इनका प्रत्यक्ष मे अन्तर्भाव मानते है। इसी प्रकार अद्वैत सम्मत उपमान एव अनुपलब्धि तथा अर्थापत्ति का भी अनुमान में समावेश माना जाता है। अत ज्ञान के कारण (साधन) तीन है। इनमे प्रत्यक्ष प्रमाण निर्विकल्पक एव सविकल्पक भेद से दो प्रकार का है किन्तु निर्विकल्पक प्रत्यक्ष निष्प्रकारक या निर्धर्मक ज्ञान नही, अपितु इसमे भी सविशेष वस्तु का ज्ञान होता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष किसी वस्तु का प्रथम प्रत्यक्ष होता है। वस्तु का दूसरी, तीसरी बार का प्रत्यक्ष सविकल्पक होता है। इसमे जाति धर्म के रूप में ज्ञान होता है। रामानुजाचार्य अनुमान का निरूपण न्यायमतानुसार ही करते हैं–किसी हेतु या लिग के ज्ञान से उस लिंग को धारण करने वाले लिंगी का ज्ञान अनुमान है। यह अनुमान व्याप्ति के ज्ञान पूर्वक होता है। शब्द प्रमाण मे रामानुजाचार्य ने पाचरात्र आगम को वेद के समकक्ष माना है। वे ज्ञान कर्म समुच्चयवादी है। रामानुजाचार्य योगिप्रत्यक्ष भी मानते है।

रामानुजाचार्य की भांति ही निम्बार्क सम्प्रदाय मे भी तीन ही प्रमाण स्वीकार किये गए है–प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द। इन्द्रिय एव विषय के सन्निकर्ष से जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है, जो वाह्य एव अभ्यन्तर दो प्रकार का होता है। वाह्य पदार्थों का प्रत्यक्ष इन्द्रिय सापेक्ष है तथा सुखदु.खादि आन्तरिक विषयो का इन्द्रिय निरपेक्ष है। व्याप्ति पर निर्भर ज्ञान अनुमान है। इनके अतिरिक्त एव सर्वाधिक प्रामाणिक ज्ञान श्रुति मूलक होता है।

मध्व वेदान्ती भी इन्ही तीन प्रमाणो को मानते है। किन्तु उनके अनुसार अनुमान प्रमाण तीन प्रकार का माना जाता है–कार्यानुमान, कारणानुमान, अकार्यकारणानुमान। धूम से अग्नि का अनुमान कार्यानुमान,

बादल से वर्षा का अनुमान कारणानुमान, रस, रस रूप का अनुमान करता है यह अकार्यकारणानुमान है। माध्व मत में दो प्रकार की व्याप्ति तथा दो प्रकार के उदाहरण का निराकरण किया जाता है। ये प्रत्यक्ष प्रमाण को सर्वाधिक प्रामाणिक एवं निश्चयात्मक मानते है। निर्दोष इन्द्रियो से वस्तु के सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष कहा जाता है। प्रमाता की स्वरूपेन्द्रिय अन्त प्रज्ञात्मक शक्ति साक्षी कहलाती है। यह साक्षी ही सदैव इन्द्रिय निरीक्षणो के विषय ज्ञान को सत्य ज्ञात करने में समर्थ होती है। यह प्रत्यक्ष ईश्वर एव योगीजनो मे भी होता है, परन्तु वह आत्मगत एवं व्यक्तिगत दोनो रूपो मे तथ्यो के अनुरूप होता है। मध्वाचार्य वेदो को स्वतन्त्र ज्ञान से युक्त अपौरूषेय मानते है।

वल्लभ मतावलम्बी भी प्रत्यक्ष, अनुमान एव शब्द ये तीन ही प्रमाण मानते है। वे अज्ञात वस्तु का बोध कराने वाले साधन को प्रमाण कहते है।[1] लौकिक व्यवहार मे प्रयुक्त शब्द ही प्रत्यक्ष मूलक होते है, वैदिक नही। लोक से अज्ञात ब्रह्म अन्य प्रमाणों का विषय नही हो सकता, अत· वेदात्मक शब्द ही ब्रह्म विषय के बोधक होने से सर्वाधिक प्रमाणिक हैं। अनुमान एव तर्क की गति उस विषय में बिल्कुल नहीं है। वल्लभानुयायी मानते है कि जिस ज्ञान का साधन अन्य ज्ञान हो उसे अनुमान कहते हैं।[2] व्याप्ति ज्ञान के माध्यम से होने वाला ज्ञान अनुमान है। वह 'केवल व्यतिरेकी' तथा 'अन्वय व्यतिरेकी' ही होता है। उपमान का प्रत्यक्ष मे ही अन्तर्भाव माना गया है। अर्थापत्ति प्रमाण प्रत्यक्ष तथा शब्द का अनुग्राहक मात्र है, प्रमाण नही। अनुपलब्धि प्रमाण भी अभाव के ज्ञान में साधन न होने से वल्लभमतानुसार मान्य नहीं है।

सभी वेदान्त दर्शनों का मुख्य लक्ष्य है मोक्ष प्राप्ति अर्थात् बह्म का साक्षात्कार। शंकराचार्य के अनुसार अपरोक्षानुभूति ही ब्रह्म का साक्षात्कार करा सकती है। बह्म ज्ञाता है, वह ज्ञेय नहीं है कि उसका ज्ञान किसी अन्य प्रमाण द्वारा हो सके। उसके भीतर साध्य मूल्य न होकर साधन मूल्य ही है।

---

[1] अनधिगतार्थ गन्तृत्वात्प्रमाणस्य – अणुभाष्य 1/1/2।
[2] ज्ञान कमणक ज्ञानमनुमिति – प्रस्थान, रत्नाकर, पृ0138।

स्वानुभूति के अतिरिक्त जिनती भी प्रमाएँ है उनका कार्य, ब्रह्म साक्षात्कार कराना नही, अपितु अविद्या इत्यादि भेदो की निवृत्ति करना है। अन्य प्रमाणो की अपेक्षा श्रुति ज्ञान द्वारा अनुभव के अधिक निकट आया जा सकता है। अन्तत. शकराचार्य मानते हैं कि सभी ज्ञानो का लक्ष्य अनुभव ही है।

वस्तुत. सभी वेदान्त दर्शनो का मानना है कि प्रमाणो की अपेक्षा श्रुति ज्ञान अनुभव के अधिक निकट लाते है। प्रत्यक्ष, अनुमान एव श्रुति इत्यादि प्रमाणो का कार्य मात्र इतना ही है कि वे यह स्पष्ट करे कि आत्मा अनात्म वस्तुओ से बिल्कुल पृथक है।

अनादि, अनन्त, नैसिर्गिक अध्यास अथवा सन्ताप को दूर करना ही श्रुति आदि प्रमाणो का कार्य है। आत्मज्ञान को प्राप्त करने की अपेक्षा अनात्म बुद्धि की निवृत्ति मे ही वे प्रमाण समर्थ है। वस्तुत. भारतीय दर्शन मे ज्ञानमीमासा का विवेचन तत्त्वमीमासा के ही परिप्रेक्ष्य मे किया जाता है। शकराचार्य को छोड़कर समस्त वैष्णव वेदान्ताचार्यो ने सर्वोच्च लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन 'भक्ति' को माना है, तथापि यह भक्ति ज्ञानमिश्रा ही होती है। किसी मे भेदमूलक तो किसी मे ज्ञानमूलक। शकराचार्य ही मात्र ऐसे वेदान्ती है जो ब्रह्म की प्राप्ति का साधन 'ज्ञान' को मानते है। किन्तु उनका यह 'ब्रह्म–ज्ञान' पारमार्थिक और अपरोक्षानुभूत है, तथा प्रमाणो को साधन मानने वाला ज्ञान व्यावहारिक।

ज्ञानमीमासा की दृष्टि से चैतन्य महाप्रभु के अचिन्त्यभेदाभेदवाद मे ऐसा कुछ भी प्राप्त नही है जो अपना विशेषत्व रखता हो। यद्यपि श्री चैतन्य ने केवल कृष्ण भक्ति का ही नाम–संकीर्तन रूप मे प्रणयन किया था, तथापि जीवगोस्वामी तथा बलदेव विघाभूषण ने उनके उपदेशो के आधार पर चैतन्य मत को दार्शनिक रूप दिया। इस सम्प्रदाय के मतावलम्बी रामानुजाचार्य एव मध्वाचार्य के मतो से पूर्णत प्रभावित है, तथा इन्ही की भॉति जगत् को यथार्थ मानते है। 'भक्ति' द्वारा कृष्ण के प्रति प्रेम का विकास करके दैवीय शक्ति द्वारा अन्तर्ज्ञान हो सकता है। इस प्रेम का शाश्वत अनुभव ही 'मोक्ष'

है। ये 'भक्ति' को 'ज्ञान' की अपेक्षा श्रेष्ठ मानते है तथा इसी कारण इस सम्प्रदाय मे ज्ञानमीमासा पर बल नही दिया गया।

सभी वेदान्त सम्प्रदायों का इस विषय मे मानना है कि ज्ञान के ये सभी साधन तभी तक प्रमाणिक है, जब तक कि परम सत्य की प्राप्ति नही हो जाती।

संदर्भ-ग्रन्थ-सूची

अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका — डा. जगदीश सहाय श्रीवास्तव

अणु भाष्य, भाग I एव II — वल्लभाचार्य, विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

अणु भाष्य — वल्लभाचार्य (हिन्दी टीका सहित) निम्बार्काचार्य पीठ, इलाहाबाद

अपरोक्षानुभूतिः — शंकराचार्य : अनु. डा० कमला देवी, अक्षयवट प्रकाशन, 26 बलरापुर हाउस, इलाहाबाद

अद्वैत सिद्धि — मधुसूदन सरस्वती, बलभद्री व्याख्या स० अनन्त कृष्ण शास्त्री, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई

आगम प्रामाण्य — यामुनाचार्य

अद्वैत वेदान्त — राममूर्ति शर्मा

अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय — भाग I एव II डा० दीन दयाल गुप्त हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

आधुनिक दर्शन की भूमिका — प्रो० सगम लाल पाण्डेय

ईशावास्योपनिषद — शाकर भाष्य; गीता प्रेस, गोरखपुर

खण्डनखण्डखाद्य — श्री हर्ष मिश्र; हिन्दी अनुवाद सहित स० चण्डी प्रसार सुकुल, अच्युतत कार्यालय, वाराणसी

खण्डनखण्डखाद्य टीका (चित्सुखी) – चित्सुखाचार्य, बनारस (1928)

गद्यत्रय – रामानुजाचार्य

गोविन्द भाष्य – बलदेव विद्या भूषण

चैतन्य चरितामृत – कृष्ण दास कविराज

चैतन्य चरितावली – प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

चित् प्रकरण – तत्त्व त्रय पर वरवर की टीका

छान्दोऽयोपनिषद् – गीता प्रेस, गोरखपुर

तैत्तिरियोपनिषद् – शाकर भाष्य एव रामानुज भाष्य गीता प्रेस, गोरखपुर

तत्त्वार्थ दीप निबन्धम् – वल्लभाचार्य : अनु० श्री केदार नाथ मिश्र, भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी

तत्वार्थदीपनिबन्धम् (शास्त्रार्थ प्रकरण)– वल्लभाचार्य

तत्वत्रय –लोकाचार्य, (हिन्दी व्याख्या) शिवप्रसाद द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन केन्द्र बाराबंकी, फैजाबाद

तत्त्व रत्नाकर – भट्टारक गुरू

तात्पर्य चन्द्रिका – व्यास तीर्थ (तत्व प्रकाशिका व्याख्या)

तर्क ताण्डव – व्यासतीर्थ

तत्त्व मुक्ताकलाप – विद्यारण्य

तत्व प्रदीपिका — चित्सुखाचार्य· निर्णय सागर प्रेस, बम्बई (नयन प्रसादिनी व्याख्या सहित)

तत्व प्रदीपिका — हिन्दी अनु० स्वामी योगीन्द्र नाथ, वाराणसी

तर्क भाषा — विश्वेश्वराचार्य

तत्व चिन्तामणि — मध्वाचार्यः मथुरानाथ की टीका सहित

जयतीर्थ विजय — प्रमाण पद्धति पर टीका

निम्बार्क वेदान्त (वेदान्त पारिजात सौरभम्) —निम्बार्काचार्य· हिन्दी व्याख्या श्री ललित कृष्ण गोस्वामी महाराज निम्बार्काचार्य मठ महाजनी टोला, इलाहाबाद

न्याय सुधा (अनुव्याख्यान टीका) — जयतीर्थ

नैष्कर्म्य सिद्धि — सुरेश्वराचार्य, ज्ञानोत्तम कृत चन्द्रिका सहित, स० एम० हिरियन्ना, बम्बई (1925)

न्यायामृत — व्यासतीर्थ

नारद पॉचरात्र

नारद भक्ति सूत्र — नारद

न्याय सूत्र — गौतम — वास्यायन भाष्य ओरियन्टल सिरीज, पूना

न्याय कुलिश — रामानुजाचार्य (वादि हंसाम्बुहाचार्य)

न्याय वितरण — मध्वाचार्य

न्याय परिशुद्धि — वेकटनाथ (चौखम्बा सस्करण)

न्याय सार — (न्याय परिशुद्धि की टीका) श्री निवास

नयद्युमणि — मेघनादारि

न्याय मंजरी

पत्रावलम्बन — वल्लभाचार्य

पचपादिका —पद्मपादाचार्यः शारीरक भाष्य वृत्ति, स० रामशास्त्री, विजयनगरम् सीरीज बनारस

पचपादिक विवरण — प्रकाशत्मयति सं० श्री राम शास्त्री विजय नगरम् सीरीज, बनारस

परपक्षगिरिवज्र — माधव मुकुन्द

पूर्णप्रज्ञ भाष्य — मध्वाचार्य; सं० जीवानन्द विद्यासागर कलकत्ता

पंचदशी — विद्यारण्य स्वामी

पद्मपुराण — पाताल खण्ड

पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद — वल्लभाचार्य; निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

प्रमाण समुच्चय

प्रमाण लक्षण — मध्वाचार्य

प्रमाण पद्धति	– जयतीर्थ
प्रकरण पञ्चिका	– आचार्य वरद नारायण
प्रमेय कमल मार्तण्ड	– जैन ग्रन्थ
प्रस्थान रत्नाकर	– गोस्वामी श्री पुरूषोत्तम महाराज चौखम्बा सस्कृत बुक डिपो, बनारस
प्रमाण मीमासा	
प्रमेय संग्रह	– विष्णु चित्त
ब्रह्म सूत्र शाकर भाष्य	– सत्यानन्दी दीपिका, गोबिन्द मठ, टेढी नीम, वाराणसी
ब्रह्म वैवर्त पुराण, कृष्ण खण्ड	
ब्रह्म सूत्र अनुभाष्य	– मध्वाचार्य
भामती	–वाचस्पति मिश्र (शारीरक भाष्य व्याख्या), कल्पतरू एवं परिमल व्याख्या सहित, स० अनन्तकृष्ण शास्त्री निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
भक्ति मार्तण्ड	–गोपेश्वर जी महाराज, चौखम्बा सस्कृत पुस्तकालय, वाराणसी
भारतीय दर्शन – भाग I एवं II	–डा० एस० राधाकृष्णन (हिन्दी अनु०–गोयन्दका), राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली
भारतीय दर्शन	– डा० नन्द किशोर देवराज

भारतीय दर्शन — डा० बी० एन० सिंह

भारतीय दर्शन — आचार्य बलदेव उपाध्याय, द्वितीय सस्करण, वाराणसी

भारतीय दर्शन की रूपरेखा — एम० हिरियन्ना, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली

भारतीय दर्शन का इतिहास भाग I, III एव IV — एस० एन० दास गुप्ता (अनु० ए० यू० बासवाडा) , राजस्थान ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

भारतीय दर्शन की रूपरेखा — प्रो० हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, स० मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली

भारतीय दर्शन : आलोचन और अनुशीलन — चन्द्र धर शर्मा , सं० मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

भविष्य पुराण

श्रीमद् भगवत् गीता भाष्य — मध्वाचार्य, गीता प्रेस, गोरखपुर

श्रीमद् भगवत् गीता भाष्य — रामानुजाचार्य; गीता प्रेस, गोरखपुर

श्रीमद् भगवत्गीता शाकर भाष्य — (अनु० गोयन्दका)—गोविन्द भवन कार्यालय, गीता प्रेस, गोरखपुर

श्रीमद् भागवत्

मायावाद एव रामानुज — डा० विजय प्रताप सिह

मध्वसिद्धान्तसार

मध्व सिद्धान्त कणिका

मुण्डकोपनिषद

माण्डूक्योपनिषद कारिका एव शाकर भाष्य — शकराचार्य, गीता प्रेस गोरखपुर

यतीन्द्रमतदीपिका — श्री निवास

युक्ति मल्लिका

रामानुज सिद्धान्त सार — रग रामानुज मुनि

रामानुज सिद्धान्त सग्रह — श्री निवास राधवदास

श्री वल्लभाचार्य — एम० सी० पारिख

वेदान्त परिभाषा — धर्मराजाध्वरीन्द्र

वेदान्त सग्रह — सदानन्द योगीन्द्र

वेदान्त सार — सदानन्द्र योगीन्द्र (अद्वैत परक ग्रन्थ)

वेदान्त सार — रामानुजाचार्य (विशिष्टाद्वैतपरक ग्रन्थ) विद्याविलास,वाराणसी

वेदार्थ पारिजात

वेदार्थ संग्रह —रामानुजाचार्य,सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

विवरण प्रमेय सग्रह

वेदान्त सिद्धान्त सार सग्रह कारिका

विष्णु तत्व निर्णय — मध्वाचार्य

वेदान्त कौस्तुभ	– (वेदान्तपरिजातसौरभम् पर टीका) श्री निवास (निम्बार्काचार्य के शिष्य)
विद्वन्मण्डनम्	– विठ्ठलनाथ, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई एव श्रीवल्लभ पब्लिकेशन्स दिल्ली
श्वेताश्वरतरोपनिषद	
षड् सदर्भ	– जीव गोस्वामी
शतदूषणी	– वेंकट नाथ अथवा वेदान्त देशिक
सांख्य तत्त्व कारिका	– ईश्वरकृष्ण, हिन्दी टीका 'कौमुदी' आचार्य आद्याप्रसाद मिश्र, इलाहाबाद
सिद्धि त्रय	– यामुनाचार्य
सुबोधिनी (टीकासाहित)	– वल्लभाचार्य
सिद्धान्त जाह्नवी	– पुरूषोत्तम देवाचार्य
सर्व दर्शन सग्रह	– मध्वाचार्य
सिद्धान्त मुक्तावली	– वल्लभाचार्य, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
सुबोधिनी प्रकाश	– पुरूषोत्तमाचार्य
महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य एवं पुष्टि मार्ग	– आचार्य पं० सीताराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य कुटीर, वाराणसी
आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन	– डा० राज लक्ष्मी वर्मा, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
कांट एवं शकर के दर्शन मे द्वन्द्व न्याय का एक आलोचनात्मक अध्ययन	– डा० मीरा मालवीया, दर्शनविभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

शकराचार्य के ज्ञान सिद्धान्त का विश्लेषणात्मक अध्ययन	– शिखा चौहान, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
विशिष्टाद्वैत और विशुद्धाद्वैत में तत्व मीमांसा का तुलनात्मक अध्ययन	– रश्मि सिंह, संस्कृत विभाग,इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
पद्रहवी शताब्दी तक के वैष्णव आचार्यो की भक्तिविषयक सधारणा	– शैलजा पाण्डेय, सस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
अद्वैत वेदान्त में प्रमाण मीमासा	– रजतचन्द्र श्रीवास्तव, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय
आचार्य रामानुज के आविर्भाव के पूर्व विशिष्टाद्वैत वेदान्त का समीक्षात्मक अध्ययन	– शिवाकान्त द्विवेदी, सस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
A Critical Survey of the Philosophy of Ramanuja	– Anima Sen Gupta चौखम्भा सस्कृत सीरीज वाराणसी
Metaphysics of Advaita	– G.R. Malkani
Introduction to Advaita Philosophy	– Kokileshver
Indian Philosophy, Part I & II	– Dr. S. Radhakrishnan
Six Systems of Indian Philosophy	– Max Muller
Sankar Vedenta	– Pd. Ganga Nath Jha, University of Allahabad.

Sir Vallabhacharya & His Doctrins – Prof G.H. Batta, श्री वल्लभ पब्लिकेशन्स, बडौदा

The System of Vedenta – Paul Deussen

The Schools of Vedenta Part I & II – Roma Chaudhuri

The Philosophy of Vallabhacharya – Mrudula I. Marfatia, मुशीराम मनोहरलाल, दिल्ली

The Six ways of Knowledge - D. K. Dutta

Nature and Destiny of out In Indian Philosophy – G. Sunder Rammyya. Andra Univanty Press, Vishakhapattanam

Vedanta: The Culmination of Indian Thought – Bharti Vidya Bhavan, Bombay.

Vaisnavism, Shaivism and Minor Religious Sects – R.G Bhandarkar